प्रकाशक

हिन्दी-साहित्य-कुटीर

७ हाथीगली, बनारस।

मुद्रक—दुर्गादत्त त्रिपाठी,

सन्मार्ग प्रेस,

टाउनहाल, बनारस।

निवेदन

इस पुस्तक में अपने साहित्य के प्रायः सौ वर्षों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। भारतेन्दु तथा द्विवेदी काल के अनेक लेखकों के विषय में 'अन्तिम बात' कही जा सकती थी। पर जो प्रतिभा-सम्पन्न कवि अभी कार्य कर रहे हैं उनकी विशेषताओं का कुछ परिचय ही दिया जा सकता था। अतः नवीन काल में आये हुए लेखकों तथा कवियों के विषय में प्रकट किये गये विचार परिचयात्मक ही समझे जायँगे, निर्णयात्मक नहीं। पुस्तक का उद्देश्य सब लेखकों तथा कवियों की नामावली प्रस्तुत करने का न था। अनेक लेखकों के नाम—जिनमें बहुत से प्रतिभा-सम्पन्न होंगे —असावधानी या भूल से छूट गए होंगे। उनसे सिर्फ क्षमा-प्रार्थना के और मैं कर ही क्या सकता हूँ।

पूज्य पण्डित रामचन्द्र जी शुक्ल ने लिखा है—"वर्तमान लेखकों और कवियों के संबंध में कुछ लिखना अपने सिर एक बला मोल लेना ही समझ पड़ता था।" जब शुक्ल जी ऐसे प्रौढ़ लेखक के लिए यह बला मोल लेना है तो मेरे ऐसे साधारण व्यक्ति के लिए तो महामारी को निमंत्रण देने के समान होगा। पर अब तो जो होना था, हो चुका। हाँ, मुझे अपनी छोटाई का कुछ बल है। कौन ऐसे-ऐसो पर निगाह डालेगा? सबको सन्तुष्ट करना कहाँ सम्भव है? इतना मै बड़ी नम्रता से कहना चाहूँगा कि यदि किसी के प्रति अन्याय हुआ हो अथवा किसी की योग्यता को मैं पूर्णरूप से न समझ पाया होऊँ तो इसके लिए मेरा मस्तिष्क ही उत्तरदायी है, हृदय नहीं।

पुस्तक के लिखने में पूज्य पण्डित रामचन्द्र जी शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' से मुझे बहुत सहायता मिली है; पर न मैंने कभी पूज्य पिता जी को धन्यवाद देकर अशिष्टता की, न पूज्य गुरु जी को धन्यवाद देने की धृष्टता कर सकता हूँ।

यदि यह पुस्तक पाठकों को आधुनिस हिन्दी-साहित्य का कुछ भी परिचय देने में समर्थ हुई तो मैं अपने थोड़े से परिश्रम को सफल समझूँगा।

"इस कार्य में मुझसे जो भूलें हुई हैं उनके सुधार की, जो त्रुटियाँ रह गई है उनकी पूर्ति की, और जो अपराध बन पड़े हैं उनकी क्षमा की पूरी आशा करके ही मैं अपने श्रम से कुछ सन्तोष लाभ कर सकता हूँ।

कृष्णशङ्कर शुक्ल

टेढ़ीनीम, काशी
होलीकोत्सव १९९२,

परिचय

इधर देखादेखी हिन्दी-साहित्य के कई इतिहास निकले और सम्भव है कुछ और भी निकलनेवाले हों। पर, सच पूछिए तो, अब आवश्यकता इस बात की है कि किसी एक विशेष काल को लेकर विस्तृत रूप से अनुसन्धान और विचार किया जाय तथा उसके अन्तर्गत जो कुछ कार्य्य हुआ है वह सुव्यवस्थित रूप में सामने लाया जाय। मेरे लिए यह कितने हर्ष की बात है कि इस कार्य्य की ओर मेरे प्रिय और अध्यवसायी शिष्य पं० कृष्णशंकर शुक्ल एम० ए० बढ़े जो 'केशव की काव्य-कला' लिखकर अपनी सहृदयता और काव्य-मर्मज्ञता का पूरा परिचय साहित्य-प्रेमियों को दे चुके हैं। इन्होंने हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल के भीतर जो कुछ छान-बीन की है, कवियों और लेखकों की कृतियों के जो स्वरूपलक्षण स्थिर किए हैं तथा जिन जिन विशेषताओं और प्रवृत्तियों का उद्घाटन किया है, सब का समावेश इस पुस्तक के भीतर है।

हिन्दी-साहित्य का आधुनिक काल सब से अधिक वैचित्र्यपूर्ण है, क्योंकि इसका प्रवर्त्तन नूतन सभ्यता की हलचल के साथ साथ हुआ है। देश की प्राचीन विचारधारा के साथ नूतन विचारधारा का संगम जब से हुआ तब से साहित्य के क्षेत्र में न जाने कितने रूप-रंग देखने में आ रहे हैं। उन सब को लक्ष्य करते हुए अपने साहित्य के दिन दिन बढ़ते हुए भंडार का साफ़ लेखा रख लेना बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि ज्यों ज्यों अधिक काल बीतता जायगा त्यों त्यों इसके लिए सामग्री मिलना भी कठिन हो जायगा और बातें भी नज़र से दूर पड़ती जायँगी। इन सब बातों का विचार करके पं० कृष्णशंकर जी के इस प्रकाण्ड प्रयत्न का मुझे विशेष गर्व है और मैं यह आशा करता हूँ कि वे आज कल की दलादली से दूर रह कर इसी प्रकार अपने साहित्य की गति-विधि का सावधानी के साथ निरीक्षण करते रहेंगे।

दुर्गाकुंड; काशी
१४—४—१९३४

रामचन्द्र शुक्ल

सूची

खड़ी बोली

(पृष्ठ ९२ से ३८७ तक)

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास

पूर्वपीठिका

निर्मल जल के पुष्कर में तट के वृक्ष आदि प्रतिबिंबित होते हैं। पर शैवाल, रजकण आदि से आच्छादित जल प्रतिबिंब ग्रहण नहीं करता। इसी प्रकार सजीव साहित्य में समाज की भावनाओं, कल्पनाओं, विचारों, अकांक्षाओं आदि का प्रतिबिंब अवश्य पड़ता है। यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिए कि वह साहित्य वैयक्तिक है, जनता का प्रतिनिधि नहीं। उसमें समाज नहीं है, वह समाज का नहीं है। साहित्यिक इतिहास समाज में प्रचलित भावनाओं के साथ साहित्यिक विचार-धारा का समन्वय प्रस्तुत करता है और जहाँ ऐसा समन्वय नहीं होता वहाँ इतिहास का कार्य यह निर्देश करना होता है कि किसी समय विशेष के साहित्य पर लोक में प्रचलित भावनाओं का प्रतिबिंब क्यों नहीं पड़ा। यद्यपि आलंकारिक रूप में साहित्य का उपमान पुष्कर कहा गया है, परंतु सत्यता की रक्षा और साम्य में अधिक एकरूपता लाने के लिए यदि उसे निर्मल जल की सरिता कहा जाय तो अधिक समीचीन हो। साहित्य, सरिता की धारा की भाँति प्रवाहित होता रहता है, वह बँधे हुए पुष्कर सा नहीं होता।

अब साहित्य के इतिहास के अध्ययन का प्रश्न सामने आता है। किसी विशेष काल का इतिहास खंड-खंड करके प्रस्तुत करना यह मान

लेने के समान है कि इन अवयवों में कोई संबद्ध शृंखला नहीं है, परंतु वास्तव में ऐसा नहीं होता। साहित्य का प्रत्येक काल पूर्व की स्थितियों का ऐसा विकसित रूप है जो उसे अन्य परिस्थितियों में क्रीड़ा करने से प्राप्त हुआ है। विकसित रूप कभी-कभी ऐसा भिन्न सा प्रतीत होता है कि पहचाना भी नहीं जाता, परंतु इस भिन्नता के अन्तर्गत भी एक संबंध-सूत्र अक्षुण्ण रूप से लगा चला आता है; इसके अध्ययन की परंपरा को बनाए रखना आवश्यक होता है। यही पूर्वपीठिका की आवश्यकता है।

वीर गाथा काल

(सं० १००० से १३७५ तक)

सम्राट् हर्षवर्धन के पश्चात् भारत से केन्द्रीय शासन की भावना लुप्त हो गई थी। पश्चिम में राजपूतों के अभ्युदय के दिन थे। दिल्ली, कन्नौज अजमेर आदि राजधानियाँ पश्चिम में ही प्रतिष्ठित थीं। शक्तिशाली केन्द्रीय शासन न रहने से राजपूत-राज्यों में वैमनस्य बना ही रहता था। यह वैमनस्य परिस्थितियों की प्रेरणा से युद्धों में परिवर्त्तित हो जाया करता था। आत्मगौरव ने आत्माभिमान का रूप धारण कर लिया था। दंभ और दर्प बढ़ रहा था। कभी-कभी तो राजपूत नरेश जरा-जरा सी बातों में अपना अपमान समझ लेते थे। ये सब परिस्थितियाँ युद्ध को अनिवार्य बना देती थीं। आपस में आए दिन युद्ध होते ही रहते थे। मुसलमानों की चढ़ाइयाँ भी होने लगी थीं। उनके अवरोध की भी आवश्यकता पड़ती थी। सारांश यह कि उस समय पश्चिम भारत में चतुर्दिक तलवारों की खपाखप ही सुनाई देती थी। कवियों को भी अपने काव्यों के लिए सामयिक विषय ही चुनने पड़ते थे। यह हमारे साहित्य का प्रारंभिक काल था। विषय के अनुसार हम इसको 'वीर गाथा काल' कह सकते हैं। इन युद्धों को हम दो भागों में बाँट सकते है। राज्यों के पारस्परिक युद्ध तथा पश्चिम से आक्रमण करनेवाले मुसलमानों के साथ अवरोधात्मक युद्ध। मुसलमानों से मोरचा लेने के लिए प्रायः दिल्ली-नरेश को ही अग्रसर होना पड़ता था। संपूर्ण देश को एक समझने की भावना न

होने के कारण राजपूत-राज्य एक होकर बाहरी शत्रुओं से जमकर लोहा न ले सके। इन अवरोधात्मक युद्धों में मातृभूमि की मर्यादा रक्षा से धर्म का अधिक ध्यान रखा जाता था। आगंतुक अन्य धर्म के हैं, अतः उनसे युद्ध करना चाहिए, यह भावना कुछ अधिक दिखाई पड़ती थी। यहीं पर पारस्परिक युद्धों के कारणों का विचार भी कर लेना चाहिए। राज्य-विस्तार की इच्छा से राजपूत-राज्यों में युद्ध नहीं होते थे। युद्ध का कारण प्रायः कुमारियाँ होती थीं। कन्यादान को राजपूत बड़ी हेठी समझते थे। किसी राज्य ने विवाह का प्रस्ताव किया और उसका राज्य-वंश कुलीनता के विकट सिद्धांतों के अनुसार उच्च न ठहरा तो युद्ध होना अनिवार्य था। युद्धों के कारण प्रायः विवाह होते थे। कभी-कभी तो विवाहमंडप में भी तलवारें चल जाती थीं। कन्याओं के विवाह होते अवश्य थे, पर कुलीनता के कल्पित गौरव के कारण पहले तलवार चलाना आवश्यक सा हो जाता था। कुछ युद्ध देश की रक्षा के विचार से भी हुए। परंतु देश की भावना परिस्थितियों की विचित्रता के कारण उतनी जम नहीं पाती थी। एक धर्म एवं तीर्थ स्थानों के समस्त देश में फैले रहने के कारण देश में एक प्रकार का एकत्व तो था, पर यह एकत्व मातृ-भूमि प्रेम की उत्साह-वर्द्धक कोटि तक नहीं पहुँचता था। राजपूत लोग अपने छोटे-छोटे राज्यों को ही मातृभूमि समझ बैठे थे। एक ओर धार्मिक एकता एक सूत्र में बाँधने का असफल प्रयत्न करती थी, दूसरी ओर संकुचित मातृभूमि-प्रेम की भावना तथा कुलाभिमान आदि प्रवृत्तियाँ देशव्यापी एकता की स्थापना नहीं होने देती थीं।

इस समय के काव्य दो रूपों में मिलते हैं। एक मुक्तक रचना के रूप में, दूसरे प्रबंध-काव्यों के रूप में। प्रबंध-काव्यों में पीछे से प्रक्षिप्त अंश इतनी अधिक मात्रा में मिला दिए गये कि मूल रूप का पता लगना ही कठिन हो गया। परंतु फिर भी यह मान लेने के कारण अवश्य हैं कि उनमें से कुछ में कुछ-न-कुछ मूल का अंश अवश्य है। वीर रस के मुक्तकों की परंपरा अपभ्रंश-काल से चली आ रही थी। परन्तु इस काल के विषय मे ऐसा न समझ लेना चाहिए कि काव्य का विषय केवल युद्ध था।

प्रथम तो इन युद्धों का मूल कारण कुमारियाँ ही होती थीं, जहाँ नहीं होती थीं वहाँ उनकी कल्पना कर ली जाती थी, दूसरे शृंगार रस की परंपरा पहले ही से चली आ रही थी, जो बराबर चलती रही। यह शृंगार प्रायः विप्रलंभ होता था। नायक युद्ध-क्षेत्र में गया है, नायिका घर पर बैठी उसके लिए शुभ कामना कर रही है। अपभ्रंश-काल ही से नीति के पद्यों की भी परंपरा चली आती थी जो युद्ध के इस कोलाहल में क्षीण तो अवश्य हो गए परंतु मिट नहीं पाई। इस समय के काव्यों के विषय में भी कुछ विचार कर लेना चाहिए।

खुमानरासो—यह दलपति विजय नामक किसी कवि की रचना मानी जाती है। इस समय इस रासो की जो प्रति प्राप्त है वह अपूर्ण है और उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। यह पिछला अंश अवश्य क्षेपक है। ऐसा भी हो सकता है कि यह ग्रंथ जितना प्राचीन बताया जाता है उतना प्राचीन न हो; राणा प्रताप के पश्चात् ही इसकी रचना हुई हो। चित्तौड़ में 'खुमान' नाम के तीन राजा हुए। इतिहासज्ञों का अनुमान है कि ग्रंथ में जिस खुमान का वर्णन है वह दूसरा था, उसका समय संवत् ८७० से ६०० तक बताया जाता है।

बीसलदेवरासो—यह नरपति नाल्ह नामक कवि की रचना है। इसका रचना-काल ग्रंथ में संवत् १२१२ दिया गया है। इसमें भोज परमार की पुत्री राजमति से बीसलदेव का विवाह होने का वर्णन है परंतु परमार राजा भोज का विवाह बीसलदेव से सौ वर्ष पहले ही हो चुका था। इस विवाह की कवि ने कल्पना ही कर ली है। पुस्तक की भाषा भी बेठिकाने है। प्रान्तीय भाषा का प्रभाव अधिक है। पं० गौरी-शंकर हीराचंद ओझा ने इसे हम्मीर के समय की रचना माना है। इसमें वीर रस की कोई बात नहीं आई। शृंगार का पुट अवश्य है। ऐसी अवस्था में इसे वीर काव्य मानना अनावश्यक ही है।

पृथ्वीराजरासो—पृथ्वीराज का समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दि माना जाता है। रासो का रचयिता पृथ्वीराज का समकालीन माना

जाता है। अतः पुस्तक का रचना-काल भी वही ठहरता है। पं० गौरी-शंकर हीराचंद ओझा ने इस पुस्तक को इतिहास की कसौटी पर कस कर जाली ठहराया है। इसमें आई हुई घटनाएँ प्राप्त शिलालेखों के आधार पर प्रस्तुत किए गए ऐतिहासिक वर्णन के अनुकूल नहीं उतरतीं। भाषा की कसौटी पर भी कसने से हम इस पुस्तक के विषय में किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाते। इसमें संदेह नहीं कि इसमें हिन्दी भाषा के बहुत प्राचीन काल के रूप मिलते हैं पर इसमें साहित्य के मध्य काल में प्रचलित भाषा के भी प्रयोग हैं। कोई भी कवि अपने समय से आगे आनेवाली भाषा में रचना नहीं कर सकता। प्राचीन काल के स्वरूपों को देखकर भी कोई निर्णय नहीं किया जा सकता। प्राचीन काल में प्रचलित भाषा में रचना कर लेना संभव है। आज कल भी राजपूताने में ऐसे भाट मिलते हैं जो रासो की भाषा में रचनाएँ करते हैं। इन सब बातों के होते हुए भी यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि इस ग्रंथ के बृहदाकार के अंतर्गत मूल ग्रंथ का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य है।

जयचंदप्रकाश तथा जयमयंकजसचंद्रिका—ये क्रमशः भट्टकेदार तथा मधुकर कवि की रचनाएँ मानी जाती हैं। परंतु ये ग्रंथ अब तक उपलब्ध नहीं हैं।

आल्हा—महोबे में विक्रम की तेरहवीं शताब्दि के पूर्वार्द्ध में आल्हा, ऊदल नाम के दो वीर हुए थे। इनकी कथा कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ के जगनिक नामक कवि ने लिखी है। इसका देश में बहुत प्रचार हुआ। लिखित रूप में न होने से लोगों के गाते-गाते इसमें इतने परिवर्तन तथा परिवर्द्धन हुए कि मूल रूप ही नष्ट हो गया। आज कल आल्हा नाम की पुस्तक में प्राचीनता का कोई चिह्न नहीं मिलता। इसे हम जगनिक के काव्य की गूँज कह सकते हैं। फर्रुखाबाद के कलेक्टर मि० चार्ल्स इलियट ने पहले-पहल इन गीतों का संग्रह ८५ वर्ष पूर्व छपवाया था।

विजयपालरासो इस पुस्तक में नल्लसिंह भट्ट नामक किसी कवि ने संवत् १३५५ के आस पास करौली के राजा के युद्धों का वर्णन किया है।

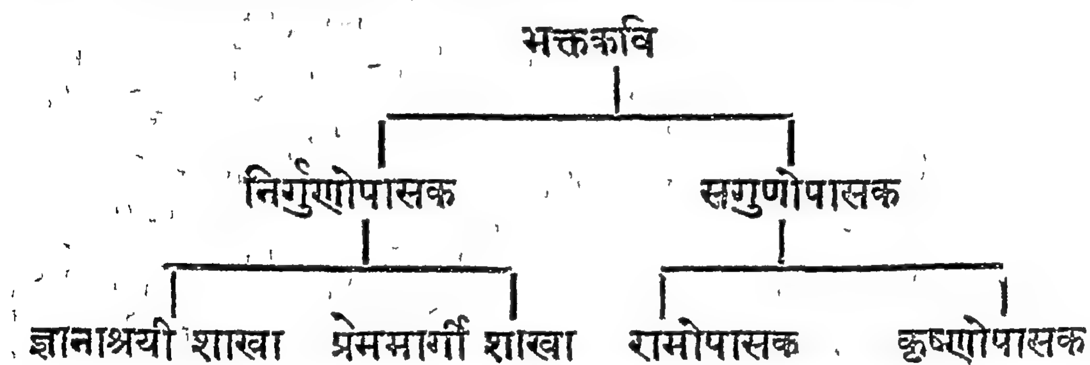
वीर गाथाओं की परंपरा समाप्त होते-होते मुसलमान देश में जम गए थे। केंद्र में मुसलमानी शासन स्थापित हो जाने से राजपूतों को आपस में लड़ने का अवसर न रहा। एक होकर मुसलमानों को भी वे न रोक सके। मुसलमान शासकों से युद्ध अवश्य होते रहते थे परंतु देश के दुर्भाग्य से एकता न होने के कारण एक-एक करके हिन्दू राजा पराजित होते जाते थे। पराजयों की यह परंपरा वीर काव्यों के लिए उपयुक्त विषय नहीं हो सकती थी। क्रमशः वीर काव्यों की रचनाओं में शिथिलता आने लगी। देश में कुछ भिन्न परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं। उनका काव्य पर प्रभाव पड़ने से काव्य के विषय भी बदलने लगे। काव्य में एक बार गृहीत विषय की परंपरा में शिथिलता तो अवश्य आ जाती है परंतु आगे चल कर उसके दर्शन अवश्य होते रहते हैं। इसी नियम के अनुसार मुसलमानी शासन के कारण वीर गाथाओं में शिथिलता अवश्य आई पर समय-समय पर वीर काव्यों की रचना होती ही रही। जिस प्रकार एक मास के पश्चात् दूसरा मास प्रारंभ हो जाता है उसी प्रकार साहित्य के इतिहास में एक काल के पश्चात् दूसरा काल नहीं प्रारंभ होता। किसी काल विशेष की प्रवृत्तियाँ परिस्थितियों के प्रतिघात से किसी आगे आनेवाले भिन्न युग की परिस्थितियों के रूप में परिवर्त्तित हो जाती हैं। इस परिवर्तन के लिए यह आवश्यक नहीं कि अतीत काल की प्रवृत्तियों का अस्तित्व ही मिट जाय। किसी काल-विशेष की प्रवृत्तियाँ जब विशेष रूप से लक्षित होने लगती हैं तो उस काल का नवीन नामकरण होता है। परंतु फिर भी पिछले काल की साहित्यिक धाराएँ पतली तथा क्षीण होते हुए भी प्रवाहित होती रहती हैं।

भक्ति काल

(सं० १३७५ से १७०० तक)

मुसलमानों के साम्राज्य की प्रतिष्ठा से हिन्दुओं के हृदय का वीरोल्लास क्षीण होने लगा। एक पराजय के पश्चात् दूसरी पराजय की शृङ्खला

चली। देश में शून्यता सी छा गई। अपनी प्रतिष्ठा खो देने पर हिंदू आत्मविश्वास भी खोने लगे। इससे लोक के प्रति उनके हृदय में उपेक्षा के भाव जागने लगे। लोगों का ध्यान भगवान् की ओर जाने लगा। यहीं से 'भक्ति काल' का प्रारंभ हुआ। हम भक्त कवियों को दो विभागों में विभाजित कर सकते हैं। निर्गुण की उपासना करनेवाले भक्त तथा सगुणोपासक भक्त। निर्गुण धारा के भी दो स्पष्ट विभाग हैं—ज्ञानाश्रयी शाखा तथा प्रेममार्गी शाखा। सगुण के उपासकों के भी दो विभाग हो सकते हैं। राम का आश्रय ग्रहण कर भक्ति के उद्गार प्रकट करनेवाले कवि तथा कृष्ण का आश्रय ग्रहण करनेवाले कवि।



भक्त कवियों के दोनों प्रमुख विभागों [निर्गुणोपासक तथा सगुणोपासक] को भिन्न भिन्न मार्गों तथा परिस्थितियों से प्रेरणा प्राप्त हुई। इन दोनों के बीच में सामान्य रूप से रहनेवाली बात केवल यह थी कि देश में फैली हुई उदासी तथा जीवन के प्रति वैराग्य ने भक्ति के पनपने के लिए क्षेत्र खाली कर दिया था। अब यह देखना है कि भक्ति की इन दोनों प्रमुख धाराओं को किधर से तथा कैसी प्रेरणा प्राप्त हुई।

निर्गुण धारा

मुसलमान इस देश में केवल राज्य ही स्थापन के लिए नहीं आए थे। नवीन धर्म का उत्साह भी उनके हृदय में भरा हुआ था। राज्य-प्रतिष्ठा के साथ-साथ वे अपने धार्मिक साम्राज्य का विस्तार भी करना चाहते थे। धर्म का यह प्रचार उपदेशों द्वारा कम होता था। प्रत्युत कुछ ऐसे प्रकार से धर्म-प्रचार की चेष्टा अधिक की जाती थी

जिससे विजेता तथा विजितों के बीच का पार्थक्य विस्तृत होता जाता था। मुसलमानों के धर्म में उदारता, क्षमा, दया आदि उच्च सिद्धांत हैं तो अवश्य; पर जोशीले प्रचारक धर्म के बाह्य विधानों को अधिक महत्त्व देते थे। उधर हिंदू लोग भी धर्म की आत्मा के पालन के प्रयत्न में अधिक उद्योगशील न होकर ऊपरी आडंबरों तथा कर्मकांड को अधिक महत्त्व देने लगे थे। दोनों समाजों की ये प्रवृत्तियाँ तथा भावनाएँ ऐसी थीं जिनसे परस्पर का विश्वास तथा प्रेम उत्पन्न नहीं होने पाता था। इस समय ऐसे प्रचारकों की आवश्यकता थी जो धर्म के उन वास्तविक तत्त्वों को जो सब धर्मों में किसी न किसी रूप में पाए ही जाते हैं, प्रत्यक्ष कर दिखाएँ। इस कार्य को संपन्न करने के लिए संत कवियों की परंपरा चली। इन संत कवियों में कबीरदास सबसे प्रथम उपदेशक हुए। इन्होंने हिंदुओं तथा मुसलमानों को फटकार कर धर्म के मिथ्या आवरणों की ओर से उनका ध्यान हटाने का प्रयत्न किया। इनका आचरण तथा प्रतिभा ऐसी थी कि मन में कुछ बुरा मानते हुए भी लोग इनकी बातों को सिर नीचा कर सुन लेते थे। अवतार, मूर्त्तिपूजा, बहुदेवोपासना आदि का खंडन करने के साथ ही ये मुसलमानों की कुर्बानी, नमाज़ आदि का भी खंडन करते थे। तात्पर्य यह कि इनका लक्ष्य हिंदू तथा मुसलमान धर्म के बीच एक साधारण धर्म की प्रतिष्ठा की ओर था जिससे परस्पर का वैमनस्य दूर हो जाय और जनता भगवान की ओर उन्मुख हो। इन संतों में भी कई पंथ ए। जैसे नानक-पंथ, दादू-पंथ, आदि कुछ थोड़ी-थोड़ी सी पृथकताओं के होते हुए भी इन सब पंथों में सामान्य रूप से सिद्धांत प्रायः एक ही प्रकार के पाये जाते हैं। इनकी रचनाओं में सरस काव्यों की सी मार्मिकता कम पाई जाती है, पर ये अपनी वाणी से बातों का कथन ऐसी प्रौढ़ता और सत्यता से करते थे कि इनका प्रभाव लोगों पर अधिक पड़ता था। अपने उद्देश्य में भी ये लोग बहुत कुछ सफल हुए। दोनों धर्मों के माननेवालों को इस बात का स्पष्ट विश्वास हो गया कि वास्तव में हम सब एक ही जगदीश की उपासना करते हैं। कबीर आदि संतों की भाषा मिली-जुली होती थी। इनकी

भाषा में खड़ी बोली, अवधी तथा ब्रज-भाषा तीनों का योग पाया जाता है। 'नागरीप्रचारिणी-सभा काशी' द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रंथावली' की भाषा पर पंजाबी बोली का भी प्रभाव पड़ा है। इन कवियों की भाषा साहित्यिक नहीं होती थी। इनका लक्ष्य काव्य-रचना नहीं था; जनता में अपने धर्म का प्रचार करना था। ऐसी अवस्था में इनके लिए यह अनिवार्य था कि ये लोक में प्रचलित भाषा में ही अपने उपदेश दें। विस्तृत धर्म-प्रचार को लक्ष्य में रखकर भगवान् बुद्धदेव ने भी लोकभाषा (पाली) का आश्रय ग्रहण किया था। इन संतों में से सुंदरदास की रचना साहित्य कोटि की होती थी। इनका 'सुंदर-विलास' ग्रंथ जिसमें कवित्त, सवैया आदि छंदों का अधिक प्रयोग हुआ है, अधिक प्रसिद्ध है। मलूकदास, अक्षरअनन्य, पलटूदास, तुलसीदास आदि अनेक संत कवि हुए और इन्होंने अनेक संप्रदायों की स्थापना की। यह परम्परा अभी तक चली आ रही है। आजकल का 'राधास्वामी-संप्रदाय' इसी परंपरा का एक रूप है। इन संत कवियों के द्वारा वास्तव में लोक का बहुत कुछ उपकार हुआ। निम्न श्रेणी के लोगों में आत्मविश्वास की भावना जागरित करने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। परंतु अप्रत्यक्ष रूप से वर्णाश्रम धर्म को इनके द्वारा कुछ क्षति भी पहुँची। अनेक संत कवियों ने वैदिक धर्म के विधान का रहस्य न समझ उसका खंडन करना प्रारंभ कर दिया। इससे लौकिक विधान के पालन में शिथिलता आने लगी। लोग दो चार साखियाँ बनाकर अपने को परमज्ञानी समझने लगे। उनके अनुकरण पर और भी अनेक अकर्मण्य लोगों ने ज्ञान का चोला पहनना प्रारंभ किया। मलूकदास आदि के उपदेशों से आलसियों की संख्या भी बढ़ने लगी। आज कल भी ऐसे लोग जिनसे कुछ करते धरते नहीं बनता, उच्च स्वर में मलूकदास का यह मंत्र जपते हुए सुनाई पड़ते हैं।

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम॥

ये संत कवि निर्गुणोपासक कहे जाते हैं। इसका कारण यही है कि ये लोग अव्यक्त सत्ता की उपासना करते है। इनके इस विषय के

सिद्धान्तों में तार्किक स्पष्टता तथा प्रौढ़ता नहीं मिलती। ये कभी तो भारतीय ब्रह्मवाद की ओर झुकते थे कभी पैगंबरी एकेश्वरवाद की ओर। कबीर आदि एक-आध कवियों में कुछ रहस्योन्मुख संकेत भी पाए जाते हैं।

निर्गुण कवियों की दूसरी प्रेममार्गीशाखा सूफी कवियों की है। ये लोग खंडन-मंडन से अलग रहकर प्रेममय ईश्वर का साक्षात्कार कराने में लगे रहते थे। अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए ये लौकिक आख्यायिकाओं का आश्रय ग्रहण करते थे। इस प्रतीकात्मक शैली पर इनके द्वारा ईश्वर और जीव के पारस्परिक प्रेम की बड़ी सुंदर व्यंजना हुई है। वैष्णव संप्रदाय की माधुर्य भाव की उपासना से इनकी उपासना-पद्धति बहुत कुछ मिल जाती है। मोटा भेद यही लक्षित होता है कि वैष्णव ब्रह्म की उपासना पतिरूप में करते हैं तथा सूफी प्रियतमा के रूप में। इन सूफियों के काव्य में अलौकिक माधुर्य छलकता हुआ दिखाई देता है। प्रेम के मार्मिक प्रस्ताव के द्वारा दोनों धर्मों के भावुक हृदयों को इन कवियों ने इतना आर्द्र कर दिया कि पारस्परिक वैमनस्य की संभावना क्रमशः क्षीण होने लगी और जिन लोगों पर इन सूफियों के काव्यों का निकट का प्रभाव पड़ा उनके हृदयों में पारस्परिक प्रेम, उदारता आदि भव्य भावनाओं की सृष्टि हुई।

इन सूफी कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। इन्होंने अपने पद्मावत नामक काव्य में मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती इन चार पुस्तकों का उल्लेख किया है। इनमें से अभी तक केवल दो—मृगावती तथा मधुमालती—का पता चला है। मृगावती की रचना संवत् १५५८ में कुतबन नामक कवि ने की। मधुमालती का रचयिता मंझन नामक कवि था। जायसी ने अपने काव्य के लिए लोक में प्रसिद्ध पद्मावती का कथानक चुना। इस ऐतिहासिक आधार पर कल्पना का भी सुंदर प्रासाद खड़ा किया गया। इस ग्रंथ का पूर्वार्द्ध कल्पित है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर आश्रित। जायसी ने लौकिक प्रेम के द्वारा ईश्वर-जीव के प्रेम की बड़ी सुन्दर, सुकुमार एवं

मार्मिक व्यंजना की है। इसमें लोक-पक्ष की भी उपेक्षा नहीं की गई है। पातिव्रत आदि धर्मों का बहुत ही आकर्षक स्वरूप इसमें चित्रित किया गया है। प्रेम के दोनों पक्षों, संयोग तथा वियोग का बहुत ही काव्योचित चित्रण हुआ है। ग्रंथ के अंत में कवि ने यह लिख दिया है कि यह संपूर्ण कथा एक रूपक है। इस प्रकार की कहानियों की परंपरा भी चली। इन कवियों की भाषा अवधी है। जहाँगीर के समय में उसमान कवि ने चित्रावली नामक पुस्तक की रचना की। यह भी जायसी की ही शैली पर लिखी गई है। शेख नबी आदि और भी अनेक कवि इस परंपरा में हुए।

इन दोनों प्रकार के निर्गुणवादियों के विषय में हम कह सकते हैं कि इनको यह प्रेरणा बहुत कुछ मुसलमान धर्म से प्राप्त हुई थी। संतों की खंडनात्मक प्रवृत्ति पर तथा प्रेम मार्गी कवियों की विचारधारा पर उस धर्म की छाप प्रत्यक्ष लक्षित होती है। इसके विपरीत सगुणोपासक कवियों के विषय में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उन्हें भारतवर्ष की ही परिस्थितियों से प्रेरणा प्राप्त हुई थी और उनकी उपासना-पद्धति परंपरा से चले आते हुए भारतीय विचारों का ही विकसित रूप थी।

सगुण धारा

शंकराचार्य ने बौद्धों के अव्यावहारिक दार्शनिक सिद्धांतों का वेदांत के द्वारा खंडन कर, ब्रह्म की व्यावहारिक सगुणोपासना को स्वीकृत किया था। पर भक्ति का आधार तब तक दृढ़ नहीं हो सकता जब तक माया में लिप्त जीव को ब्रह्म से पृथक् न मान लिया जाय तथा उपासना के लिए परम आवश्यक सेवक-सेव्य-भाव की स्थापना न हो ले। यह बात वैष्णव आचार्यों द्वारा पूरी हुई। रामानुजाचार्य ने भागवत आदि ग्रंथों के आधार पर जिस 'नारायणी' धर्म की प्रतिष्ठा की वह लोक के अधिक अनुकूल पड़ा। नारायण की लोकरक्षण प्रवृत्ति तथा धर्मस्थापनार्थ अवतार लेने की भावना ने लोगों को अधिक आकृष्ट किया। वैष्णव धर्म

की यह निर्मल पावन धारा विंध्यपर्वत की दुर्भेद्य मालाओं को पार कर उत्तर भारत तक प्रवाहित हुई। स्वामी रामानंद जी ने भगवान् के मर्यादामय रामरूप को अधिक लोकोपयुक्त समझा तथा वैष्णव धर्म की कठोर विधियों को कुछ शिथिल कर, अधिक से अधिक लोगों के कल्याण पर ध्यान रख, एक स्वतंत्र संप्रदाय की स्थापना की। इसी के आधार पर रामभक्त कवियों की वह धारा चली जिसमें तुलसीदास आदि कवि हुए। श्री वल्लभाचार्यजी ने (जन्म संवत् १५३५-गोलोकवास १५८७) अपना एक स्वतंत्र संप्रदाय चलाया जिसमें व्यास-सूत्रों के आधार पर शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की गई। उपासना के लिए इन्होंने कृष्ण के लीलामय मधुर रूप को सामने रखा। इनके द्वारा कृष्ण भक्त कवियों की धारा चली, जिसमें सूरदास आदि अष्ट छाप के प्रसिद्ध कवि तथा और भी अनेक भक्त जन हुए। संक्षेप में इन दोनों धाराओं पर पृथक् पृथक् भी विचार कर लेना चाहिए।

रामभक्ति शाखा

स्वामी रामानंद जी के द्वारा प्रचारित सीताराम की भक्ति का प्रवाह चल पड़ा। भक्त लोग भावोद्रेक में रचनाएँ करने लगे। इस धारा में सबसे प्रसिद्ध तथा यशस्वी कवि गोस्वामी तुलसीदास जी हुए। इनका जन्म काल संवत् १५८९ में माना जाता है। इन्होंने छोटे बड़े १२ ग्रंथ बनाए जिनमें से रामचरितमानस, विनयपत्रिका, गीतावली, कवितावली, दोहावली आदि का अधिक प्रचार हुआ। उस समय साहित्य में दो भाषाओं का उपयोग होता था, व्रजभाषा तथा अवधी। गोस्वामी जी का दोनों भाषाओं पर प्रौढ़ अधिकार था। रामचरितमानस आदि ग्रंथों की रचना इन्होंने साहित्यिक अवधी में की, जिसमें संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली का भी बहुत कुछ प्रभाव है। गीतावली आदि ग्रंथों की रचना अत्यत मधुर व्रजभाषा में की गई है। विनयपत्रिका के आरंभ में संस्कृत शब्दों की ओर जैसा झुकाव दिखाई पड़ता है वैसा गीतावली में नहीं पाया जाता। जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल आदि ग्रन्थों की रचना

ठेठ अवधी भाषा में हुई। फिर भी यह भाषा जायसी की भाषा से बहुत कुछ भिन्न ही रही। प्रबंध-काव्य तथा मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाओं में इन्हें अद्भुत सफलता मिली। पद्य के स्वरूप की कई शैलियाँ हमारे साहित्य में पहले से प्रचलित थीं जिनमें मुख्य ये थीं—

(क) वीर गाथा काल की छप्पयवाली पद्धति,
(ख) विद्यापति एवं सूरदास आदि भक्त कवियों की गीतावली पद्धति,
(ग) गंग आदि भाटों की कवित्त, सवैया वाली पद्धति,
(घ) संत कवियों की दोहा वाली पद्धति,
(ङ) प्रेममार्गी कवियों की दोहे-चौपाई वाली पद्धति,

गोस्वामीजी की विशेषता इस बात में है कि इन्होंने इन सभी प्रणालियों के अनुसार रचनाएँ कीं और सब में बड़ी प्रौढ़ता से निर्वाह किया। (इसके अतिरिक्त उन्होंने एक-आध नई शैली की भी उद्भावना की। जैसे—बरवै रामायण की पद्धति।) अलंकारों आदि के विधान के विषय में यह कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी अनावश्यक कृत्रिम अप्रस्तुत विधान के पक्ष में नहीं थे। बड़ी स्वाभाविकता तथा सरसता से भावव्यंजना में योग देते हुए अलंकार आए हैं। इनकी भावव्यंजना के विषय में यह कहा जा सकता है कि जितने भावों तथा सहकारी भावों तक इनके सुकुमार काव्य-हृदय की पहुँच थी उतने तक हिन्दी भाषा के बहुत कम कवियों की हुई होगी। यह तो भाव विस्तार की बात हुई। अब यह पूछा जा सकता है कि इनके भावों में गंभीरता कहाँ तक है ? जब भावों का चित्रण ऐसे प्रकार से होता है कि पाठक या श्रोता अपने भिन्न भिन्न संकुचित क्षेत्र की अनुभूतियों से ऊपर उठ एक लोकोत्तर भावधारा में अवगाहन करने लगे तो हम यह कह सकते हैं कि कवि द्वारा अंकित भावों में बहुत गंभीरता है। तुलसी में हम यही विशेषता पाते हैं। रामायण में अंकित प्रेम, शोक, उत्साह क्रोध, घृणा इत्यादि भावों में पाठक इतने मग्न हो जाते हैं कि वे अपने को भूल ही जाते हैं। एक ओर भगवान् के विवाहोत्सव में वे आनंद मग्न हो नाच उठते हैं तो दूसरी ओर राम के वन-निर्वासन के समय हम उन्हें आँसू बहाते पाते हैं। जब

रावण सीताहरण आदि कुकृत्यों से राम का अपकार करने को तुल जाता है तो पाठकों के हृदय में उसके प्रति क्रोध भभक उठता है। भगवान् की लोकमंगल तथा लोककल्याण के संस्थापक के रूप में ऐसे कौशल से प्रतिष्ठा हुई है कि पाठक राम के साथ एक अद्भुत आत्मीयता का अनुभव करने लगता है तथा राम के शत्रुओं के प्रति उसके हृदय में स्वाभाविक क्रोध उत्पन्न हो जाता है। शक्ति, शील और सौन्दर्य समन्वित भगवान् के रूप की प्रतिष्ठा कर गोस्वामी जी ने लोक का बहुत उपकार किया। उन विपत्ति के दिनों में सिर पर मँडराती हुई तीक्ष्ण तलवारों की छाया में यदि हिंदू जाति किसी प्रकार अपने को जीवित रख सकी तो भगवान् रामचन्द्र का ही मुँह देख कर। इस आश्रय को ग्रहण कर गिरती हुई हिंदू जनता फिर अकड़ कर खड़ी हो गई। जीवन में फिर सरसता आने लगी। जिन जिन महापुरुषों ने उस समय हिंदुओं की रक्षा करने का प्रयत्न किया, उन्हें जनता ने राम-रूप मे देखा। पहले यदि चारों ओर जनता को रावण ही दिखाई पड़ते थे, तो अब दसो दिशाओं में राम भी दिखाई पड़ने लगे। रामायण की यह जीवनदायिनी धारा पूर्व से प्रवाहित होकर पश्चिम तक गई। विशाल नगरों के वाहर झोपड़ियों में रहनेवाले कृषकों तक ने इसे अपनाया। एक बार उत्तरापथ रामामृत से तृप्त हो गया।

स्वामी अग्रदास, नाभादास, प्राणचन्द चौहान आदि और भी अनेक कवि इस धारा में हुए, किंतु गोस्वामी जी की प्रतिभा को कोई न पा सका। यह रामभक्ति की धारा आगे चलकर कुछ पतली तो अवश्य हुई पर एक दम शुष्क कभी नहीं हो पाई। १६ वीं और २० वीं शताब्दि में वावा रामचरण दास, बाबा रघुनाथ दास, महाराज रघुराजसिंह ने राम-कथा गाई तथा आधुनिक काल में भी रामचरितचिंतामणि, साकेत आदि ग्रंथ रामचरित्र-गान के लिए प्रस्तुत किए गए।

कृष्ण भक्ति शाखा

कृष्ण के उपासक कवियों ने अपने काव्य के लिए भगवान् के शैशव-काल तथा यौवन-काल की क्रीड़ाओं को चुना। वात्सल्य रस तथा शृंगार

रस ही उनके काव्य के मुख्य विषय हुए। कृष्ण-चरित्र के बहुमुखी प्रयत्नों में वास्तव में सब रसों की सामग्री मिल जाती है। एक ओर यशोदा के आँगन में क्रीड़ा करते हुए कृष्ण हमारे हृदय में वात्सल्य भाव जगाते हैं, दूसरी ओर कंस का अंग-भंग करते हुए अपने को वज्र से भी कठोर सिद्ध करते हैं। जिन कृष्ण को एक बार गोपियों के प्रणय-कलह निपटाने से अवकाश नहीं मिलता था उन्हीं को कुरुक्षेत्र के मैदान में कठिन से कठिन राजनीतिक समस्याओं को सुलझाते पाते हैं। जो एक ओर राधा के मान-कलह से क्षुब्ध हो जाते थे वे ही दूसरी ओर रणांगन में गीता के अनासक्तियोग का उपदेश देते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसे व्यक्ति के चरित्र में किस रस का आश्रय नहीं मिल सकता? पर हिंदी के किसी भी कवि का ध्यान कृष्ण के चरित्र की इस व्यापकता की ओर न गया। कृष्ण भक्त कवियों में सूरदासजी का स्थान बड़े महत्व का है। इनका जन्म-काल संवत् १५४० के लगभग माना जाता है। इन्होंने 'सूर-सागर' में कृष्ण की कथा का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। लोग कहते हैं कि सूरसागर में सवा लाख पद थे। पर अबतक लगभग आठ हजार पदों का ही पता लग सका है। सूरदासजी ने अपने लिए भगवान् के जिन स्वरूपों को चुना था उन पर आश्रित वात्सल्य तथा शृङ्गार रस की बहुत ही सुन्दर तथा विशद व्यंजना की है। सूरदासजी ने गोपी-कृष्ण के संयोग शृङ्गार तथा विप्रलंभ का वर्णन करते समय न जाने प्रेम-जगत की कितनी वृत्तियों तथा अनुभूतियों का उद्घाटन किया है। विप्रलंभ का जैसा वर्णन सूरसागर में मिलता है वैसा हिंदी क्या संभवतः संसार की किसी भी भाषा में न मिल सकेगा। कृष्ण की बालक्रीड़ा का वर्णन करते समय भी सूर ने वास्तव में 'कलम तोड़ दी'। बालकों की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों का वर्णन बड़ी सजीवता तथा सहृदयता से किया गया है। कवि की दृष्टि बालकों की बाल्य-क्रीड़ाओं के चित्रण तथा हृदय की वृत्तियों के उद्घाटन, दोनों ओर थी।

श्री वल्लभाचार्यजी के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने उस समय के सर्वश्रेष्ठ आठ कवियों को चुनकर अष्टछाप की प्रतिष्ठा की जिसमें ये कवि

रीति काल

(संवत् १७०० से १६०० तक)

भक्ति काल की प्रवृत्तियों, विशेषताओं आदि का विवेचन करते समय प्रसंगानुसार यह भी कहा जा चुका है कि कुछ कवियों ने लक्षण-ग्रंथों के निर्माण की ओर भी ध्यान दिया था। उनमें केशवदास जी मुख्य थे। केशवदास जी ने रीति-ग्रंथों की प्रणाली की प्रतिष्ठा बड़ी प्रौढ़ता से की पर रीति-ग्रंथों का अटूट क्रम उनके पचास वर्ष पीछे चला। संवत् १७०० के आस-पास चिन्तामणि त्रिपाठी के काव्य-विवेक, कवि-कुल-कल्पतरु और काव्य-प्रकाश ग्रंथों की रचना से इस काल का प्रारंभ होता है। रीति के अनुसार रचनाएँ प्रचुर मात्रा में होने लगीं परंतु पहले से चली आती हुई भक्त कवियों की धारा अवरुद्ध नहीं हुई। भक्ति ही क्यों, और भी प्राचीन काल के अनुरूप, वीर रस की कविताएँ भी इस काल में होती रहीं और व्रजभाषा साहित्य के दो सर्वश्रेष्ठ वीर रस के कवियों का उद्भव भी इसी काल में हुआ। इस अन्य-अन्य विषयों को ग्रहण कर काव्यो-पासना करनेवाले कवियों का वर्णन आगे चल कर इसी प्रकरण के अंत में संक्षेप में किया जायगा। अभी उन्हीं कवियों का वर्णन होगा जिनकी कृतियों के कारण इस काल का नामकरण हुआ।

लक्ष्य-ग्रंथों के बहुत दिनों पश्चात् लक्षण-ग्रंथों के दिन आते हैं। आचार्य-गण अपने साहित्य की विशेषताओं को परख कर लक्षण बनाया करते हैं, जिनके द्वारा सदसत् काव्य का विवेचन किया जा सके तथा आगे आने-वाले कवियों की सहायता के लिए कुछ सामग्री प्रस्तुत हो जाय। पर हिंदी साहित्य में न तो इसकी आवश्यकता ही पड़ी और न कवियों को इतने दिनों तक ठहरना ही पड़ा। हिंदी-साहित्य को स्वतंत्र रूप से विकसित होने का कभी अवसर ही नहीं मिला। संस्कृत के उच्च साहित्य से यह सदा प्रभावित होता आया है। यह अच्छा भी हुआ और बुरा भी। बिना परिश्रम के संस्कृत का खुला खजाना हिंदीवालों के हाथ लग गया। फिर वे परिश्रम क्यों करते? पर संस्कृत के प्रभाव से इनकी स्वतंत्र उद्भावना

शक्ति कुंठित हो गई। यही अवस्था रीति-ग्रंथों के प्रणयन में हुई। संस्कृत के आचार्यों की रस, अलंकार आदि विषयों की पुस्तकें हिंदीवालों के सामने थीं। बहुत से कवियों ने तो उन्हीं पुस्तकों के अनुवाद, छायानुवाद, भाषानुवाद, अनुवादाभास प्रस्तुत किए और कुछ ने उसी ढाँचे पर स्वयं कुछ रचनाएँ कीं। इन पुस्तकों के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि रस एवं अलंकार ऐसे गंभीर विषयों का वैज्ञानिक विश्लेषात्मक तार्किक विवेचन प्रस्तुत करना उनका लक्ष्य ही न था। लक्षणों में ऐसी पूर्णता नहीं होती थी कि उनसे पाठकों को विषय हृदयंगम करने में सहायता मिले। ऐसे ग्रंथों के लिए यह परम आवश्यक होता है कि लक्षणों और उदाहरणों का भरपूर समन्वय दिखाया जाय। दुर्भाग्यवश इन ग्रंथ-कर्त्ताओं ने ऐसा नहीं किया। इनमें से कुछ के ग्रंथों को देखने से पता लगता है कि विषय पर उनका स्वयं पूर्ण अधिकार नहीं था। ऐसों में केशवदास ऐसे पंडित भी हैं। अलंकारों का तत्त्व वास्तव में किस प्रकार की उक्तियों में है इसे बहुत कम लोगों ने समझ पाया। प्रधान अलंकारों का तात्पर्य व्यंजना में होता है। यह संभव है कि सब प्रकार की कवायद पूरी कर देने पर भी अभिप्रेत अलंकार की प्रतिष्ठा न हो सके। इस प्रकार के भ्रमों से वे ही सिद्धहस्त विद्वान् बच सकते हैं जिन्होंने अलंकारों तथा भावव्यंजना के पारस्परिक संबंध के महत्व को समझ लिया है। रीति-काल के बहुत से कवियों के उदाहरणों में अनिवार्य रूप से आवश्यक उस व्यंजना की स्थापना न होने पाई जो अप्रस्तुत विधान की सांकेतिकता का महत्व का अंग ही नहीं है वास्तव में उसका प्राण है, जिसके बिना अलंकारोंप्रकरण व्यर्थ हो जाते हैं।

अब रस-विषय की पुस्तकों पर भी विचार कर लेना चाहिए। इन पुस्तकों में रस का काव्य से क्या संबंध है, भाव तथा रस परस्पर क्या संबंध रखते हैं, भावाभास, रसाभास, इत्यादि क्या है, इन विषयों का विवेचन ही नहीं हुआ। रसों की स्थापना काव्य में किस प्रकार से होती है, व्यंजना-शक्ति से इसमें कहाँ तक सहायता पहुँचती है, इन सब विषयों को छोड़ ही दिया गया। विभाव अनुभाव और संचारियों का रस-निष्पत्ति

में कहाँ तक संबंध है; रस की स्थापना पाठक, कवि, श्रोता, अभिनेता में से किसमें होती है आदि महत्वपूर्ण विषयों का कुछ भी विवेचन न हुआ। रसों में भी शृंगार रस को ही महत्व दिया गया: अन्य रस या तो छोड़ ही दिए गए या यों ही चलते कर दिए गए। संयोग-शृंगार वियोग-शृंगार नायक, नायिका-भेद, दूतीकर्म, दर्शन, सात्विक, व्यभिचारी, मान, मान-मोचन, सखी-कर्म इत्यादि का वर्णन बड़े विस्तार से हुआ। इन वर्णनों में बहुत बातें कामशास्त्र की भी आ गई हैं जिनकी ऐसी पुस्तकों में कुछ भी आवश्यकता न थी। शृंगार रस का आलंबन नायिका है अतः स्वरूप-वर्णन की नखशिख वाली परिपाटी का अत्यधिक प्रचार हुआ। उद्दीपन विभाव के अंतर्गत आनेवाले षट्ऋतु, बारहमासा आदि के वर्णन में भी कवियों की वृत्ति बहुत रमी। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों की एक-दम उपेक्षा कर दी गई दृश्य-काव्य के ऊपर तो विचार ही नहीं किया गया। देव, भिखारीदास आदि कवियों ने इन शब्द शक्तियो का जो भ्रमपूर्ण विवेचन किया है उसको देखते तो यही कहना पड़ता है कि यदि ये लोग इन विषयों पर न लिखते तो अत्युत्तम हुआ होता। इन सब बातों के अतिरिक्त इन लोगों के समक्ष भाषा की भी कठिनाई थी। ब्रजभाषा में माधुर्य्यादि सब गुण हैं पर सूक्ष्म विषयों के विवेचन के उपयुक्त विकास कभी नहीं हो पाया। इस कठिनाई के कारण भी कवि लोग अपने विषयों का परिष्कृत एवं प्रांजल रूप में विवेचन नहीं कर पाते थे। ब्रजभाषा में गद्य का विकास हुआ ही नहीं और ऐसे विषयों के विवेचन के लिए गद्य ही अधिक उपयुक्त पड़ता है। संस्कृत में भी इन विषयो की विस्तृत व्याख्या गद्य में ही की गई है। इन सब बातों को देखते हुए हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि आचार्य ऐसे महत्त्वपूर्ण पद के उपयुक्त प्रौढ़ता, गंभीरता तथा योग्यता रीति-काल के किसी भी कवि में न थी। यहाँ संक्षेप में रीति के अनुसार रचना करनेवालों का परिचय दिया जाता है।

चिंतामणि त्रिपाठी—(जन्म संवत् १६६६ के लगभग) इनका कविता काल संवत् १७०० के आस-पास माना जाता है। इनके काव्य-

विवेक, कवि-कुल-कल्पतरु आदि ग्रन्थों का ऊपर उल्लेख हो चुका है। इनकी भाषा शुद्ध, मधुर तथा विषयोपयुक्त होती थी। अनुप्रास आदि शब्दालंकारों की ओर भी इनकी प्रवृत्ति थी।

महाराज जशवंतसिंह—ये संवत् १६९५ में मारवाड़ की गद्दी पर बैठे थे। इनका अलंकार विषय का भाषा-भूषण ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। यह एक प्रकार से 'चंद्रालोक' का अनुवाद ही है।

बिहारीलाल—इनका जन्म संवत् १६६० के आस-पास माना जाता है। शृंगारी कवियों में इनका स्थान बहुत महत्व का है। दोहे ऐसे अल्पकायिक छंद में इतना अर्थ-गांभीर्य भरने से बहुत कम कवि सफल हुए हैं। अलंकारों इत्यादि की भी योजना ऐसी सफाई से की गई है कि कृत्रिमता नहीं आने पाई। इनकी कुछ अतिशयोक्तियों में अस्वाभाविकता अवश्य आई है परंतु ऐसा बहुत कम स्थलों में हुआ है। कहीं कहीं इनके भावों को स्पष्ट करने के लिए बड़ी क्लिष्ट कल्पना से काम लेना पड़ता है। परंतु इस कल्पना का सूत्र रीति की परिपाटी से परिचित लोगों को सरलता से मिल जाता है। शृंगार-रस के अतिरिक्त इनकी सतसई में नीति, भक्ति आदि के भी दोहे आए हैं। बिहारी के दोहों का लोक में बहुत प्रचार है। इन दोहों पर आर्या-सप्तशती तथा गाथा-सप्तशती का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उस समय के प्रायः कवियों की भाषा में हम शब्दों के स्वरूपों की अस्थिरता पाते हैं। बिहारी की भाषा में यह दोष नहीं है। इनकी भाषा साँचे में ढली हुई सी प्रतीत होती है। जिस प्रणाली पर वे चले हैं उसका निर्वाह आद्योपांत किया है। यद्यपि इन्होंने रीति-शास्त्र पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है, पर अपनी रचना द्वारा इस काल का भरपूर प्रतिनिधित्व किया है।

मतिराम—इनका जन्म संवत् १६७४ के लगभग माना जाता है। ये परंपरा से भूषण के भाई माने जाते हैं। इनके रीति विषयक रसराज और ललित-ललाम ग्रन्थों का प्रचार है। इनके उदाहरण बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। इनकी भाषा प्रवाहयुक्त है।

भूषण—इनका जन्म संवत् १६७० के लगभग माना जाता है। इन्होंने उस काल के अनुरूप 'शिवराज-भूषण' नामक अलंकार ग्रन्थ की रचना की है। इनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार शिवा-बावनी, छत्रसाल-दशक आदि ग्रंथ हैं। इन्होंने वीर-रस के उपयुक्त बहुत ही ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग किया है।

कुलपति मिश्र—इनका रचना-काल संवत् १७०० के आसपास माना जाता है। ये बिहारी के भाँजे माने जाते हैं। ये जयपुर के महाराज रामसिंह के आश्रय में रहते थे। 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस-रहस्य' की रचना हुई। इनमें पांडित्य अवश्य लक्षित होता है पर अपने समय की साधारण त्रुटियों को ये भी नहीं बचा सके।

देव—इनका रचना-काल संवत् १७४६ से माना जाता है। रीति-काल के आचार्यों में इनकी भी गणना की जाती है। इनकी कविता बहुत ही मार्मिक हुई है परन्तु कहीं कहीं दूर की सूझ के फेर में भाव बिगाड़ दिया गया है।

कवीन्द्र का 'रस-चंन्द्रोदय' नामक शृङ्गार-रस का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। श्रीपति का 'काव्य-सरोज' नामक ग्रंथ बहुत ही पांडित्यपूर्ण है। दोषों के उदाहरणों में इन्होंने केशवदास की कविताओं को रखा है। भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय' नामक ग्रंथ भी इस समय के श्रेष्ठ ग्रंथों में है। 'दास' ने शब्द-शक्ति पर भी बहुत कुछ लिखा है। कवीन्द्र के पुत्र दूलह का कवि-कुल कंठाभरण अलंकार का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है।

पद्माकर भट्ट—रीति-काल के कवियों में इनका ऊँचा स्थान माना जाता है। इनका प्रसिद्ध नायिका भेद का ग्रंथ 'जगद्विनोद' है। इनकी मार्मिक तथा रसीली उक्तियों के कारण इनके काव्य में बहुत ही प्रभविष्णुता आई है।

प्रतापसाहि—इनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी' की रचना संवत् १८८२ में हुई थी। इस कौमुदी में जो बातें व्यंग्य से कही गई हैं वे भाव

क्षेत्र की नहीं हैं। उनमें ऊहापोह के द्वारा वस्तु व्यंजना ही की गई हैं, जिस तक पहुँचना साधारणतः कठिन ही है।

रसों तथा अलंकारों के लक्षणों उदाहरणों की पुस्तकें प्रस्तुत करने की ओर कवियों की दृष्टि विशेष रहती थी। इसी कारण इस काल का नामकरण 'रीति-काल' हुआ है। प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से यदि इस काल का विभाग किया जाय तो हम इसे 'शृंगार-काल' कह सकते है। थोड़े से कवियों को छोड़ प्रायः लोगों ने शृंगार रस की ही कविताएँ लिखीं। शृंगार रस के लिए लोगों ने राधा और कृष्ण के प्रेम को लिया। पौराणिक राधाकृष्ण का प्रेम सांकेतिक है और ईश्वर-जीव के प्रेम में उसका पर्यवसान कर दिया जाता है। शृंगारी कवियों ने इस आवश्यक पर्यवसान की ओर ध्यान नहीं रखा। कृष्ण की यौवन-क्रीड़ा के ऐसे नग्न चित्र अंकित किए गए हैं जिनके लिए शास्त्रों में कोई प्रमाण नहीं। कृष्ण का ईश्वरत्व एकदम भुला दिया गया और इन्हें एक साधारण उच्छृंखल 'रसिया' के रूप में अंकित किया गया। कृष्ण की यौवन-क्रीड़ा का वर्णन सूरदास इत्यादि भक्त कवियों ने भी किया परंतु उन्होंने यह कभी नहीं भुलाया कि कृष्ण भगवान् हैं।

यहाँ तक तो इस काल के प्रतिनिधि कवियों की चर्चा हुई। अब संक्षेप में उन कवियों के विषय में भी जान लेना आवश्यक है जिनकी प्रतिभा का विकास रीति की बँधी हुई शैली के अनुसार नहीं हुआ। इनमें से कुछ भक्त थे और कुछ ने शृंगार रस की रचनाएँ की। लोक-नीति, लोक-व्यवहार आदि से संबद्ध कुछ रचनाएँ हुईं। फुटकर रचना करने-वाले शृंगारी कवियों में तथा रीति के कठघरे में बद्ध रहकर रचना करने-वाले कवियों में एक बड़ा भेद है। इन कवियों को माथे पर हाथ रखकर रसों और विविध अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत ही करने पड़ते थे। स्वतंत्र रूप से रचना करनेवालों के लिए ऐसा कोई बंधन नहीं था। ऐसे कवियों में व्यक्तिगत अनुभूति से उत्पन्न मार्मिकता तथा वेदना मिलती है। इस समय जो भक्त कवि हुए उनको हम भक्ति-काल की परंपरा में सकते हैं। नीति इत्यादि विषयों पर रचना करनेवालों के विषय में

यह कह देना आवश्यक है कि इनके पद्यों में कवित्व बहुत कम रहता था। अधिक से अधिक ये सूक्ति तक पहुँच पाते थे। इस समय में कुछ प्रबंध-काव्य भी लिखे गए जिनमें चंद्रशेखर वाजपेयी का 'हम्मीर हठ' गोकुलनाथ मणिदेव आदि का 'महाभारत', लाल कवि का 'छत्रप्रकाश' गुमान मिश्र का 'नैषधचरित्र' मधुसूदनदास का 'रामाश्वमेध' गुरु गोविन्दसिंह का 'चंडीचरित्र' मुख्य हैं। सूदन का सुजानचरित्र प्रबंध-काव्य के रूप में तो लिखा गया पर इसमें वास्तविक कवित्वपूर्ण स्थल बहुत कम हैं। गुमान के 'नैषधचरित्र' में कहीं-कहीं इतनी क्लिष्टता आ गई है कि यदि हम उसे अस्पष्टता कहें तो उचित हो। यहाँ कुछ विभाग बाँध कर उसमें के कवियों का संक्षिप्त वर्णन दिया जाता है।

फुटकर कवि

भक्त कवि

गुरु गोविंदसिंह—(संवत् १७२३–१७६५) ये सिक्खों के अंतिम गुरु थे। सिक्ख गुरुओं के द्वारा हिन्दी-काव्य-रचना सदा से होती आई। इन्होंने भी कई ग्रंथों की रचना की जिनमें 'चंडी-चरित्र' मुख्य है। घनानंद (संवत् १७४६–१७९६) की कविताएँ बहुत ही सरस हुई हैं। वियोग की वेदना के चित्रण से इनकी कविता में एक मीठी कसक बनी रहती है। इनकी भाषा बहुत शुद्ध मानी जाती है महाराज विश्वनाथसिंह का रचना काल संवत् १७८० के आस-पास माना जाता है। इन्होंने भक्ति आदि पर भी अनेक पुस्तकें बनाई तथा ब्रजभाषा में 'आनंदरघुनंदन' नाटक लिखा जो इस भाषा का सबसे पहला नाटक है। नागरीदास जी (संवत् १७५६) कृष्णगढ़ के राजा थे। राज-पाट सब छोड़ कर ये एक भक्त की तरह वृन्दावन में निवास करते थे। भाषा तथा भाव दोनों की दृष्टि से इनकी रचनाएँ उच्च कोटि की हैं। बख्शी हंसराज (संवत् १७९९) सखी भाव के उपासक थे। इनका 'सनेह-सागर' ग्रंथ बहुत ही प्रौढ़ तथा सरस भाषा में लिखा गया है। मधुसूदनदास ने संवत् १८३९ में रामाश्वमेध नामक एक प्रबंध-काव्य बनाया।

ग्रंथ की रचना रामचरितमानस की शैली पर हुई है। भाषा तथा भाव दोनों की दृष्टियों से इस ग्रंथ का स्थान महत्व का है।

श्रृंगारी कवि

आलम का कविता काल संवत् १७४० से १७६० तक माना जाता है। इनकी श्रृंगारी कविताओं का संग्रह 'आलम-केलि' नामक पुस्तक में हुआ है। जब गृहीत विषय से कवि के हृदय का संबंध होता है तो उसकी कविताओं में मार्मिकता स्वतः आ जाती है। इसी कारण इनकी श्रृंगारी रचनाएँ बहुत ही सरस हुई हैं। रसनिधि का 'रतनहजारा' भी श्रृंगार रस का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। ठाकुर (संवत् १८२३) की श्रृंगारी कविताएँ बहुत सुंदर हुई हैं। इस नाम के कई कवि हो गए हैं। यहाँ बुंदेलखंडी ठाकुर से तात्पर्य है।

वीर रस के कवि

लाल कवि महाराज छत्रशाल के समकालीन थे। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'छत्रप्रकाश' में छत्रशाल की वीरता आदि का बहुत ही सुंदर तथा ओजपूर्ण वर्णन किया है। सूदन ने संवत १८१० के आस-पास भरतपुर के महाराज सुजानसिंह के युद्धों इत्यादि का वर्णन अपने 'सुजान-चरित्र' नामक ग्रंथ में किया है। हथियारों, घोड़ों आदि की नामावली प्रस्तुत करने की ओर इनका ध्यान इतना था कि विषय में स्वच्छंद प्रवाह पर आघात पहुँचा है। इस ग्रंथ में इतिहास की उपेक्षा नहीं की गई है। जोधराज ने संवत् १८७५ में 'हम्मीररासो' नाम का एक ग्रन्थ लिखा। वर्णन वीर रस की शैली के अनुसार अच्छे उतरे हैं। चंद्रशेखर वाजपेयी (संवत् १८८५–१९३२) ने 'हम्मीर हठ' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। यह भाषा और भाव-चित्रण की दृष्टि से बहुत प्रौढ़ रचना है।

लोक-नीति आदि पर रचना करनेवाले कवि

वृंद ने संवत १७६१ में अपनी सतसई की रचना की। इसका

लोक में बहुत प्रचार है। बैताल (संवत् १८३९-१८८६) की रचनाएँ भी लोक-नीति आदि के संबंध में हैं। गिरिधरदास की कुंडलियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। बोधा और सम्मन आदि ने भी सुंदर सूक्तियों में व्यवहार ज्ञान की बहुत सी बातें कही हैं।

बाबा दीनदयाल गिरि का जन्म संवत् १८६६ में हुआ था। इनकी अन्योक्तियाँ हिंदी-साहित्य में बहुत प्रसिद्ध हैं। बाबू हरिश्चन्द्र जी के पिता बाबू गिरिधरदासजी ने भी अनेक ग्रंथों की रचना की जिनमें कुछ रीति के अनुसार थे तथा कुछ भक्ति आदि भावों पर।

इसके पश्चात् आधुनिक काल का आरंभ हो जाता है। अभी तक हमारा साहित्य केवल पद्य प्रधान ही रहा। ब्रजभाषा गद्य में एक-आध पुस्तक लिखी गई, पर उनमें गद्योचित प्रौढ़ता, स्पष्टता तथा प्रवाह नहीं आने पाया।

ब्रज-काव्य-धारा

भारतवर्ष बहु भाषाओं का देश है। यहाँ की प्राकृतिक स्थितियाँ ही ऐसी हैं कि थोड़ी ही दूर पर भाषा अपने स्वरूप को परिवर्तित करने लगती है और कुछ ही आगे बढ़ने पर एक भिन्न भाषा के रूप में प्रकट होती है। ग्राम्य-साहित्य के लिए तो इन प्रान्तीय बोलियों का ही आश्रय ग्रहण किया जाता है पर सामान्य शिष्ट साहित्य के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता होती है जो एक विस्तृत भू-भाग में समझी जा सके। यह साहित्यिक भाषा कहीं बाहर से नहीं आती। अनेक प्रान्तीय बोलियों में से किसी एक को यह सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। परिस्थितियों के घात प्रतिघात किसी स्थानीय भाषा को साहित्यिक आसन पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। यद्यपि हमारे प्रान्त में अनेक बोलियाँ है पर साहित्यिक भाषा के रूप में 'ब्रज' ही ग्रहण की गयी। ब्रजभाषा बहुत मधुर भाषा है, केवल यही बात इसको यह गौरव प्रदान करने में समर्थ न हो सकी होगी क्योंकि भाषाओं के पारस्परिक माधुर्य की तुलना करके किसी भाषा को साहित्यिक पद नहीं दिया जाता। यह कार्य समाज की शक्तियाँ धीरे धीरे स्वयं कर लेती है। ब्रजभाषा के साहित्यिक विस्तार प्राप्त होने के अनेक कारण थे।

हर्षवर्धन के बाद केन्द्रीय शासन की भावना नष्ट हो चुकी थी। देश छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था। इन राजाओं की अनेक राजधानियाँ पश्चिम में थीं। ब्रजभाषा ब्रजभूमि के चारों ओर तो बोली ही जाती थी, इसके अतिरिक्त भरतपुर आदि पूर्वी राजपूताने में होती हुई तथा अपने रूप को परिवर्तित करती हुई यह गुजरात तक विस्तार को प्राप्त थी। हमारी भाषा का प्रारंभ वीर गीतों से होता है। प्रायः वीर गीतों का क्षेत्र पूर्वी राजपूताना ही रहा। जो कविता एकदम ब्रज से मिलती हुई भाषा में होती थी वह 'पिंगल काव्य' कहलाती थी। घोर प्रांतीय भाषा का नाम भी पिंगल के अनुकरण पर 'डिंगल' पड़ा। संक्षेप में कहा जा सकता है कि हमारे साहित्य का

प्रारंभ जिस भाषा में हुआ वह व्रज का ही एक पश्चिमी रूप था। पर इन वीर काव्यों की परंपरा धीरे-धीरे शिथिलता को प्राप्त होती गई। आगे चलकर भक्ति-मार्ग के कई आचार्य हुए जिनका प्रभाव धीरे-धीरे विद्वत्समाज से साधारण जनता तक आ रहा था। जनता भी कुछ-कुछ अपनी स्थिति से उदास हो चली थी। इसका कारण यह था कि देश में मुसलिम साम्राज्य स्थापित हो चुका था। विपत्ति में भगवान् याद आते ही हैं। भगवान् के राम-कृष्ण रूपों को लेकर भक्तिमार्ग प्रशस्त हो चला था। भक्ति-विषयक कविता भी भगवान् के इन्हीं दोनों रूपों को लेकर हुई। भगवान के इन दोनों रूपों में-से जनता कृष्ण रूप पर अधिक मुग्ध हुई। कृष्ण की जन्मभूमि व्रज थी। प्रायः कृष्ण भक्त वृन्दावन आदि कृष्णलीला के स्थानों को अपनी निवास-भूमि बनाने लगे। कृष्णभक्ति की यह धारा भी व्रजभाषा के अनुकूल पड़ी। पूर्वी राजपूताने की भाषा अपने स्वरूप को कुछ परिवर्तित कर भक्ति की धारा से प्रभावित हो एक विस्तृत काव्य-भाषा के रूप में प्रकट हुई। तुलसीदास जी ने रामचरित का आश्रय ग्रहण कर 'रामचरितमानस' अवधी से मिलती जुलती भाषा में लिखा। 'रामचरित' की भाषा पूर्वी नहीं है। यह पश्चिमी अवधी है, जो व्रज से बहुत प्रभावित है। परंतु इस ग्रंथ के अतिरिक्त तुलसीदास जी ने और भी एक-से-एक उच्च कोटि के ग्रंथों की रचना की; जिनकी भाषा व्रज है। पर तुलसी के बाद और किसी को अवधि का उतना आग्रह न रहा। अतः भक्तिकाल में व्रजभाषा ने अत्यधिक विस्तार पाया। जब एक बार यह काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई, तो धीरे धीरे इसका प्रचार-क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। इसमें स्थानीय प्रयोग भी आने लगे। इसकी भावाभिव्यंजन की शक्ति भी बढ़ने लगी।

भगवद्भक्ति के बाद जनता श्रृंगार की ओर उन्मुख हुई। मुसलिम राज्य के साथ-साथ जनता का नैराश्य बढ़ता जाता था। भक्तिकाल में जनता यह देख चुकी थी कि भगवान् भी लोगों के काम न आए। सारी प्रार्थनाओं के होते हुए भी विदेशी राज्य देश में प्रतिष्ठित हो ही गया।

घोर नैराश्य विलासिता को उत्पन्न करता है। मनुष्य में सुख प्राप्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जब निराशा सुख की प्रतिष्ठा में आघात पहुँचाती है तो मनुष्य अपने चरित्र को नीचे गिराकर इंद्रिय जनित सुख की ओर उन्मुख होने लगता है। यही अवस्था भक्तिकाल के अंतिम दिनों में थी। एक बात और थी। इधर हिंदी भाषा का भक्तिकाल समाप्त हो रहा था। उधर मुग़ल साम्राज्य पतन की ओर शीघ्रगति से अग्रसर हो रहा था। यद्यपि ऊपर से देखने से इस समय मुग़लों की शान-शौकत बढ़ रही थी पर यह वैसी ही थी जैसी किसी दीपक के निर्वाण के पहले होती है। बुझने के पहले दीपक एक बार भभक कर जल उठता है। उस समय मुग़ल दरबारों में भी विलासिता बढ़ रही थी। 'यथा राजो तथा प्रजा' के अनुसार जनता तो नैराश्य से उत्पन्न विलासिता की ओर उन्मुख हो ही रही थी, दरबारी-विलासिता ने उस प्रवृत्ति को और भी पुष्ट किया। भक्त लोग पहले ही से कृष्ण की यौवन-क्रीड़ा को विकृत रूप में जनता के सामने रख चुके थे। कृष्ण का ईश्वरत्व उनके शृंगारी स्वरूप से आच्छादित हो गया था। बस, जनता में शृंगारी कविताओं का प्रेम बढ़ने लगा। कवियों ने भी लोक-रुचि का साथ दिया।

शताब्दियों तक शृंगारी काव्य की धारा अविरल रूप से प्रवाहित होती रही। यह हमारे काव्य का 'अलंकार युग' कहलाता है परंतु वास्तव में यह 'शृंगार युग' था। अलंकारों के लक्षण तो यों ही चलते ढंग से दे दिए जाते थे। उदाहरण प्रायः शृंगार रस के ही प्रस्तुत किए जाते थे। रस के विवेचन के लिए जो ग्रंथ रचे जाते थे उनमें भी कविगण और रसों को चलता कर शृंगार की उपासना में दत्तचित्त होकर बैठ जाते थे। शृंगार की यह धारा अपने प्रांत के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रवाहित हो रही थी। इस कविता की भाषा भी व्रज थी।

कविगण अपने पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों का अध्ययन कर व्रजभाषा पर अधिकार प्राप्त करते थे। पर उनकी अपनी भी प्रांतीय बोलियाँ थीं। अतः स्थानीय शब्द तथा मुहावरे भी व्रजभाषा में आने लगे। धीरे-धीरे व्रजभाषा साहित्यिक दृष्टि से विकास को प्राप्त होती गई। भक्ति-

काल के अधिकांश कवि ब्रजभूमि के ही आसपास के थे, इसलिए उनकी भाषा शुद्ध ब्रज ही थी। पर इस शुद्धता से केवल इतना ही तात्पर्य है कि इसमें अन्य प्रान्तों की पदावली एवं प्रयोग आदि उतने नहीं आ पाए थे। पर रीति-काल में आकर कविगण भाषा की दृष्टि से बहुत कुछ स्वतंत्र हो गए। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय में भी बिहारी, घनानंद ठाकुर, रसखान इत्यादि अनेक कवियों ने भाषा की शुद्धता का ध्यान रखा पर अधिकांश कवि इस ओर से उदास हो रहे थे। बहुत से कवियों में तो भाषा के स्वरूप को परख कर शुद्धता का आदर्श बनाए रखने की क्षमता तक नहीं थी। पुस्तकों के अध्ययन के द्वारा भाषा पर अधिकार प्राप्त किया जाता था। पर ऐसी क्षमता थोड़े ही लोगों में होती है। इधर कविता करने का शौक अधिक लोगों में फैल रहा था। अपनी जन्मभूमि में भी ब्रजभाषा अपने रूपों में परिवर्तन कर रही थी। प्राचीन काल की अनुस्वार-बहुला प्रवृत्ति पीछे कम हो रही थी। और भी अनेक परिवर्तन हुए। दूर देशों में रह कर ब्रजभाषा के इन स्थानीय परिवर्तनों पर दृष्टि रखना कवियों के लिए सरल नहीं था। अतः प्रयोगों में अनेकरूपता आने लगी। प्राकृत तथा अपभ्रंशकाल के अनेक विकृत शब्द भाषा में अभी तक चले आ रहे थे। कवियों के अनुकरण पर अनेक विकृत शब्द स्वयं गढ़ लिए थे। छंदों के अनुरोध पर शब्दों को बिना किसी नियम के तोड़-मोड़ डालने की अनधिकार चेष्टा बढ़ रही थी। शुद्ध और ठिकाने की भाषा लिखनेवाले सिद्धहस्त कवि कम ही थे। मनमानी करनेवालों की संख्या बढ़ रही थी। व्याकरण द्वारा प्रयोगों की एकरूपता की रक्षा करने का प्रयत्न नहीं किया जा सका। अतः भाषा बहुत ही विकृत हो चली। आधुनिक युग के प्रारंभ में हमारे कवियों ने यही भाषा हमें विरासत में दी थी।

काव्य में व्यक्त किए गए विषयों पर विचार किया जा चुका है। हमारे साहित्य की वर्तमान काल के प्रारंभ में यही अवस्था थी। आधुनिक काल अपनी आवश्यकताओं को लिए हुए आया। इधर ब्रजभाषा काव्य-क्षेत्र में आसन जमाये बैठी थी; उधर दरबारों तथा बाजारों में

होती हुई खड़ी बोली पूर्व के कोने कोने तक पहुँच चुकी थी। मुसलमानों ने जब दिल्ली में डेरा डाला तो अपने भाव विनिमय का कार्य वहीं की स्थानीय भाषा में प्रारंभ किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह स्थानीय भाषा खड़ी बोली थी। मुसलमानों के लिए इस भाषा में अरबी, फारसी शब्दों का मिश्रण करना स्वाभाविक ही था। यह उर्दू खड़ी बोली मुसलमानों के साथ साथ संपूर्ण उत्तरापथ में फैलने लगी। हिन्दुओं ने अपने बाहरी व्यवहार में मुसलमानों का बहुत अनुकरण किया। अभी तक अनेक हिन्दू अपने को शिष्ट या सभ्य प्रमाणित करने को मुसलमानों से और कभी-कभी परस्पर में भी "आदाबअर्ज" करते हुए पाए जाते हैं। अँगरेजों का साम्राज्य-विस्तार पहले पहल पूर्व से प्रारंभ हुआ। बंगाल की ओर से धीरे-धीरे ये लोग पश्चिम की ओर अग्रसर हो रहे थे। उधर मुग़ल-साम्राज्य दिल्ली की चहारदीवारी के आस-पास सिकुड़ कर अपनी अंतिम साँसे ले रहा था। अँगरेजों के राज्य में व्यापारियों को अधिक सुविधाएँ थीं। अतः धीरे-धीरे पश्चिम के व्यापारी पूर्व की ओर बढ़ रहे थे। ये लोग अपने बटखरों और गजों के साथ अपनी खड़ी बोली भी लिए रहते थे। इस प्रकार खड़ी बोली अपना प्रचार-क्षेत्र बढ़ा रही थी। अँगरेजों ने इस प्रान्त पर अधिकार जमाते ही उर्दू को प्रान्तीय बोली मान लिया। इसका कारण राजनीतिक चातुर्य्य था या भ्रम यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसी 'खड़ी' को हिन्दूओं ने भी अपनाना प्रारंभ किया। हमारे गद्य-साहित्य का श्रीगणेश इसी खड़ी बोली में हुआ। पद्य की भाषा व्रज ही रही। हमारे साहित्य में यह एक विचित्र अवस्था उत्पन्न हुई। फिर भी खड़ी बोली में काव्य-रचना करने का विचार बहुत दिनों तक नहीं उठा, व्रजभाषा ही उसकी अधिकारिणी रही। पर आगे चल कर खड़ी बोली के लिए उग्र आन्दोलन खड़ा किया गया, जिसकी चर्चा खड़ी बोली के प्रसङ्ग में की जायगी। कुछ दिनों तक लोग दुविधा में रहे। व्रजभाषा का मोह लोगों से छोड़ते नहीं बनता था। पर धीरे-धीरे लोग इधर आकृष्ट होने लगे और व्रजवाणी के कुछ अनन्य उपासकों ने भी खड़ी बोली का पल्ला पकड़ा। कुछ दिनों तक व्रज तथा

खड़ी बोली दोनों में रचनाएँ करने की परंपरा चलती रही। पर पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के मैदान में आते ही खड़ी बोली पाला जीतने लगी। खड़ी बोली अकड़ कर खड़ी हो गई। इस खड़े होने में कोमलता नहीं यौवन की कर्कशता थी। फिर भी अनेक कविगण ब्रज की उपासना करते ही रहे। ब्रजभाषा के काव्य-क्षेत्र से एकदम बहिष्कृत हो जाने के लक्षण अभी तो नहीं दिखाई पड़ते। ब्रजभाषा के कट्टर से कट्टर विरोधियों को भी यह स्वीकृत ही करना पड़ता है कि इसका माधुर्य अद्वितीय है।

आधुनिक काल के प्रारंभ से ब्रज-काव्य-धारा पर दूसरी दृष्टियों से भी विचार कर लेना चाहिए। पुराने कवि चलते चलते हमें नखशिख, बारहमासा, नायिका-भेद आदि विषय दे गए थे। इधर आधुनिक काल अपनी भावनाएँ तथा आकांक्षाएँ लेकर आया। पर नवीन विचार काव्य-क्षेत्र में पहुँचने में समय लेते हैं। काव्य का संबंध भावों से है। शुष्क विचार कविता का क्षेत्र नहीं। बुद्धि पर प्रभाव डालनेवाली बातें जब भावोद्रेक में सहायक होने लगती हैं, तभी वे काव्योपयुक्तता को प्राप्त करती हैं। नवीन विचार एवं भावनाएँ तो अँगरेजी राज्य के प्रसार के साथ ही जागरित होने लगीं पर उनके काव्य में अभिव्यक्त होने में कुछ देर लगी। अतः आधुनिक काल के प्रारंभ होने पर भी प्रारंभिक कविगण उन्हीं पुराने विषयों को लेकर काव्य रचना करते रहे। ये नवीन विचार कुछ तो नवीन साहित्य के अध्ययन से आ रहे थे कुछ अपनी स्थिति पर विचार करने से स्वयं जागरित हो रहे थे। अँगरेजी तथा उर्दू-साहित्य का अध्ययन प्रारंभ हो चुका था। मेकाले के समय से ही अँगरेजी राज-भाषा रूप में स्वीकृत हो चुकी थी। उर्दू प्रांतिय भाषा मान ली गई थी। नवीन शिक्षा-प्रणाली के प्रचार के साथ-साथ उर्दू और अँगरेजी का अध्ययन प्रारंभ हुआ। इन दोनों साहित्यों का प्रभाव भिन्न-भिन्न रूप में पड़ा। उर्दू का अध्ययन हिंदू लोग पहले ही से करते आ रहे थे, पर नवीन शिक्षा के विस्तृत प्रचार के साथ उर्दू के अध्ययन को विस्तार प्राप्त हुआ। उर्दू की अभिव्यंजन शैली तथा भावों

से हमारी भाषा प्रभावित हुई। यहाँ केवल भावों की दृष्टि से विचार करना है। उर्दू-साहित्य में शृङ्गार के बहुत मार्मिक चित्र अंकित किए जाते हैं। रति भाव में विप्रलंभ के द्वारा गम्भीरता तथा प्रभविष्णुता आती हैं। हिंदुओं में वैवाहिक जीवन की दृढ़ता के कारण कवियों को विप्रलंभ के वर्णन का उतना क्षेत्र नहीं मिलता था। इस कमी को परकीया की उद्भावना से दूर किया गया। परकीया का वर्णन काव्य में दोष माना गया है। अतः कवियों ने राधाकृष्ण के प्रेम का ईश्वर-जीव प्रेम में पर्यवसान हो जाने के कारण परकीया के दोष का परिहार हो गया। फिर भी हिंदी में वियोग-जन्य विकलता की वैसी गंभीरता नहीं आने पाई। उर्दूवालों के शृङ्गार का आलंवन ही ऐसा है कि वहाँ तड़पने आदि की अधिक गुंजाइश है। एक ओर की प्रार्थनाएँ दूसरी ओर से उपेक्षा के कानों से सुनी जाती हैं। इन भावनाओं का प्रभाव हिंदी भाषा पर बहुत पड़ा। यह 'तड़पना' भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र के समय से प्रारंभ हो गया और प्रेमियों को नाले लाँघ-लाँघकर प्रेमिका के पास जाने की आवश्यकता पड़ने लगी। फिर भी 'लाल' के दर्शनों के लाले पड़े ही रहते थे। हिंदी में भी शृङ्गार-रस की कविता अधिक मात्रा में हो रही थी, पर वेदनात्मक शैली पर प्रेम की पीड़ा की सांकेतिक व्यंजना की ओर हिंदीवालों का उतना ध्यान नहीं गया था। हमारे यहाँ शृङ्गार-रस की प्रतिष्ठा प्रायः पारिभाषिक शैली के संकेतों पर अनुभाव, विभाव, संचारियों की तंग गली में होती रही। उर्दू-साहित्य के संपर्क का प्रथम प्रभाव यह पड़ा कि गंभीर वेदना के चित्रण की ओर कविगण उन्मुख होने लगे। इसका प्रथम सूत्रपात्र भारतेंदुजी ने किया। वे शृङ्गार को बँधी हुई परिपाटी से निकाल अनुभूति की सतह तक लाए। अँगरेजी-साहित्य का भी अध्ययन प्रारंभ ही हो चुका था।

अँगरेजी-साहित्य के संपर्क ने हमारे साहित्य में क्रान्ति तो उत्पन्न कर दी; पर उसका अध्ययन प्रारंभ होने के बहुत दिनों बाद उसके विचारों का प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा। कविता पर यह बहुत काल के पश्चात् लक्षित हुआ। इसका कारण यह था कि कविता की रचना

करनेवाले अँगरेजी के संपर्क में नहीं आते थे। अँगरेजी का अध्ययन करनेवाले बाबू हो रहे थे, उन्हें अपनी भाषा की क्या पड़ी थी। अँगरेजी-साहित्य स्वच्छन्द वातावरण में पनपा था। वह स्वतंत्रता की भावनाओं से पूर्ण था। अँगरेज लेखक मनुष्य-समाज के साथ साथ उन्मुक्त प्रकृति से भी अनुरागात्मक संबंध स्थापित कर चुके थे। इन सबका प्रभाव भी हमारी भाषा पर पड़ रहा था। धीरे-धीरे देशभक्ति की भावनाओं की ध्वनि हमारे यहाँ भी सुनाई पड़ने लगी। पर तत्कालीन और आधुनिक देशभक्ति में महान अंतर है। उस समय की देशभक्ति विदेशी शासन के साथ चल सकती थी। उस समय स्वावलम्बन पर स्थित देशभक्ति की भावना की ओर झुकाव नहीं हुआ था। मुग़लकाल के पतनकाल की देशव्यापी अव्यवस्था से त्राण पाकर लोग एक बार सुख की साँस ले रहे थे। वे यह तो चाहते थे कि देश उन्नति करे परन्तु साथ ही वे नवीन शासन के प्रति अनुराग भी रखते थे। एक ओर उनके मुँह से निकली हुई ऐसी उक्तियाँ शासन की प्रशंसा कर रही थीं:—

"अंग्रेज राज सुखसाज सजे सब भारी
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।"

दूसरी ओर उनके ये उद्गार बताते थे कि वे अपनी दुर्दशा अवनति आदि का मार्मिकता से अनुभव कर खिन्न हो रहे थे:—

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ यहि नासा।
अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा॥
अब सुख सूरज को उदौ नहीं इत ह्वै है।
सो दिन फिर इत अब सपनेहु नहिं ऐहै॥

कुछ लोगों को इन दोनों प्रकार की उक्तियों में विरोध प्रतीत हुआ और उन्होंने सामंजस्य स्थापित करने के लिए अनेक कल्पनाएँ कीं। पर वास्तव में यह उस काल की विशेष प्रवृत्ति थी। लोग देशभक्ति तथा राजभक्ति में कोई विरोध नहीं समझते थे। यही कारण है कि 'भारतेन्दु-काल' के लेखकों में हमको दोनों प्रकार के भाव मिलते हैं। अम्बिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, प्रेमघन आदि सभी

लेखकों में यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। इस प्रकार की देशभक्ति ने आगे परिष्कृत देशभक्ति को स्थान दिया, जिसका वर्णन प्रसंगानुसार खड़ी बोली के प्रकरणों में किया जायगा।

अँगरेजी के संपर्क से दूसरा प्रवाह हमारी भाषा के प्राकृतिक चित्रणों पर पड़ा। संस्कृत-साहित्य में प्रकृति के स्वतंत्र चित्रण की प्रथा थी। परंतु हिंदी के कवियों की दृष्टि भगवान् के अवतारों तथा मनुष्यों के कार्य-कलापों में इतनी फँसी रही कि वे प्रकृति की ओर देख ही न सके। नौ रसों की सीमा के संकुचित वातावरण में प्रकृति को स्थान ही कहाँ रह गया था। उद्दीपन के रूप में ही कमल, चंद्र, उपवन आदि को स्थान मिल जाता था; वह भी नाम गिनाने भर को। उद्दीपन रूप में लाई हुई वस्तुओं की प्रस्तावना रूढ़ि के ऐसे बंधन के साथ होती थी कि उसमें कुछ नवीनता तथा सरसता ही न रह पाती थी। प्रकृति को दूसरा स्थान अप्रस्तुत योजना में मिलता था पर आलंकारिक विधान में भी कवियों के हृदय में प्रकृति के रमणीय उपादानों की ओर अनुराग लक्षित नहीं होता था। इसका कारण यह था कि विदेशी शासन की कठोरता तथा अव्य-वस्था ने लोगों के बुद्धि वैभव को कुंठित कर दिया था। पर अंगरेजी-साहित्य में ऐसी बात न थी। वहाँ प्रकृति को भी काव्य में आदरणीय स्थान प्राप्त था। इसका प्रभाव हमारी कविता पर भी पड़ना प्रारंभ हो गया था। हरिश्चंद्र जी की कविता में प्रकृति के प्रायः वर्णन आलंकारिक शैली पर हैं; पर जिनमें पहले प्रकृति के कुछ उपादानों के नाम गिना दिए जाते थे, फिर उन पर उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का विधान किया जाता था। पर स्वतंत्र रूप से प्रकृति के चित्रण की रुचि हरिश्चन्द्र जी में भी लक्षित होती है:—

कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत
कहूँ कारंडव उड़त कहूँ जल कुक्कुट धावत ॥
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावली गावत ॥

यह प्रवृत्ति बढ़ती ही गयी। ठाकुर जगमोहनसिंह की रचना में

प्रकृति के चित्रण का और भी मार्मिक एवं परिष्कृत रूप मिलता है। ये संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करने काशी आए थे और हरिश्चन्द्र जी के संपर्क में आ चुके थे। उन पर हरिश्चन्द्र जी के विचारों, भावों तथा भाषा आदि का गम्भीर प्रभाव लक्षित होता है। वे संस्कृत साहित्य के प्रकृति विषयक अनुराग से भी परिचित थे। अँगरेजी साहित्य से भी उनका पूर्ण परिचय था। इन सब के अतिरिक्त मध्यप्रदेश की प्राकृतिक विभूतियों की गोद में उनका लालन-पालन हुआ था। उन्होंने प्राकृतिक उपादानों के बड़े सुन्दर चित्र अंकित किए हैं। यह व्रजभाषा के लिए एक नवीन विषय था।

समाज-सुधार के भाव भी लोगों में आने लगे थे। परन्तु उस समय के समाज-सुधार के विचार इतने आगे बढ़े हुए नहीं थे। उदाहरण के लिए अछूतोद्धार आदि के प्रश्न उस समय उठे ही नहीं फिर भी बहु-विवाह, बालविवाह, वृद्धविवाह, विधवाओं की दशा आदि के प्रश्न उठ चुके थे। ये उस समय की कविता के नये विषय हुए। इस प्रकार रीति के अनुसार कविता के साथ-साथ शृंगार की नई शैली चल चुकी थी तथा देशभक्ति, समाज-सुधार, राज्यगुणगान, प्रकृति-चित्रण इत्यादि नये विषयों को लेकर व्रजभाषा आधुनिक काल में आगे बढ़ी। आधुनिक काल में नये विषयों के साथ ही साथ व्रजभाषा की भावों को प्रकट करनेवाली शैलियों पर भी प्रभाव पड़ा। इन पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

प्राचीन काल में व्रजभूमि से दूर रहनेवालों को इस भाषा का अध्ययन करना कठिन था। पुस्तकें अवश्य थीं, पर छापे की सुविधा न होने से हस्तलिखित प्रतियों से काम चलाना पड़ता था। ये हस्तलिखित पुस्तकें प्राप्त करना अत्यन्त कठिन था। पस्तकों से भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के साधन भी पर्याप्त नहीं थे। अतः कविगण अपने सामने भाषा का कोई सामान्य रूप नहीं रख पाते थे दूसरे उन लोगों का भाषा की शुद्धता की मर्यादा-रक्षा करने की ओर उतना ध्यान भी नहीं था। एक-आध पुस्तक पढ़ झट से कविता करना प्रारंभ कर दिया जाता था। ऐसे लोगों के हाथों पड़ कर व्रजभाषा अपने स्वरूप को विकृत कर रही थी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने इस धाँधली को पहिचाना। उन्होंने नवीन भावों की काव्य में प्रतिष्ठा तो की ही, भाषा के स्वरूप को भी परिमार्जित किया। उनके लिए ऐसा करना स्वाभाविक था। वास्तव में वे कवियों के ही बीच पल कर बड़े हुए थे। उनके पिता बाबू गोपालचंद्र एक सुकवि थे। इस समय सरदार, नारायण, हनुमान इत्यादि अनेक कवि काशी मे थे। इन सबके संपर्क में आने से वे भाषा पर अधिकार प्राप्त कर चुके थे। अतः उन्होंने भाषा के एक सरल एवं मधुर रूप की प्रतिष्ठा की जिसमें प्राचीन अप्रचलित प्रयोग एवं शब्द छोड़ दिए गए थे तथा सर्व प्रचलित एवं परिचित शब्द प्रयुक्त किए जाते थे। भारन्तेदु द्वारा भाषा का यह संस्कार बड़े उपयुक्त समय पर हुआ। यह परिवर्तन का युग था। यदि इस समय वही पुराने ढंग की भाषा चलने दी गई होती तो वड़ा अनर्थ हो जाने की संभावना थी। शिक्षित समाज अपनी भाषा से वैसे ही उदास हो चला था। हरिश्चंद्र जी की भाषा में ऐसी कोमलता एवं माद-कता थी कि उनकी रचनाएँ उनके जीवन-काल में ही प्रचलित हो गई थीं। भारतेंदुजी के द्वारा चलाया हुआ यह रूप आगे तक चलता रहा। आधुनिक काल की व्रजभाषा की कविता के विषय में यह बात गौरव के साथ कही जा सकती है कि भाषा जितने शुद्ध रूप में इस काल में प्रयुक्त हुई उतने शुद्ध रूप में और किसी काल में नहीं। भारतेन्दु, रत्नाकर, श्रीधर पाठक, पं० सत्यनारायण कविरत्न श्री वियोगी हरि, पं० रामचंद्र शुक्ल, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय इत्यादि व्रजवाणी के प्रौढ़ उपासकों के हाथों से भाषा के वहुत ही परिष्कृत रूप का प्रयोग हुआ। इस शुद्धता के साथ-साथ भावों को व्यक्त करने की शक्ति भी इस काल में उन्नति को प्राप्त होती गयी। उर्दू तथा अँगरेजी साहित्य का प्रभाव खड़ी बोली पर तो पड़ा ही, व्रज पर भी वह लक्षित होता है। मुहावरों की जैसे उपा-सना उर्दूवालों ने की वैसी संभवतः किसी भाषा में न की गई होगी। मुग़ल दरबारों की विलासिता में पल कर उर्दू ने अनोखी कमनीयता प्राप्त की। उर्दू के साधारण से साधारण प्रयोग मुहावरों पर निर्भर हैं। हिंदीवालों ने अपने पड़ोसियों की इस विशेषता की ओर उतना ध्यान

नहीं दिया। ठाकुर इत्यादि कवियों ने लोकोक्तियों का तो प्रयोग किया पर इस बात की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं गई। आधुनिक काल के प्रारंभ के अधिकांश कवि उर्दू-साहित्य की शिक्षा प्राप्त कर चुके थे। स्वयं हरिश्चंद्र जी 'रसा' नाम से उर्दू में कविता करते थे। उर्दू के इस परिचय का प्रभाव हिंदी पर अच्छा ही पड़ा। उर्दूवालों की प्रयोग संबंधी वक्रता हमारी भाषा में भी आई। उर्दू के प्रभाव के साथ ही साथ अँगरेजी का भी प्रभाव पड़ा। अँगरेजी की लाक्षणिकता अपूर्व है। इसमें संदेह नहीं कि हमारी शैली से भी भाषा में नवीन लाक्षणिकता लाई जा सकती है, परन्तु लोगों ने इसकी ओर ध्यान न दिया। अँगरेजी के द्वारा हमारी भाषा में यह विशेषता आई। रत्नाकर जी आदि सज्जन अँगरेजी के उच्च साहित्य के परिचय में आ चुके थे। अतः इनके द्वारा भाषा में नवीनता आने की पूरी संभावना थी। पर सौभाग्य से इन लेखकों को अपनी भाषा की प्रकृति की अच्छी पहिचान थी इस लिए नवीनताओं का स्वागत अपने स्वरूप की रक्षा करते हुए हुआ। आगे चलकर खड़ी बोली के युग में विदेशीपन के लिए जैसा द्वार खोल दिया गया, वैसा ब्रजभाषा में कभी नहीं हुआ। अँगरेजी तथा उर्दू के अलंकारों का भी हिन्दी पर प्रभाव पड़ा।

आधुनिक काल में ब्रजभाषा साहित्य में अनेक उच्चकोटि के ग्रंथ प्रस्तुत किए गए। उद्धवशतक, गंगावतरण, बुद्ध-चरित्र, वीर सतसई, रसकलश इत्यादि उनमें मुख्य हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त और भी अनेक ग्रंथ हैं। अधिक मात्रा में फुटकर रचनाएँ भी की गई हैं। अनेक अनुवाद ग्रंथ भी प्रस्तुत किए गए हैं। अनुवाद संस्कृत तथा अँगरेजी दोनों भाषाओं से किए गए हैं। इनमें उत्तररामचरित्र, मालतीमाधव, ऋतुसंहार, रघुवंश, मेघदूत, ऊजड़ ग्राम, मुद्राराक्षस इत्यादि मुख्य हैं। इनका सविस्तर वर्णन कवियों के प्रसंग में दिया जावेगा। इन अनुवादों में भी ब्रजभाषा अपने स्वरूप को बनाए रखने में समर्थ रही। इस प्रकार के अनुवादों में-से अधिकांश स्वतन्त्र रचना से प्रतीत होते हैं, उनमें मौलिकता का आनन्द आता है। खड़ी बोली के इस युग में की ये

कृतियाँ इस तथ्य की घोषणा करती हैं कि ब्रजभाषा का माधुर्य्य अनोखा है। आगे चलकर खड़ी बोली का आन्दोलन प्रारंभ हुआ। भाषाविज्ञान से अपरिचित कुछ लोगों को दूर की सूझी। वे कहने लगे कि ब्रजभाषा हिंदी ही नहीं है। फिर क्या था, खड़ी बोली में कविता भी होने लगी। पर संभवतः अभी तक खड़ी बोली वैसी काव्योचित कोमलता नहीं संपादित कर पाई जैसी अपेक्षित है। रत्नाकर जी के उठ जाने से ब्रजभाषा में कुछ स्तब्धता सी आई। यद्यपि वियोगीहरि आदि सज्जन अभी डटे ही हैं, पर आधुनिक प्रवृत्तियो को देखने से पता चलता है कि ब्रज का काव्य-क्षेत्र से जो बहिष्कार प्रारंभ हुआ है वह और भी उग्र होता जायगा।

ब्रजभाषा के प्रमुख कवि तथा उनकी रचनाएँ

सेवक—(संवत् १८७२-१९३८) ये असनी वाले प्रसिद्ध ठाकुर कवि के पौत्र थे और काशी के रईस, बाबू देवकीनंदन के प्रपौत्र बाबू हरिशंकर के आश्रय में रहते थे। काशीनरेश श्री ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह जी भी इन पर बहुत स्नेह रखते थे। इन्होंने अपना परिचय स्वयं इस प्रकार दिया है:—

श्री ऋषीनाथ कौ हौं मैं पनाती
औ नाती हौं श्री कवि ठाकुर केरो।
श्री धनीराम को पूत मैं सेवक
सकर को लघु बन्धु ज्यों चेरो॥
मान को बाप बबा कसिया को
चचा मुरलीधर कृष्णहुँ हेरो।
असिनी मैं घर कासिका मैं
हरिसंकर भूपति रक्षक मेरो॥

इनका बनाया हुआ 'वाग्विलास' नामक नायिका-भेद का ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है जो राजा कमलानंदसिंह के प्रबन्ध से प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त बरवै छंद में इनका नखशिख भी है जो संभवतः कहीं

से प्रकाशित नहीं हो पाया है। 'वाग्विलास' की भूमिका में पं० अंबिका-दत्त व्यास ने इनके बनाए एक छन्द-शास्त्र के ग्रंथ का भी उल्लेख किया है, पर वह प्राप्य नहीं है। इनका भाषा पर अच्छा अधिकार था। ये रीतिकाल का स्मरण दिलानेवाले एक प्रौढ़ कवि थे। अपने वाग्विलास ग्रंथ में विषय को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने स्थान स्थान पर गद्य का भी प्रयोग किया है। अपने आश्रयदाता के हाथी, घोड़े, उपवन इत्यादि का भी वर्णन इन्होंने किया है। नीचे इनके कुछ छंद दिए जाते हैं—

सेइ रहो कासी हरिसंकर कृपा सों खासी
जगत में जाहिर जो सब सुख सोतु है।
फेरि कछु रावरे सों चाह मिलिबे की भई
अधिक सों अधिक फलनवारो गोतु है॥
महाराज ईस्वरीनरायन प्रसाद यह
संका भई सेवकै सो करत उदोत है।
रावरी पुरी को मिलि होत विस्वनाथ नाथ!
आपके मिलते धौं कहाँ को नाथ होतु है॥

* * * *

देवी औ असुर देवासुर के समरहूँ मैं खाएँ
मास रुधिर अघाएना कमैं भयो।
आई ना डकार राम रावन के संगर मैं
पारथ के भारत कलेवै करमैं भयो॥
'सेवक' भनत मोसों भाखत यौं रुद्रगन
और रन छुद्र मैं परासन जमैं भयो।
ईस्वरी नारायन बली के तेग तीरन सों
बारन सों खेत में अजीरन हमैं भयो॥

महाराज रघुराजसिंह रीवाँ-नरेश (संवत् १८८०—१९३६)

ये राम के उपासक थे। इन्होंने भक्तिभावपूर्ण बहुत सुंदर रचनाएं की हैं। इनके मृगया इत्यादि के वर्णन बहुत ठीक उतरे हैं; इसका कारण

यह है कि ये राजा थे और अपने जीवन के प्रारंभ में मृगया इत्यादि के रसिक थे। इनकी शृंगारी कविताएँ भी सरस तथा मार्मिक हुई है। इनका स्वच्छ तथा चलती हुई भाषा पर अच्छा अधिकार था। ये भाषा-काव्य की परंपरा से भलीभाँति परिचित थे; इसके प्रमाण इनकी कविताओं में बराबर मिलते हैं। ये स्वयं तो कविता करते ही थे अन्य कवियों को भी कविता करने के लिए प्रोत्साहित किया करते थे। इनके द्वारा बहुत से कवियों को आश्रय मिला था। इनके बनाए अनेक ग्रंथ प्रचलित हैं जिसमें रामस्वयंवर, रुक्मिणी परिणय, आनंदांबुनिधि, रामाष्टयाम इत्यादि बहुत प्रसिद्ध हैं। भक्ति तथा शृंगार की कविताएँ इनकी बहुत प्रसिद्ध हैं। राजसी ठाटबाट, मृगया इत्यादि के वर्णन करने में वस्तुओं की नामावली प्रस्तुत करनेवाली प्रणाली का इन्होंने अनुसरण किया है। भक्ति-विषयक अनेक स्वतंत्र कल्पनाएँ भी इन्होंने की हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते है :—

जैसो कोप कीजै तैसो दोष नहिं मेरे जान,
हानि लाभ का भयो पुरान धनु तोरे ते।
छुवतहीं टूट्यो नहिं जोर पर्‌यो राम नेकु,
अवै ना नसान कछु जुरि जाई जोरे ते।
केते तोरि डारे धनु खेलत सिकार मैं,
कबहुँ न कीन ऐसो कोप और छोरे ते।
'रघुराज' राजन की रीति नहीं जानौं विप्र,
करो कहुँ जाय तप जानो कहे थोरे ते।

* * * *

डरत हुतो जो भौन प्रेत परिछाहीं जानि,
ताड़का भयंकरी कौन विधि मार्‌यो है।
जात जो सहमि सुनि राक्षस कहानी कान,
मुनि मख राखि सो निसाचर संहार्‌यो है॥
फटकि-फरस खेले कबहुँ न नारि कढ़ी,
गौतम की गेहनी सो सिलाते निकार्‌यो है।

भनै 'रघुराज' साँचि भाखौ तिरहूत दूत,
भूतपति धनु मेरो पूत तोरि डार्‌यो है ॥"

सरदार—ये काशी-नरेश महाराज ईश्वरीप्रसादनारायणसिंह के दरबारी कवि थे। इनका कविता-काल संवत् १६०२ से १९४० तक माना जाता है। ये पुरानी काव्य-धारा का निर्वाह करनेवाले एक प्रसिद्ध कवि थे। अपने समय में इनकी बहुत प्रतिष्ठा थी। इनके शिष्यों में नारायण कवि आदि उच्चकोटि के विद्वानों की गणना होती है। अपने शिष्य नारायण कवि के साथ इन्होंने केशव की 'रसिकप्रिया' तथा 'कविप्रिया' पर विस्तृत टीकाएँ लिखी हैं। टीकाओं की भाषा वही विकृत ब्रज है, जिसमें न तो प्रवाह होता था न भावों को पुष्टता से व्यक्त करने की शक्ति। सूर के दृष्टिकूटों पर तथा बिहारी-सतसई पर भी इनकी टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। अपनी टीकाओं में इन्होंने अलंकार-निर्णय का भी प्रयत्न किया है। एक प्रौढ़ टीकाकार होने के साथ ही ये एक उच्चकोटि के कवि भी थे। मिश्रबंधुओं ने तो इनको 'पद्माकर की श्रेणी' में माना है। ब्रजभाषा पर इनका बहुत अच्छा अधिकार था। काव्य की पुरानी परिपाटी से भलीभाँति परिचित थे। यद्यपि बहुत मौलिक कल्पनाओं का श्रेय इन्हें नहीं दिया जा सकता, फिर भी इतना तो स्वीकृत करना ही चाहिए कि ये अपने विचारों को प्रवाहयुक्त भाषा में व्यक्त कर लेते थे। इनके बनाए हुए साहित्य-सरसी, व्यंग्य-विलास, षड्ऋतु, हनुमतभूषण, तुलसीभूषण, शृङ्गारसंग्रह, रामरत्नाकर, साहित्यसुधाकर रामलीला-प्रकाश आदि अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इन्होंने बाबू हरिश्चंद्र जी के पिता बाबू गोपालचंद्र के बलराम-कथामृत के आदि के स्तुतिप्रकाश को लेकर एक टीका लिखी थी। इनकी कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

"परिपूरन प्रेमतें पागि सिवा प्रति जाम पतिव्रत पालती हैं।
निसबासर ध्यान धरे तिनको मन ते तन नेक न हालती हैं॥
'सरदार' निबाहनहार वही हम कौन कला लखि लालती हैं।
ननदी ये तिहारी सदा बतियाँ नटसाल लौं साहब सालती हैं॥

सरस सुयस ससि उदित होहि दिन रैनि प्रकासित।
मारतण्ड उद्दण्ड तेज ब्रह्मण्ड विलासित ॥
पंचदेव परपूर क्रिया दृग कोर निहारै।
दुस्मन दावादार पाँय पर सीस सु धारैं ॥
सरदार स्वच्छ अतलच्छ ग्रह अच्छ-अच्छ क्रीडा करो।
पुत्रन समेत ईश्वर नृपति जो सीस विप्र आसिस धरो ॥"

बाबा रघुनाथदास रामसनेही—ये अयोध्या के एक महंत थे। अयोध्या के रामघाट के रास्ते पर राम-निवास नामक एक स्थान है, वहीं रहते थे। इन्होंने संवत् १९११ में 'विश्रामसागर' नामक एक बृहत् ग्रंथ तुलसीदास की भाँति दोहा चौपाई के क्रम से बनाया है जिसमें भगवान् के राम तथा कृष्ण के अवतारों को और पुराणों की अन्य अनेक कथाएँ बड़े संक्षेप से वर्णित हैं। काव्य-कल्पना तथा मौलिकता की दृष्टि से ग्रंथ का अधिक महत्व नहीं है, पर साधारण भक्तों तथा स्त्रियों में इस ग्रंथ का बहुत प्रचार है। इन पर तुलसीदास का बहुत प्रभाव पड़ा है। भाषा तथा भाव दोनों पर 'मानसी' छाप लगी है। इन्होंने भाषा का लक्षण इस प्रकार दिया है:—

संस्कृत प्राकृत फारसी विविध देस के ऐन।
भाषा ताको कहत कवि तथा कीन्ह मैं ऐन ॥

भाषा विषयक अपने इस सिद्धांत का पालन भी इन्होंने किया है। इनकी भाषा में उतनी प्रौढ़ता नहीं आने पाई है। इनके कुछ उदाहरण लीजिए:—

"सुभकर्म ज्ञानव भक्ति तिहूँ बिन जन्म मरण न छूटई।
कहुँ जाइ सुरपुर नागपुर महि गिरत यम गण कूटई ॥
*　　　*　　　*
सुनि भूप ऋषि के वचन त्रियै पुत्रशोक बिहाई कै।
लागे करन जप जोग संयम ज्ञानयुक्तिहि पाइ कै ॥
*　　　*　　　*
नंद संग जे गोप हैं, लूटि लेउ तुम झारि।
उग्रसेन वसुदेव को, अबहीं डारो मारि ॥

सुनत कृष्ण ढिग पहुँचे जाई। पकरि शिखा महि दीन गिराई॥
काढ़े प्राण घसीट घसीटी। डारे सकल निसाचर पीटी॥
लखि सुर हर्षि सुमन बरषाये। कढ़िलावत यमुना तट ल्याये॥
तहँ विस्राम कीन मन भावा। सोइ विस्रामघाट कहलावा॥

ललित किशोरी तथा ललित माधुरी—ये दोनों वैश्य बंधु लखनऊ के रहनेवाले थे। पीछे विरक्त होकर वृन्दावन में रहने लगे थे; जहाँ इन्होंने प्रसिद्ध साहजी का मंदिर बनवाया। इन दोनों भाइयों ने मिलकर रचनाएँ की हैं। पर अधिक रचनाएँ ललित किशोरी ही की मिलती है। ललित किशोरी जी का गृहस्थाश्रम का नाम साह कुन्दनलाल था। इनका कविता-काल संवत् १९१३ से १९३० तक माना जा सकता है। ये एक सच्चे भक्त थे भक्त हृदय की कोमलता तथा आर्द्रता इनकी कविता में सर्वत्र मिलती है। इन्होंने कृष्ण के चरित को अपनी कविता का विषय बनाया; पर ये कृष्ण के जीवन के एक बहुत ही संकुचित अंश को लेकर चले। इनकी कविताओं में प्रायः गोपी कृष्ण ही के दर्शन होते हैं। कृष्ण के चरित्र के और अंश इन्होंने छोड़ दिए। हिंदी के कवियों ने प्रायः कृष्ण की बाल तथा यौवन-लीलाओं का ही विस्तार से वर्णन किया है। इनका ब्रजभाषा पर अच्छा अधिकार था। भाषा इनकी मधुर तथा प्रवाहयुक्त है। इन्होंने कुछ गजलें भी बनाई हैं। इनके कुछ उदाहरण लीजियेः—

"कब हौं सेवा कुंज कौ ह्वैहौं वृच्छ तमाल।
ललिता कर गहि विरमिहैं ललित लड़ैती लाल॥
मिलिहै कब अँग छार ह्वै श्रीवन-बीथिन-धूरि।
धरिहैं पद पंकज बिमल, मेरे जीवन-मूरि॥

*   *   *

जमुना पुलिन कुंज गहवर की कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै मधुरे-मधुरे गुंज सुनाऊँ॥
कूकुर ह्वै बन बीथिन डोलौं, बचे सीथ सन्तन के पाऊँ॥
'ललित किसोरी' आस यही मम, ब्रज रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

लाभ कहाँ कंचन तन पाए।
वचननि मृदुल कमलदल लोचन दुख मोचन हरि हरषि न ध्याए॥
तन मन धन अरपन नहिं कीनो प्रान प्रान-पति गुननि न गाए।
यौवन धन कलधौत धाम सब मिथ्या सिगरी आयु गवाए॥
गुरुजन गरब विमुख रँगराते डोलत सुख सम्पति बिसराए॥
'ललित किसोरी' मिटै ताप नहिं बिन दृढ़ चिंतामनि उर लाए॥

राजा लक्ष्मणसिंह—(संवत् १८८३-१९५३) इनको राजभक्ति के कारण राजा की पदवी प्राप्त हुई थी। इन्होंने कालिदास के शकुन्तला, मेघदूत तथा रघुवंस के अनुवाद किए हैं। इनकी व्रजभाषा में वह प्रान्तीय मिठास है जो व्रजभूमि से दूर रहकर तथा ग्रंथों से व्रजभाषा पढ़कर रचना करनेवाले कवियों में नहीं मिलती। इनके अनुवाद बहुत ही उच्च-कोटि के हुए है। मूल के भावों की रक्षा करने के साथ ही व्रज की परंपरा तथा मुहावरों का भी ध्यान रखा गया है। मेघदूत का अनुवाद यद्यपि बहुत ललित भाषा में हुआ है पर उसमें प्रवाह की कुछ कमी खटकती है। राय देवीप्रसाद जी के अनुवाद में जैसा प्रवाह मिलता है, वैसा इनके अनुवाद में नहीं है। शकुन्तला के श्लोकों के अनुवाद आपने पद्य में किए हैं, जो बहुत ही ललित हुए हैं। व्रजभाषा में ऐसे ढंग से अपने मल के भावों को ढाला है कि अनुवाद स्वतंत्र रचना-से प्रतीत होते हैं। आपकी शकुन्तला' के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं:—

"हिमांसू चन्दा सों कुसुम सर तोसों कहत ज्यों।
नहीं साँचे दोऊ इन गुनन मोसे जनन को॥
खरी छोड़े ज्वाला वह किरन पाला संग धरी।
तुहू वज्राकारी निज सुमन के बानन करे॥

* * *

"कहुँ दाभन तें मुख जाको छिद्यौ जब तू दुहिता लखि पावति ही।
अपने करते तिन घावन पै तुही तेल हिंगोट लगावति ही॥
जिहिं पालन के हित धान समा नित मूठिहि मूठि खवावति ही।
मृग छौना सो तेरे पग कैसे तजै जाहि पूत सो लाड़ लड़ावति ही॥"

लछिराम-ब्रह्मभट्ट—(जन्म संवत् १८९८) इनका जन्म जिला बस्ती के अमोढ़ा नामक स्थान में हुआ था। ये बहुत दिनों तक अयोध्या नरेश 'द्विजदेव' के आश्रय में रहे। बहुत सी रियासतों में इनका सम्मान होता था। 'देव' के समान इन्होंने भी अपने आश्रय-दाताओं का गुण-गान किया है। इनके ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—मानसिंहाष्टक, प्रताप रत्नाकर, प्रेम रत्नाकर, लक्ष्मीश्वर रत्नाकर, रावणेश्वर कल्पतरु, कमलानंद कल्पतरु। 'रावणेश्वर कल्पतरु' नामक इनका काव्यांगों का ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध है। पद्माकर के बाद पिछले काल में संभवतः ये ही सबसे प्रसिद्ध कवि हुए। शब्दों को मनमाने ढंग से तोड़ने-मोड़ने की प्रवृत्ति के दर्शन इनकी कविता में भी होते है। इन्होंने अरबी, फारसी के शब्दों को भी निःसंकोच अपने काव्य में स्थान दिया है। ये अपनी रचनाएँ कभी-कभी काशी के कवि-समाज में भी पढ़ा करते थे। इनके काव्य में वाक्यों का संगठन ठीक अन्वय के साथ नहीं हो पाता था और कहीं-कहीं छंद की मात्राएँ पूरी करने के लिए अनावश्यक शब्द भी भर दिए जाते थे। इनकी कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं :—

"पांय पराग सन्यौ भृगु को भज्ञो हीतल पंकज हार विराज है।
त्यों 'लछिराम' विभीषन भाल पै टीको त्रिकूट धरा सिरताज है॥
और कहा 'लछिराम' कहै फल सेवरी को विरदावली साज है।
श्री रघुवीर गरीब नेवाज सों दूसरो कौन गरीब नेवाज है॥

* * * *

सहज सिकार मैं सवाँरयौ चतुरंगिनी त्यों,
जगमगै जोर जोगनीन की जमाति है।
हरषि असीसैं देत भूतन की माला घोर,
पीसैं दांत मासु हेत प्रेतन की पांति है।
हौदा मैं सवार रावणेश्वर प्रसाद सिंह,
कर बर कातिल कृपान लहराति है।
चंद्रवंस कलस कहर कमनैत वीर,
कौन पै करैगो आज कतल की राति है॥

बेनी द्विज—ये अपने अंतिम समय में काशी में रहते थे। इनका जन्म काल संवत् १६०० के लगभग था। इनकी कविता ऐसी उच्चकोटि की नहीं होती थी परंतु रीतिकाल की परंपरा का निर्वाह करनेवालों में संभवतः ये अंतिम कवि थे; अतः ऐतिहासिक दृष्टि से इनका कुछ महत्त्व अवश्य है। इनका कोई ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ। इनकी कविताओं का एक हस्तलिखित संग्रह हमारे पास है जिसमें दो चार सौ रचनाएँ हैं। इनके कुछ उदाहरण दिए जाते हैं:—

"सीताराम लखन विलोकि ग्राम नारी नर,
मोहित ह्वै ठाढ़े सारे यक टक लायकै।
तामैं जे सयानी नारी अरज गुजारी आनि,
जनक दुलारी आगे सीसन नवायकै॥
काको हौ पियारी दोऊ राजहंस बंमन मैं
'बेनी द्विज' दीजिये दया सों समुझायकै।
लाजन लजाय अकुलाय सबै सैनन सों
दीन्हों है लखाय रामैं मुरि मुसकायकै॥

* * * *

घर घर घाटन मैं बाटन बगीचिन मैं,
पायो ना कहूँ पै जाय जित अभिलाख्यो मैं।
खोजि खोजि हारी 'द्विजबेनी' मैं तिहारी सौंह,
थकित चकित चित बिसमय चाख्यो मैं।
मोय गई सम मौं बिहाल लाल आयो तबै
नी ही मैं प रि बिनै के बैन भाख्यो मैं।
एरी मेरी बीर इन नैनन मैं भोरहीं ते,
र ना करौ री चितचोर मूँदि राख्यो मैं॥

गोविन्द गिल्लाभाई—(जन्म संवत् १६०५) प्राचीन समय में गुजरात में ब्रजभाषा काव्य का बहुत प्रचार था। अनेक गुजराती कवियों ने इस भाषा में रचनाएँ की हैं। इन कविताओं के प्रचार का एक मुख्य

कारण वैष्णव धर्म था। सूरदास, मीरा आदि भक्त कवियों की रचनाओं का प्रचार भक्तों द्वारा गुजरात में हुआ। आज दिन तक वैष्णव घरानों में ब्रजभाषा की भक्तिमय कविता का समुचित प्रचार है। गोविंद गिल्ला-भाई ने गुजराती होते हुए भी ब्रजभाषा में बहुत मधुर रचनाएँ की हैं। इनकी कविताओं से यह नहीं ज्ञात होता है कि किसी भिन्न प्रांतवाले की रचनाएँ हैं। इनके पास ब्रजभाषा के ग्रन्थों का एक अच्छा संग्रह भी था। 'भूषण' का एक बहुत प्रामाणिक संस्करण इन्होंने निकाला था। इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं:—नीति विनोद, शृङ्गार सरोजिनी, षड्ऋतु, पावस पयोनिधि, समस्यापूर्ति प्रदीप, वक्रोक्ति विनोद, श्लेष चन्द्रिका, प्रारब्ध पचासा, प्रवीन सागर, राधामुख षोड़सी आदि। ये समस्यापूर्तियाँ भी अच्छी कर लेते थे। काशी-कवि-समाज की समस्याओं की पूर्तियाँ इन्होंने बहुत ही सुन्दर ढंग से की हैं। इनके कुछ उदाहरण दिए जाते हैं:—

"बारिद के बुंद मंद मंद बरसत अरु, मंद मंद बोलत मयूर मन भावनो।
चंचला चमक चहुँ ओर लसै मंद मंद, मारुत सुहात सुख छावनो॥
मंद मंद झूलत हिंडोरैं नर नारि सबै, मंद मंद पपिहा पुकारै पिय आवनो।
गोविंद अनेक ऐसे कौतुक उपावन को, आयो मनभावन या सावन सुहावनो॥

* * *

सरप तें छूटे कान्ह आय अवलोकि सबै, ब्रज की बधूटी बपु भाय को भरति है।
कोऊ राई नोन लाइ ऊपर उतारै पुनि, कोऊ रच्छासूत्र लाइ कंठ में धरति है॥
कोऊ लाई कुसुम को सिर पै चढ़ति पुनि, कोऊ आइ आसिख अनूप उचरति है।
'गोविंद सुकवि' पर मात जसुदा जी भरि, मोतिन के थाल को निछावर करति है॥

हनुमान—ये प्रसिद्ध कवि मणिदेव बंदीजन के पुत्र थे। इनके पुत्र कविवर शीतलप्रसाद जी अभी काशी जी में रहते हैं। हनुमान के कविता पढ़ने का ढंग बहुत प्रभाव डालनेवाला होता था। इनके पढ़ने पर मुग्ध होकर हरिश्चन्द्र जी ने इनको एक बार एक बहुमूल्य दुशाला तथा हीरे जड़ी सोने की अँगूठी दी थी। इनका बनाया हुआ कोई ग्रन्थ देखने में नहीं आया परंतु संग्रह ग्रन्थों में इनके शृङ्गार-रस के फुटकर छन्द मिलते हैं जिनको देखने से प्रतीत होता है कि ये एक श्रेष्ठ कवि थे।

इनका काशीवास ३८ वर्ष की अवस्था में संवत् १९३६ में हुआ था। कुछ उदाहरण :—

"निज चालसों और जे बाल तिन्हें कुल की कुलकानि सिखावती हैं।
ननदी और जेठानी हँसावें तऊ हँसी ओंठनही लौं बितावती हैं॥
हनुमान न नैको निहार कहूँ दृग नीचे किए सुख पावती हैं।
बड़भागिनि पी के सोहाग भरी कबौं आँगनहू लौं न आवती हैं॥

भारतेंदु हरिश्चंद्र—(संवत् १९०७-१९४२) जिस समय वर्त्तमान काल अपनी शैशवावस्था को पार कर रहा था उसी समय भारतेंदु का उदय हुआ। ये आधुनिक काल के प्रथम प्रौढ़ लेखक थे। इसके अतिरिक्त इन्होंने भाषा साहित्य की प्रतिष्ठा-वृद्धि तथा प्रचार में बहुत योग दिया। इस दृष्टि से आधुनिक साहित्य के संस्थापक माने जाते हैं। इनके प्रयत्न अनेक दिशाओं में हुए थे। ये नाटककार, गद्य-लेखक, सहृदय कवि तथा समाज-सुधारक सब कुछ थे। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। इनके अनेक प्रयत्नों का उल्लेख खड़ी बोली के साथ किया जायगा। यहाँ तो इनकी कविता का महत्व ही विचारणीय है। इनके पिता एक उच्चकोटि के कवि थे, जिनके बनाए हुए चालिस के लगभग ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त उस समय काशी में सेवक, सरदार, नारायण, हनुमान, दीनदयाल गिरि, दत्त, द्विज मन्नालाल आदि अनेक श्रेष्ठ कवियों का समाज एकत्र था। इन सब परिस्थितियों का फल यह हुआ कि छोटी ही अवस्था से हरिश्चन्द्र जी ने सुन्दर रचनाएँ प्रारंभ कर दीं। इनकी सबसे प्रारंभिक रचनाएँ ही इस बात का प्रमाण देने लगीं थी कि उनके भीतर श्रेष्ठ कवि हृदय है। सबसे पहले यह पद बना था :—

हम तो मोल लिये या घरके,
दास दास श्रीवल्लभकुल के चाकर राधावरके।
माता श्री राधिका पिता हरि बन्धु दास गुनकरके।
हरीचंद तुम्हरे ही कहावत नहिं विधिके नहिं हरके॥

इनकी प्रतिभा के प्रमाण बाल्यावस्था से ही मिलने लगे थे। जिस समय इनकी अवस्था केवल १२ वर्ष की थी उसी समय इन्होंने अपनी

उद्भावना-शक्ति का प्रमाण वात्सल्य, सख्य, भक्ति, आनंद चार अतिरिक्त रसों की कल्पना करके दिया था। हरिश्चंद्र जी के तर्कों से सहमत होकर काशिराज के तत्कालीन श्रेष्ठ पंडित श्री ताराचरण तर्करत्न ने इनकी उद्भावना का बड़े सम्मान से अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया था। आशु कविता करने की इनकी शक्ति विचित्र थी। एक बार महाराज बनारस के दरबार में एक समस्या दी गई थी जिसकी पूर्ति उस समय किसी को न सूझी। जब वहाँ हरिश्चंद्र जी पहुँचे तो उन्हें भी वह समस्या सुनाई गई। इन्होंने उसी समय पूर्ति कर दी। इनकी इस शीघ्रता को देखकर कुछ लोगों को यह संदेह हुआ कि इन्हें वह पूर्ति पहले से याद थी। यह सुनकर ये आवेश में खड़े हो गए और बीसों पूर्तियाँ बनाकर सुनाई। काशिराज के बहुत आग्रह करने पर इन्होंने अपना प्रवाह रोका। इतनी शक्ति लेकर इन्होंने कविता की उपासना प्रारंभ की थी। भाषा के शिष्ट व्यावहारिक रूप से ये भलीभाँति परिचित थे, अतः इनकी भाषा बहुत ही प्रवाहयुक्त तथा परिष्कृत हुई। प्राकृत तथा अपभ्रंश काल के शब्दों को इन्होंने अपनी रचनाओं में स्थान ही नहीं दिया। शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की प्रवृत्ति जिसका आश्रय अप्रौढ़ कवि ग्रहण किया करते थे इनकी कविता में एकदम नहीं आने पाई। ये अपने निजी जीवन में बहुत ही रसिक तथा भावुक थे। इस भावुकता के कारण इनकी कविता को अपूर्व माधुर्य्य प्राप्त हुआ। बिना अनुभूति के केवल कल्पना पर निर्भर रहनेवाली कविता में सजीवता नहीं होती। जिन्हें जीवन की मार्मिकता का साक्षात् परिचय होता है उनके लिए कवित्व-शक्ति पाना प्रायः दुर्लभ ही होता है। पर हरिश्चंद्र जी में सौभाग्य से इन दोनों का योग था। अतः इनकी कविता अत्यंत सरस, स्निग्ध तथा सजीव हुई। इसके अतिरिक्त ये कविता को हमारे आधुनिक जीवन के संपर्क में भी लाए। देश-भक्ति, समाज-सुधार प्रकृति-वर्णन आदि नवीन विषयों को इन्होंने कविता में स्थान दिया। इनकी देशभक्ति की भावना उग्र ढंग की न थी। अँगरेजी राज्य के साथ-साथ देशोन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने में ये देशभक्ति मानते थे। इनके राजनीतिक विचार नीचे की पंक्तियों से जाने जा सकते हैं:—

पृथीराज जयचंद कलह करि यवन बुलायो।
तिमिर लंग चंगेज आदि बहु नरन कटायो।
अलादीन औरंगजेब मिलि धरम नसायो।
विषय वासना दुसह मुहम्मद सा फैलायो।
तब लौं बहु सोये वत्स तुम जागे नहि कोउ जतन;
अब तौ रानी विक्टोरिया, जागहु सुत भय छाँड़ि मन।

तथा

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी,
पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।

समाज-सुधार के नवीन ढंग के विचार उस समय इतने नहीं उठ पाये थे; फिर भी उन्होंने अपने समाज की त्रुटियों को देख लिया था तथा अपनी कविता द्वारा सुधार के प्रयत्न में योग देना भी प्रारंभ कर दिया था। इस विषय की इनकी कविता के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं:—

रचि बहु बिधि के वाक्य पुरानन माहि घुसाए।
सैव साक्त वैष्णव अनेक मत प्रगट चलाए।
विधवा व्याह निषेध कियो विभिचार प्रचार्यो।
रोकि विलायत गमन कूप मंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सों सब विमुख किये हिंदुन घबराई।
अपरस सोल्हा छूत रचि भोजन प्रीति छुड़ाय।
किये तीन तेरह सबै चौका चौका लाय।

लोक पर दृष्टि रखते हुए भी इन्हें एक भक्त हृदय प्राप्त था। इनके जीवन की रसिकता भगवान् के सम्मुख एक अपूर्व प्रेममय भक्ति में परिवर्त्तित हो जाती थी। वास्तव में भक्तों के लिए सरसता अवश्य अपेक्षित है। शुष्क, उदासीन स्वभाव के व्यक्ति योगी, वेदान्ती तो हो सकते हैं पर भक्त हृदय की स्निग्धता उनमें नहीं मिल सकती। इनके भक्ति के कुछ छंद नीचे दिए जाते हैं:—

भरत नेह नवनीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अलौकिक घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर।

* * *

ब्रज के लता पता मोहि कीजै।
गोपी पद पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै।
आवत जात कुंजकी गलियन रूप सुधा नित पीजै।
श्री राधे-राधे मुख यह वर मुँह माग्यौ हरि दीजै।

* * *

गोपिन की सरि कोऊ नाहिं।
जिन तृन सम कुल लाज निगड़ सब तोर्यों हरि रस माहीं।
जिन निज बस कीने नँदनंदन बिरही दै गलबाहीं।
सब संतन के सीस रहौ, इन चरन छत्र की छाहीं।

* * *

छिपाये छिपत न नैन लगे।
उघरि परत सब जानि जात हैं घूंघट मै न खगे।
कितनो करौ दुराव दुरत नहीं जब ये प्रेम पगे!
निडर भये उघरे से डोलत मोहन रंग रँगे।

इनकी प्रकृति-वर्णन की कविताएँ भी सरस होती थीं। इसमें संदेह नहीं कि इनकी इस प्रकार की कविताओं में आलंकारिक ढंग से उपमान प्रस्तुत करने की रुचि लक्षित होती है, फिर भी इस विषय की रचनाएँ इनकी उस वृत्ति की सूचना अवश्य देती हैं जो प्रकृति के सुन्दर दृश्यों से अनुराग रखती है। एक उदाहरण लीजिए:—

कबहुँ होत सत चंद कबहुँ प्रकटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस बिंब रूप जल से बहु साजत।
मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत कलोलै।

इनकी शृंगार रस की कविताएँ इतनी सरस होती थीं कि इनके जीवन काल में ही वे इधर उधर सुनाई पड़ने लगी थीं। इनके सामने

ही ब्रजभाषा के कवित्तों का जो एक बड़ा संग्रह निकाला गया था, उसमें इनकी बहुत सी कविताएँ रखी गई थीं। इनकी शृंगारी कविता के दो उदाहरण दिए जाते हैं:—

जिय सूधी चितौन की साधैं रहीं,
सदा बातन में अनखाय रहे।
हँसिकै हरिचंद न बोलै कमौं,
जिय दूरहिं सों ललचाय रहे।
नहिं नेक दया उर आवत है,
करिकै कहा ऐसो सुभाय रहे।
सुख कौन सो प्यारे दियो पहिले,
जिहिके बदले यों सताय रहे।

* * *

बिछुरे पियके जग सूनो भयो,
अब का करिये कहि पेखिये का।
सुख छाँड़ि के संगम को तुम्हरे,
इन तुच्छन को अब लेखिये का।
हरिचंद जू हीरन को व्यवहार के,
काँचन को लै परेखिये का।
जिन आँखन में तुव रूप बस्यो,
उन आँखिन सों अब देखिये का।

भारतेंदु जी ने काव्य की उन्नति के लिये 'कविता-वर्द्धिनी-सभा' आदि कई समाज स्थापित किए थे। पंडित अंबिकादत्त व्यास ने "पूरी अमी की कटोरिया सी चिरजीवी रहौ विक्टोरिया रानी" पूर्ति पर 'सुकवि' की पदवी इसी सभा से प्राप्त की थी। धन-दान द्वारा भी ये कवियों का उत्साह बढ़ाया करते थे। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी को इन्होंने इस दोहे पर १००) दिए थे:—

राजघाट पर बँधत पुल, जहँ कुलीन की ढेर।
आज गये कल देखिकै आजहि लौटे फेर।

ऊपर कहा जा चुका है कि भारतेंदु जी ने कई कवि-समाज स्थापित किए थे जिनमें समस्यापूर्त्तियों के द्वारा कवियों को उत्साहित किया जाता था। इस प्रकार की कवियों की गोष्ठी की प्रथा तो बहुत प्राचीन है पर इन नवीन समाजों की स्थापना में एक यह विशेषता रहती थी कि इनमें नवीन शिक्षा प्राप्त लोगों का प्रवेश अधिक था। इसका फल यह होता था कि प्राचीन रूढ़िगत शृंगारिक कविताओं के साथ-साथ नवीन विषय भी कविता में आते थे। भारतेंदु जी के बाद इस कवि-समाज का संचालन पं० अंबिकादत्त व्यास तथा बाबू रामकृष्ण वर्मा के उत्साह से होता रहा। काशी के इस कवि-समाज के मंत्री उक्त वर्मा जी ही थे। इसमें दूर दूर के कवि अपनी पूर्त्तियाँ भेजा करते थे। बाहरी लोगों में बाबा सुमेरसिंह, बूँदी की श्रीमती चन्द्रकला बाई, बाबू शिवनंदन सहाय, सिहोर काठियावाड़-निवासी गोविन्द गिल्लाभाई, सीतापुर के ताल्लुकःदार ठाकुर रामेश्वर बक्स सिंह, अयोध्या निवासी कविराज लछिराम जी इत्यादि के नाम मुख्य हैं। स्थानीय कवियों में बाबू रामकृष्ण वर्मा, बेनी द्विज, पं० अंबिकादत्त व्यास, व्रजचंद जी वल्लभीय आदि के नाम मुख्य हैं। इस समाज में कभी-कभी बहुत कठिन समस्याएँ दी जाती थीं।

रत्नाकर जी ने भी अपने प्रारंभिक काल में यहाँ की कुछ समस्याओं की पूर्त्तियाँ की थीं। उस समय तक रत्नाकर जी की कविता में वैसी प्रौढ़ता नहीं आ पाई थी। बाबू रामकृष्ण वर्मा की पूर्त्तियाँ बहुत ही भावपूर्ण होती थीं। इनको देखने से उनका भाषा पर विस्तृत अधिकार प्रतीत होता है। वर्मा जी कविता में अपना नाम बीर अथवा बलबीर रखते थे। समस्यापूर्त्तियों के संग्रहों में, जो इन्हीं के भारतजीवन यंत्रालय से प्रकाशित हुए थे, इनकी सरस कविताओं के उदाहरण देखे जा सकते हैं। कुछ उदाहरण :—

बड़े बड़े विषधारी जाके हैं अहार ऐसो,
भारी पन्नगारी है सवारी देत यान की।
पूतना सँहारी घोर दावानलपानकारी,
छन में बिदारी जाने सेना जातुधान की॥

शेषनाग-सायी जाकी महिमा त्रिलोक छाई,
भुजगविहारी सिव जाकी छवि ध्यान की।
अघासुर मारयो कालीनाग नाथ डारयो ऐसो,
कारो कीलि राख्यो तें अनोखी वृषभान की॥

* * * *

देखो प्रेम-रँग में पगी है वह बाल लाल,
बेसुध भई सी सुधि आपुनी गँवावै है।
पीतपट धारि कटि काछिनी सुधारि सीस,
मुकुट सँवारि ढँग रावरो बनावै है॥
ऐसी वा भई है तनमई तुमही में कान्ह,
एकै धुनि राधे नाम नाम की लगावै है।
बंसीवट बिपिन बिलोको बलबीर बलि,
बीर बलबीर बनी बाँसुरी बजावै है॥

काशी के ब्रजचंद जी वल्लभीय बहुत ही ललित रचनाएँ कर लेते थे। इनके द्वारा प्रणीत कोई ग्रंथ तो देखने में नहीं आया किंतु उपर्युक्त समस्यापूर्त्तियों के संग्रहों में इनकी भी पूर्त्तियाँ संग्रहीत हैं जो इस बात का प्रमाण देती हैं कि ये एक सिद्ध-हस्त कवि थे। भाषा इनकी भारतेंदु जी के टक्कर की होती थी। बहुत से लोग तो इनके कवित्त, सवैयों में ब्रजचंद के स्थान में 'हरिचंद' नाम रखकर पढ़ते हैं। इनकी बहुत सी सुंदर रचनाएँ हरिश्चंद्र जी के नाम से लोक में प्रसिद्ध हो गई हैं। इनके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

चलै री चलै तू अब करै ना बिलंब नेक,
देखिबे को बीर मेरो चित्त तरसत है।
घेरे घनघोर बोलैं कोकिल किसोर मोर,
चारो ओर त्रिविध समीर सरसत है॥
झूलत हिंडोर प्यारे नवलकिसोर दोऊ,
बाजत अनेक वाद्य मोद दरसत है।

गावत हिंडोर मेघ मधुर मलार गुंड,
आज वा कदंबतरे रंग बरसत है ॥

* * *

आई मैं विलोकिबे कौं दोऊ रघुबंसिन कौं,
मानी नाहिं कोऊ गुरु लोगन की हरकन ।
चकित निहारि छबि थकित भई है गति,
जकित भई हौं सखी ठाढ़ी लगी तरकन ॥
मधुरादि मुख श्री सहेलिन निहारत ही,
दोऊ सुकुमारन की लागी छबि छरकन ।
थरकन लागी देह मेरी दोऊ कानन में,
एरी मीनकेतु के धुजा की देख फरकन ॥

बाबू रामकृष्ण की मंडली में पंडित विजयानंद जी का नाम भी उल्लेख्य है। इनका व्रजभाषा पर अच्छा अधिकार था। इन्हीं के उत्साह तथा सहयोग से वर्मा जी ने भारतजीवन पत्र निकाला था। इस पत्र के प्रारंभिक छप्पय बहुत दिन तक ये ही लिखते रहे। इन्होंने मेघदूत का अनुवाद भी पद्य में किया था। ये संस्कृत में भी अच्छी कविता कर लेते थे। एक उदाहरण:—

चुनि कै चूनरी है पहिरावति भाव कै जावक देति है पैया।
आपने हाँथन पाटी सँवारि सिंगार सिंगारि कै लेति बलैया ॥
कैसी भई कुछ जानि परै नहिं श्री कवि पूछे पै भाषत है या।
जीवननाथ की जीवन मूरि ये मेरिउ जीवन मूरि हैं दैया ॥

अन्य नगरों में भी ऐसे ही कवि-समाज स्थापित हो रहे थे। उन कवि-समाजों ने अनेक कवियों की सृष्टि की; बहुत से लोगों को प्रोत्साहित कर कविता के क्षेत्र में आगे बढ़ने में सहायता की। ऐसा ही एक कवि-समाज निजामाबाद (जिला आजमगढ़) में स्थापित था, जिसका संचालन सिक्ख-संप्रदाय के महंत बाबा सुमेरसिंह किया करते थे। इन्हें हिंदी-साहित्य की गंभीर अभिज्ञता थी। ये सत्काव्य के अच्छे पारखी थे। काशी के समाजों में भी इनका आना-जाना बना रहता था। भारतेंदु

जी से इनका घनिष्ठ परिचय था। इन्हीं बाबा जी के यहाँ पहले-पहल पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने समस्यापूर्ति कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया था। इनका 'हरिऔध' नाम भी उसी समय का है। इनकी चर्चा आगे चलकर की जावेगी। कानपुर में भी एक कवि-समाज था जिसमें राय देवीप्रसाद जी पूर्ण ऐसे लोग कविताएँ पढ़ा करते थे।

पंडित अंबिकादत्त व्यास—(संवत् १९१५–१९५७) ये भी बाबू रामकृष्ण वर्मा के कवि-समाज में अपनी पूर्तियाँ पढ़ा करते थे। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। ये आशु कविता भी कर लेते थे। २४ मिनट में १०० श्लोक बना लेते थे। इसी लिए काशी की ब्रह्मामृत-वर्षिणी सभा ने इनको "घटिकाशतक" की पदवी प्रदान की थी। संस्कृत में इनकी बनाई अनेक पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। हिंदी में ये गद्य तथा पद्य दोनों लिखते थे। इनकी कविताएँ प्राचीन ढंग की हुआ करती थीं परंतु उनके साथ-साथ नवीन विषयों का स्वर भी मिला रहता था। 'कंसवध' नामक अंत्यानुप्रास रहित खड़ी बोली में एक बड़ा काव्य भी लिखा था। ये खड़ी बोली में भी अच्छी रचना कर लेते थे। हिंदी में इनकी प्रसिद्धि इनके लिखे 'बिहारी-बिहार' के कारण है। इसमें इन्होंने बिहारी के दोहों पर कुंडलियाँ बनाई हैं। बिहारी के दोहों की भाषा बहुत ही प्रौढ़ तथा चुस्त है। इनकी भाषा अपेक्षाकृत बहुत शिथिल है। बिहारी ने अपने दोहों में भावों को इतनी सुंदरता से भर दिया है कि आगे भाव बढ़ाने का अवसर ही नहीं रह जाता, फिर भी इनका प्रयत्न प्रशंसनीय अवश्य है। नीचे इनकी एक कुंडलिया तथा कुछ और कविताएँ दी जाती हैं—

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे, स्याम हरित दुति होय।
स्याम हरित दुति होय, परत तन पोरी झाईं।
राधाहू पुनि हरि होत, लहि स्यामल छाईं।
नयन हरे लखि होत रूप अस रंग अगाधा।
'सुकवि' जुगुल छवि धाम हरहु मेरी भव बाधा।

(काशी वर्णन से)

मधुर दुन्दुभी संग मधुर बाजत सहनाई।
मधुर मधुर ही राग मधुरता हिय बगराई।
अँखियन मैं भरि जात मधुर वह रूप लुनाई।
धन्य मधुरता जहाँ सम्भुहू गये लुभाई।
देव धुनि हू कासी ढिग लहि आनँद सोवति।
परम प्रेम जनु पागि कासिका के पग धोवति।
मुक्ति लता के अंकुर से सींचति सो धावति।
लहरन कों लहराइ प्रेम अतिसै सरसावति।

(खड़ी बोली)

भेद पा सके हैं नहीं वेद औ पुरान वाले
श्रुति और स्मृति जिसही के गुन गाती हैं।
पर्वत की कंदरों में मुनि लोग ढूँढ़ते हैं
जिसकी कहानी सब ज्ञानियों को भाती हैं।
सुकवि सुजान और निपट गँवारों की भी
जिसे याद कर आँखें आँसू ढलकाती हैं।
मेरी है कसम तुझे तू भी चल देख आज
चुटकी बजा के गोपी उसी को नचाती हैं।

श्री नवनीतलाल चतुर्वेदी—(संवत् १६१५-१९८६) ये ब्रजभूमि के निवासी थे। भक्ति रस की सुंदर रचनाएँ कर लेते थे। इनके छोटे छोटे अनेक ग्रन्थ हैं। कुब्जा-पचीसी सबसे प्रसिद्ध है। गोपियों ने तो कुब्जा को भली बुरी सब सुनाई परन्तु कुब्जा की ओर से गोपियों को कुछ न कहा गया। नवनीत जी ने इस पुस्तक में उसी का पक्ष लिया है। उनसे पहले ग्वाल कवि ने भी इसी विषय पर एक कुब्जाष्टक रचा था। इनकी रचनाएँ बहुत सरस हैं। भाषा चलती हुई आई है। रत्नाकर जी ने भी इनसे काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया था और इनको अपना काव्य-गुरु मानते थे। एक उदाहरण:—

प्रेम प्रन प्राग वैठि त्रिपथ त्रिवेनी न्हाय,
पाय पद पूरन प्रवीनता हिये धरी।
'नवनीत' साधे सब साधन सनेह जोग,
जुगत जमाय प्रान ध्यान धारना धरी।
आयो बचि विकल वियोग की तपन तापि,
नाम जपि तेरो तातैं विपत सबै टरी;
रसिक भिखारी एक द्वार पै ठढ्यौ है आइ,
रूप-रस माधुरी की माँगत मधूकरी॥

बाबू राधाकृष्णदास—(जन्म संवत् १९२२) ये बाबू हरिश्चन्द्र जी के फुफेरे भाई थे। इन्होंने भारतेंदु जी की प्रणाली से उनके काम को आगे बढ़ाया। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। ये कवि, समालोचक नाटककार, गद्य-लेखक सब कुछ थे। ब्रजभाषा की सुंदर कविताएँ कर लेते थे। रहीम के दोहों पर बहुत ही सुंदर कुंडलियाँ बनाईं। इनकी रचनाओं के विषय भक्ति तथा शृंगार थे। इनकी कुछ कृतियों का संग्रह बाबू श्याम-सुंदरदास जी के उद्योग से 'राधाकृष्ण-ग्रंथावली' नाम से निकला है। बाबू ब्रजरत्नदास जी (काशी) के पास इनकी बहुत-सी अप्रकाशित कविताएँ पड़ी हैं। एक सवैया दिया जाता है जो ग्रंथावली में नहीं आया है।

मोहन की यह मोहिनी मूरत,
जीय सों भूलत नाहिं भुलाये।
छोरन चाहत नेह को नातो,
कोऊ विधि छूटत नाहिं छुराये।
'दास जू' छोरि कै प्यारै हहा,
हमै और के रूप पै जाइ लुभाये।
भूलि सकै अब कौन जिया उन,
तौ हँसि कै पहिले ही चुराये।

कानपुर के **पंडित प्रतापनारायण मिश्र** (संवत् १९१३-१९५१) ने भी इसी समय हिंदी की महत्त्वपूर्ण सेवाएँ कीं। पद्य की अपेक्षा इनके

गद्य लेखों का अधिक महत्व है। भारतेंदु जी का इन पर बहुत प्रभाव पड़ा था। जब ये स्कूल में थे उसी समय 'कवि-वचनसुधा' को बड़े प्रेम से पढ़ा करते थे। इनका 'ब्राह्मण' पत्र बहुत दिनों तक प्रसिद्ध रहा। उसके विज्ञापन तक कभी कभी पद्य में निकाला करते थे। ये देशभक्त, समाज-सुधारक तथा हिंदी के प्रेमी थे। इन सब बातों की छाया इनकी कविताओं में भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इनकी ब्रजभाषा पर पश्चिमी अवधी का प्रभाव भी लक्षित होता है। 'बुढ़ापा' इत्यादि कुछ कविताएँ तो इनकी प्रान्तीय बोली बैसवाड़ी में ही हैं। कुछ उदाहरण:—

चहहुँ जो साँचौ निज कल्यान, तो सब मिलि भारत संतान।
जपो निरंतर एक ज़बान, हिंदी हिंदू हिन्दुस्तान।
तबहिं सुधरिहै जन्म निदान, तबहिं भलो करिहै भगवान।
जब रहिहै निस दिन यह ध्यान, हिंदी हिंदू हिन्दुस्तान।

* * * *

बनि बैठी है मान की मूरति सी मुख खोलत बोलत 'नाहिं' न 'हाँ'।
तुमही मनुहारि कै हारि परे सखियान की कौन चलाई तहाँ।
बरषा है प्रताप जू धीर धरौ, अब लौं मन को समझायो जहाँ।
यह ब्यारि तबै बदलैगी कछू, पपिहा जब पूछिहै 'पीव कहाँ'।

* * * *

आगे रहे गनिका गज गीध सुनौ अब कोऊ दिखात नहीं है।
पाप-परायन ताप भरे 'परताप' समान न आन कहीं है॥
हे सुखदायक प्रेमनिधे जग यों तौ भले और बुरे सबहीं हैं।
दीनदयाल औ दीन प्रभो तुमसे तुमहीं हमसे हमहीं है॥

उपाध्याय बदरीनारायण (प्रेमघन)—(संवत् १९१२-१९८०) ये उर्दू में भी कविता करते थे। उर्दू कविता के लिए इन्होंने अपना नाम 'अब्र' रखा था। हिंदी कविताएँ 'प्रेमघन' नाम से निकलती थीं। भारतेंदु जी से परिचय होने के बाद से ये बराबर हिंदी की सेवा करते रहे। 'आनंदकादंबिनी' मासिक पत्रिका तथा 'नागरी नीरद' साप्ताहिक पत्र

इन्हीं के सम्पादकत्व में निकले थे। इनका ब्रजभाषा पर अनन्य प्रेम था। खड़ी बोली का आंदोलन इनके समय में प्रारंभ हो गया था परंतु उसका इन पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा। 'आनंद अरुणोदय' के अतिरिक्त इन्होंने खड़ी बोली में और रचनाएँ नहीं कीं। इनकी कविताओं के विषय प्रायः नवीन रहते थे। देश की परिस्थिति, देशभक्ति, हिंदी-प्रचार आदि पर इनका ध्यान अधिक रहता था। कभी ये भारत की दुर्दशा देखकर क्षुब्ध होते थे, कभी दादाभाई नौरोजी के पार्लमेंट का मेम्बर होने से प्रसन्न। देश के धार्मिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों से इनको सहानुभूति थी। कांग्रेस की बैठकों में प्रायः सम्मिलित हुआ करते थे। हिंदी के कचहरियों में प्रवेश पाने के अवसर पर तथा प्रयाग के ,सनातन धर्म सम्मेलन के अवसर पर इन्होंने सुंदर रचनाएँ की थीं। ये अपने समय की भावनाओं के प्रतिनिधि कवि थे। उस समय के समाज की जो जो भावनाएँ एवं आकांक्षाएँ थी सबसे इनकी सहानुभूति थी और इन्हीं सामयिक विषयों को ये काव्य में निबद्ध करते थे। नीचे इनके कविताओं के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

(दादाभाई के पार्लमेंट के मेम्बर होने के अवसर पर)

कारन सों गोरन को घिन को नाहिन कारन।
कारन तुमही या कलंक के करन निवारन॥
कारन ही के कारन गोरन लहत बड़ाई।
कारन ही के कारन गोरन की प्रभुताई॥

हार्दिक हर्षादर्श

(हीरक जुबली के अवसर पर)

पै कछु कही न जाय, दिनन के फेर फिरे अब।
दुरभागिन सों इत फैले फल फूल बैर जब॥
भयो भूमि भारत मैं महा भयंकर भारत।
भये बीर बर सकल सुभट एकही संग गारत॥

आनंद बधाई

(हिंदी के कचहरियों में प्रवेश पाने के उपलक्ष्य में)

पै भागनि सों जब भारत के सुख दिन आए।
अंग्रेजी अधिकार अमित अन्याय नसाए॥
लह्यों न्याय सबही छीने निज स्वत्वहिं पाई।
दुरभागिनी बचि रही यही अन्याय सताई॥
लह्यौ देस भाषा अधिकार सबै निज देसन।
राजकाज आलय विद्यालय बीच ततच्छन॥

(आनंद अरुणोदय)

उठो आर्य संतान सकल मिलि बस न विलंब लगाओ।
ब्रिटिसराज स्वातंत्र्यमय समय व्यर्थ न बैठ बिताओ॥
देखो तो जग मनुज कहाँ से कहाँ पहुँचकर भाई।
धर्म, नीति, विज्ञान, कला, विद्या, बल, सुमति सुहाई॥
की उन्नति निज देस, जातिभाषा सभ्यता सुखों की।
तुम सबने सीखी वह बान रही जो खानि दुखों की॥

* * * *

संपति सुजस का न अंत है बिचार देखा,
तिसके लिए क्यों सोक-सिंधु अवगाहिये॥
लोभ की ललक में न अभिमानियों के तुच्छ,
तेवरों को देख उन्हें संकित सराहिये॥
दीन गुनी सज्जनो से निपट विनीत बने,
प्रेमघन' नित्य नाते नेह के निबाहिये।
राग रोष औरों से न हानि लाभ कछु,
उसी नंद के किसोर की कृपा की कोर चाहिये॥

ठाकुर जगमोहनसिंह— (संवत् १९१४–१९५५) जिस समय ये काशी में अध्ययन के लिए आए थे, उसी समय इनका परिचय बाबू हरिश्चंद्र जी से हुआ था। उसी परिचय के फलस्वरूप इनके हृदय में काव्य-कला के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। स्वभाविक प्रतिभा तथा

सहृदयता तो थी ही; अनुकूल परिस्थितियों से इनके हृदय में कवित्व जागरित हो उठा। देश की नवीन भावनाओं का प्रभाव इन पर नहीं पड़ा। ये एक अनुरागी जीव थे। परंतु इनका अनुराग मनुष्यों तक ही परिमित न था। प्रकृति की सुकुमार रमणीयता के प्रति भी इनके हृदय में प्रेम भरा था। इनकी कविता के विषय प्रेम तथा प्रकृति-चित्रण हुए। इनके प्रेम में लौकिकता कम थी। वह ऐसा था जो ईश्वरोन्मुख होता हुआ भक्ति तक पहुँचता है। प्रकृति के चित्रणों में भी कुछ विशेषता थी। हिंदी के प्राचीन कवियों ने प्रकृति के स्वतंत्र चित्रण को महत्व नहीं दिया। उनके काव्यों में प्रकृति विभाव के अंतर्गत उद्दीपन रूप में ही आती रही। ऐसे उद्दीपनात्मक वर्णनों में भी चित्र अंकित करने की ओर कवियों का ध्यान नहीं रहता था। दूसरा स्थान प्राकृतिक उपादानों को आलंकारिक योजना में मिलता था। चंद्र, कमल, नीलगगन इत्यादि उपमान रूप में आते थे। पर ठाकुर साहब के काव्यों में प्रकृति एक दूसरे ही रूप में आई है। वे प्रकृति पर स्वयं मुग्ध थे अतः उनकी चित्तवृत्तियों के लिए प्रकृति स्वयं आलंबन थी। यह वर्णन भी दो प्रकार से किया जा सकता है। एक में तो वस्तुओं के नाम गिनानेवाली प्रणाली का अनुसरण किया जाता है, दूसरी में कवि शब्दों की सहायता से प्रकृति के रमणीय स्वरूपों का चित्रण इस प्रकार करने का प्रयत्न करता है कि उसके हृदय-चक्षु के सम्मुख उपस्थित दृश्यों का दर्शन पाठक स्वयं कर सकें। ठाकुर साहब ने दूसरी प्रणाली को अपनाया था। पर हिंदी-साहित्य में बहुत दिनों तक लोगों का ध्यान इस ओर नहीं गया। श्रीधर पाठक तथा कुछ आगे बढ़कर रामनरेश त्रिपाठी इत्यादि में हम फिर ऐसे वर्णन पाते हैं। इनकी शृंगारी कविताओं में भी वैसी ही कोमलता तथा स्निग्धता मिलती है जैसी भारतेंदु जी में थी। भाषा भी इनकी सरस प्रवाहयुक्त है। शुद्धता की दृष्टि से इनकी भाषा हरिश्चंद्र जी की भाषा तक नहीं पहुँचती, किंतु फिर भी अपने विषय को काव्योचित ढंग से अभिव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ है। इनकी कविता में इस बात की ओर अवश्य ध्यान जाता है कि इन्होंने अलंकारों का प्रयोग बहुत कम किया है। यदि

कहीं अलंकारों का प्रयोग हुआ भी है तो साम्य पर निर्भर रहनेवाले उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक इत्यादि का ही। ये अलंकार भी बहुत ही स्वाभाविक ढंग से आए हैं, कहीं भी भाव क्षेत्र में विघ्न उपस्थित करते हुए नहीं आए हैं। इनकी बहुत सी कविताएँ तो 'श्यामा स्वप्न' में मिलती हैं और कुछ श्यामलता तथा प्रेमसंपत्तिलता में संग्रहीत हैं। कुछ उदाहरण :—

लागैगो पावस अमावस की अँध्यारी जामैं,
कोकिल कुहुकि कूक अतन तपावैगो।
पावैगो अथोर दुख मैन के मरोरन सों,
सोरन सो मोरन के जियहूँ जरावैगो॥
लावैगो कपूरहू की धूर तन पूर घिसि,
भार नहिं कोऊ हाय चित्त को घटावैगो।
ठावैगो वियोग जगमोहन कुसोग आलि,
बिरह समीर बीर अंग जब लागैगो।

* * *

याही मग ह्वै के गए दंडकबन श्रीराम,
तासों पावन देस वह विंध्याटवीललाम।
विंध्याटवीललाम तीर तरुवर सो छाई,
केतकी कैरव कुमुद कमल के सुहाई।
भन 'जगमोहनसिंह' न सोभा जात सराही,
एसो बन रमनीय गए रघुबर मग याही।
सालताल हिंतालवर सोभित तरुन तमाल,
नव कदंब अरु अंब बहु बिलसत निम्ब बिसाल।

* * *

कुलकानि तजी गुरु लोगन में बसिकै सब बैन कुबैन सहा।
परलोक नसाय सबै बिधि सों उनमत्त को मारग जान गहा॥
'जगमोहन' खोय हया निज हाथन या तन पाल्यौ है प्रेम महा।
सब छोड़ि तुम्हैं हम पायो अहो तुम छोड़ि हमै कहो पायो कहा।

* * *

कौन सी बातन याद करैं हम कौन कथा कहिए दिल खोली।
कौन मिलै जग साथी हमैं दिलदार बुझावनहार अमोली॥
बोलै सभी मधुरे सुथरे सुघरे वच आन अली दुख झोली।
एसो मिलो 'जगमोहन' कोउ न जो पै मिलावतो-तोहिं सों भोली॥

लाला सीताराम बी० ए०—(जन्म सं० १९१५ मृत्यु सं० १९९३ वि०) ये एक पुराने साहित्य सेवी थे। सरकारी नौकरी में रहते हुए भी ये सदा अपने साहित्यानुराग को बनाए रहे। इन्होंने अँगरेजी तथा संस्कृत के अनेक नाटकों तथा काव्यों के अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। कालिदास के तीनों काव्यों—रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत—के अनुवाद इन्होंने बड़ी सफलता से किए हैं। शेक्सपियर के भी कई नाटकों के अनुवाद इन्होंने किए हैं। इनका हिंदी-साहित्य-विषयक परिचय और अध्ययन अत्यन्त विस्तृत तथा गंभीर था। व्रजभाषा पर भी इनका अच्छा अधिकार था। व्रजभाषा के जिस रूप को इन्होंने अपनाया उसका निर्वाह अपने ग्रंथों में सर्वत्र किया है। अनुवाद भी इनके बहुत शुद्ध उतरे हैं। संस्कृत के अनुवाद करने में कहीं कहीं जटिलता आ गयी है। कभी कभी वाक्यों का अन्वय करने में कुछ अड़चन पड़ती है। पर ऐसा बहुत कम हुआ है। इनके रघुवंश के अनुवाद से कुछ अंश दिए जाते हैं :—

प्रिया फेरि अवधेश कृपाला। रच्छा कीन्ह तासु तेहि काला॥
व्रत महँ चले गाय करि आगे। सेवक सेष सकल नृप त्यागे॥
इक केवल निज वीर्य अपारा। मनु-संतति तन रच्छन हारा॥
कबहुँक मृदु तृन नोचि खिआवत। हाँकि माछि कहुँ तनहिं खुजावत॥
जो दिसि चलत चलत सोइ राहा। एहि विधि तेहि सेवत नरनाहा॥

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय—(जन्म संवत् १९२२) 'प्रियप्रवास' की रचना करने के पश्चात् उपाध्याय जी खड़ी बोली के क्षेत्र में प्रसिद्ध हो गए। यह प्रसिद्धि इतनी हुई कि व्रजभाषा में जो काव्योपासना ये कर चुके थे उसे लोग भूल से गए। परंतु वास्तव में इन्होंने अपना साहित्यिक जीवन व्रजभाषा की रचनाओं ही से प्रारम्भ किया है।

ये निजामाबाद जिला आजमगढ़ के रहनेवाले थे। वहाँ सिक्खों के महंत बाबा सुमेरसिंह एक काव्य-प्रेमी सज्जन थे। बाबू रामकृष्ण वर्मा तथा पं० अंबिकादत्त व्यास के उद्योग से जैसा कवि-समाज काशी में स्थापित था वैसा ही बाबा सुमेरसिंह ने निजामाबाद में स्थापित कर रखा था। ये बाबा जी भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी के मिलनेवालों में थे और प्राय: काशी भी आया करते थे। यहाँ स्थानीय कवियों की जो गोष्ठी जमती थी उसमें हनुमान इत्यादि कवीश्वर भी भाग लिया करते थे। एक बार जब हनुमान की किसी कविता पर प्रसन्न होकर बाबू हरिश्चंद्र जी ने सैकड़ों रुपये का दुशाला दे दिया, तो बाबा सुमेरसिंह ने भी अपनी एक सोने की रत्नजटित अँगूठी उतार कर दे दी। इन बातों से इनका काव्यानुराग लक्षित होता है। इन्हीं के द्वारा संचालित कवि-समाज में उपाध्याय जी अपनी रचनाएँ पढ़ा करते थे। इनका 'हरिऔध' उपनाम उसी समय का है। इनका ब्रजभाषा के कवियों की रचनाओं का अध्ययन बहुत विस्तृत था। भाषा पर जैसा इनका अधिकार था वैसा कम लोगों का है। खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा पर ये समान अधिकार रखते थे। इनकी ब्रजभाषा रत्नाकर जी की तरह प्रौढ़ नहीं होती, फिर भी ये भाषा की प्रकृति को पहिचानते थे और भाषा की शुद्धता के आदर्श को बराबर बनाए रहते थे। अपनी भाषा में 'निबुकना' आदि पूर्वी शब्दों के प्रयोग करने में भी ये संकोच नहीं करते थे। संभवत: इनका सिद्धांत था कि कोई भी साहित्यिक भाषा स्थान विशेष के शब्दों तथा प्रयोगों तक ही सीमित नहीं रहती, किंतु आवश्यकतानुसार भावाभिव्यंजन की पूर्ति के लिए अपना विस्तार करती रहती है। इनमें कला-पक्ष तथा भाव-पक्ष का सुन्दर समन्वय है। अलंकारों आदि की उपासना करते हुए भी ये भावों पर दृष्टि रखते थे। इनकी कविताओं से यह प्रतीत होता है कि काव्य के ऊपर इनकी अद्भुत शक्ति है। ब्रजभाषा का 'रसकलस' नामक एक ग्रंथ अभी प्रकाशित हुआ है। इस विषय पर जितनी प्राचीन पुस्तकें मिलती हैं उनमें एक त्रुटि बहुत खटकती है। वे कवि शृंगार रस का वर्णन तो सांगोपांग बड़े विस्तार से करते थे पर और रसों को यों ही चलता कर देते थे।

पर रसकलस में सब रसों को उपयुक्त महत्व दिया गया है और सबका वर्णन मनोयोग-पूर्वक किया गया है। प्रायः देखा जाता है कि कवियों के शृंगार रस के उदाहरण तो सरस बन पड़ते हैं पर और रसों में उनकी वृत्तियाँ उतनी नहीं रमतीं। पर उपाध्याय जी ने सब रसों के उदाहरण बड़ी सहृदयता तथा सरसता से प्रस्तुत किए हैं। रसों का विवेचन गद्य में किया गया है। अतः इस विषय का अध्ययन करनेवालों के लिए यह सर्व श्रेष्ठ पुस्तक है। उपाध्याय जी ने कुछ नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं। उनकी नायिकाओं में प्राचीन नायिकाओं के साथ, परिवार-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, निजतानुरागिनी, लोक-सेविका, धर्म-प्रेमिका भी हैं। पर इस वर्णन में यह नहीं बताया गया है कि ये नवीन प्रकार की नायिकाएँ किस रस के लिए उपयोगी सिद्ध होंगी। उपाध्याय जी के हृदय में देश, समाज तथा ब्राह्मण जाति के प्रति गंभीर अनुराग था। संगठन का भाव भी आप के सभी काव्यों में लक्षित होता है। ये प्राचीन संस्कृति के अनन्य उपासक होते हुए भी समाज की नई सुधार-संबंधी योजनाओं के समर्थक थे। परदा-प्रथा के उठा देने तथा अछूतोद्धार आदि के पक्ष में थे। अछूतों की याद इन्होंने 'रसकलस' में भी नहीं भुलाई है। इस पुस्तक में इनके ऋतुवर्णन भी अच्छे उतरे हैं। वर्णनों में पुरानी परिपाटी का पालन ही नहीं किया गया है, स्वतंत्र निरीक्षण से भी काम लिया गया है। 'रस-कलस' में इन्होंने दोहे भी बहुत मार्मिक लिखे हैं। इनके दोहे यदि विहारी के दोहे की उच्चता तक नहीं पहुँचते तो 'मतिराम' आदि से पीछे भी नहीं रहते। इनकी एक विशेषता यह है कि पुरानी सूझों पर मुलम्मा करके कोई वस्तु नहीं प्रस्तुत करते। अपने हृदय से टटोल कर वस्तुएँ प्रस्तुत करते हैं। ये मौलिकता के पवित्र तथा गौरवपूर्ण आदर्श को सदा सामने रखते थे। आजकल व्रजभाषा के जो दो-चार श्रेष्ठ कवि हुए हैं उनमें इनका प्रमुख स्थान था। रत्नाकर जी के वाद तो व्रजभाषा के कवियों में इनका स्थान सर्वश्रेष्ठ था यह निस्संकोच कहा जा सकता है। श्री वियोगी हरि की प्रतिभा एकदेशीय है पर इनकी सूझ अनेक भावों तक थी। इनकी कविता के कुछ उदाहरण:—

छन छन छीजत न देखहिं समाज-तन
हेरहिं न विधवा छू टुक होत छतियान।
जाति को पतन अवलोकहिं न आकुल ह्वै
भूलि ना बिलोकहिं कलंकी होत कुलमान॥
'हरिऔध' छिनत लखहिं ना सलोने लाल
लुटत निहारहिं न लोनी-लोनी ललनान।
खोले कछु-खुली पै कहाँ हैं ठीक ठीक खुलीं
अधखुली अजौं हैं हमारी खुली अँखियान॥

* * *

बातैं सरोस कबौं कहिकै हितसों कबहूँ समुझाइबो तेरो।
मेरे घने अपराधन को बहु ब्योंत बनाइ दुराइबो तेरो।
कोह किये कपटी 'हरिऔध' के रंचक हूँ न रिसाइबो तेरो।
मारिबो पी को न सालत है पर सालत सौत बचाइबो तेरो।

* * *

पीछे जो हटैंगे तो पगन कौंहि पंगु कैहौं
कर जो कँपैंगे तो करन को कटैहौं मैं।
छिलि जैहै जो न जाति-उर के छतन ते तो
छल-धाम-छाती कौंहि छलनी बनैहौं मैं।
'हरिऔध' जो न कढ़ि पै हैं चिनगारियाँ तो
लोचनता लोचनन केरि छीनि लैहौं मैं।
भीति से भरैगो तो रहैगो भेजो भेजो नाहिं
काँपिहै करेजो तो करेजो काढ़ि दैहौं मैं।

* * *

पकि पकि रहिहैं पकरि कै करेजो कौलौं
कलपि कलपि कौलौं बासर बिताइहैं।
कौलौं विधवा-पन-बधिक-बेधि बेधि दैहै
कौलौं बेझो बनि बनि विपुल बिलखाइहैं।

'हरिऔध' कौलौं अनुकूल काल पैहैं नाहिं
कौलौं कालिमा में लगे पलक न लाइहैं।
कौलौं ह्वैहैं बलि बलवान रुचि वेदिका पै
भारत की बाला कौलौं अबला कहाइहैं।

कुछ दोहे :—

रिसहूँ मैं सरसत रहत बरबस बनत रसाल।
ललना लोचन लाल ह्वै लालहिं करत निहाल॥
नयनन ते सूझत नहीं मुँह मैं रहे न दाँत।
अपनो तन अपनो नहीं मन को मोह न जात॥
कुल-ललना सकुची सहमि मिले नैन ते नैन।
मुँह के मुँह में ही रहे कहे अध कहे बैन॥
परो काठ सम तन रहत सुत तिय हाहा खात।
तजि धन जन प्यारो सदन प्रान कहूँ चलि जात॥
चाव भरे चितचोर को लखि चितवत ललचात।
चंचल-नयनी को भयो चित चलदल को पात॥
कित इनकी गति है नहीं कहाँ न इनको जोर।
काके उर मैं नहिं गड़ी बाँके दृग की कोर॥
इतनो हूँ समुझत नहीं तऊ बनत हैं पूत।
जाको कहत अछूत हैं वामैं कैसी छूत॥

पंडित श्रीधर पाठक—संवत् (१९१६–१९८५) इनकी गणना खड़ी बोली के श्रेष्ठ कवियों में है। वास्तव में खड़ी बोली में इतने विस्तृत परिमाण में सर्व प्रथम इन्होंने रचनाएँ की। पर ये ब्रजवाणी के पुराने उपासकों में हैं। इनकी कविता का क्षेत्र रूढ़ि से जकड़ा हुआ नहीं है और न इनकी प्रतिभा समस्यापूर्त्तियों के रूप में प्रस्फुटित हुई। इनको अपने विषय अपनी रागात्मिका वृत्ति से स्वयं मिल जाते थे। इनकी दृष्टि मनुष्यों ही के कार्यकलापों तक सीमित नहीं थी। प्रकृति के अनुरंजन-कारी दृश्यों से भी ये प्रभावित होते थे। इसके फलस्वरूप इन्होंने बहुत मार्मिक रचनाएँ की हैं। पशु-पक्षी तक इनकी काव्य-सीमा से बाहर

नहीं रह सके। क्या मनुष्य, क्या प्रकृति, क्या पशु-पक्षी सबके प्रति इनके हृदय में अनुराग भरा हुआ था। इनके प्राकृतिक वर्णनों में हिमालय-वर्णन, काश्मीर-वर्णन, घन-विनय तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओं के वर्णन मुख्य हैं। समाज की ओर भी इनका ध्यान रहता था। 'बाल-विधवा' आदि विषयों पर भी इन्होंने रचनाएँ की हैं। भारतोत्थान, भारत-प्रशंसा आदि देशभक्ति की कविताएँ भी की हैं। मातृभाषा की उन्नति की इन्हें बड़ी चिन्ता थी। मातृभाषा-महत्व नाम की सुंदर कविता में लिखते हैं—

निज भाषा बोलहु लिखहु पढ़हु गुनहु सब लोग।
करहु सकल विषयन विषैं निज भाषा उपजोग॥

इनकी देशभक्ति राजभक्ति के साथ साथ चलती थी। देशभक्ति के गीतों के साथ-साथ 'जार्ज वंदना' आदि कविताएँ भी निकलती रहती थी।

इन्होंने ब्रजभाषा के प्राचीन स्वरूप में कविता नहीं की है। इनकी भाषा बहुत पिछले काल की है जो खड़ी बोली से बहुत अलग नहीं प्रतीत होती। फिर भी 'तव' आदि के लिए 'तुअ' आदि रूप इन्होंने लिखे ही हैं। इनकी भाषा में अलंकारों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। भाषा स्वच्छ प्रवाहयुक्त है और एक सिद्धहस्त कवि के हाथों से बहुत ही संयत तथा परिमार्जित रूप में प्रयुक्त हुई है। जैसी मिठास इनकी ब्रजभाषा में है वैसी आजकल के कम कवियों में मिलती है। इन्होंने ब्रजभाषा में संस्कृत से ऋतुसंहार तथा अँगरेजी से डेज़र्टेड विलेज (Deserted Village) के अनुवाद किए हैं, जो स्वतंत्र रचना से प्रतीत होते हैं। अँगरेजी के भावों को ब्रजभाषा में लाना दुष्कर कार्य है पर इन्होंने इसे बड़ी सफलता से निबाहा है। ऊजड़-ग्राम की प्रशंसा देश विदेश में सर्वत्र हुई। उस समय के देशी अखबारों ने भी पाठक जी की योग्यता, पाण्डित्य तथा शक्ति को सराहा था। उजड़-ग्राम की मूल के साथ कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं:—

(मूल)

As some tall cliff, that lifts its awful form
Swells from the vale, and midway leaves the storm,

Though round its breast the rolling clouds are spread,
Eternal sunshine settles on its head,

(अनुवाद)

जिमि कोउ पर्वत शृंग तुंग दीरघ तन ठाढ़ो।
उठ्यो खड्ड सों रहै, बवंडर बीचहि छाँड़ो।
यदपि तासु वक्षस्थल, दल बादल कोलाहल।
भाल बिराजै सदा भानु आभा द्युति उज्वल।

(ऋतुसंहार से)

बहु वेग बढ़े गदले जल सों, तटरूख उखारि गिरावती हैं।
करि घोर कोलाहल ब्याकुल है थल कोर करारन ढावती हैं।
मरजादहिं छाँड़ि चलीं कुलटा सम विभ्रम भौंर दिखावती हैं।
इतराति उतावरी बावरी सी सरिता चढ़ि सिन्धु को धावती हैं।

नीचे दो एक उदाहरण स्वतंत्र रचनाओं से दिए जाते हैं—

अगनित पर्वत खंड चहूँ दिसि देत दिखाईं।
सिर परसत आकास चरन पाताल छुआईं।
सोहत सुन्दर स्वेत पांति तर ऊपर छाईं।
मानहुँ विधि पट हरित स्वर्गसोपान बिछाईं।

—हिमालय वर्णन से

सूखे जरे बिरवा पुनिहूँ हरिजू के प्रताप सबै हरिएहैं।
मालती चारु चमेली, गुलाब की सौरभ फेरि समीर समैहैं।
ते नलिनी अरविन्द के वृन्द, सरोवर बारि में शोभा सजैहैं।
कीजै न सोच कछू अलि बावरे, बीते दिना सुख के पुनि ऐहैं।

—भ्रमराष्टक से

बाबू जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर'—(सं० १९२३–१९८९) ये हिंदी के बहुत पुराने साहित्यसेवी थे। इन्होंने अपनी आँखों से आधुनिक हिंदी-साहित्य के तीनों काल देखे थे। पर हमारे साहित्य में जो-जो तूफ़ान आए उनमें ये अचल पर्वत की भाँति खड़े रहे। सरस्वती पत्रिका

के निकलने के बाद खड़ी बोली का जो आंदोलन चला उसने व्रजभाषा के अनेक उपासकों को डाँवाडोल कर दिया। श्रीधर पाठक तथा देवीप्रसाद जी पूर्ण ऐसे लोग भी उधर चले गए। पर रत्नाकर जी पर इसका कुछ प्रभाव न पड़ा। इन्होंने अपने लिए जो मार्ग निश्चित कर लिया था उसी पर बराबर चलते रहे। हरिश्चंद्र जी के समय काशी में जो साहित्यिक मंडली थी उसमें ये भी बैठ चुके थे। सरदार, सेवक, हनुमान, नारायण आदि कवियों के संसर्ग में रहकर इन्होंने व्रज-काव्य-परंपरा का अध्ययन किया था। पीछे से व्रजभाषा - कवियों की रचनाओं का गंभीर तथा विस्तृत अध्ययन कर भाषा पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था। बाबू रामकृष्ण वर्म्मा द्वारा संचालित जो कवि-समाज काशी में था उसमें भी ये अपनी समस्यापूर्त्तियाँ पढ़ा करते थे। इनकी काव्य-रचना एक बहुत लंबे काल तक चलती रही। बीच-बीच में वर्षों तक लौकिक प्रपचों में पड़ कर रचना करना छोड़ भी देते थे। पर समय मिलने पर फिर काव्योपासना करने लग जाते थे। इनका अन्य साहित्यों का भी अध्ययन विस्तृत था। फारसी तथा अँगरेजी पर भी ये अच्छा अधिकार रखते थे। अँगरेजी तथा फारसी का प्रभाव हमारी भाषा पर भी पड़ा है। पर इनकी रचनाओं में एक विशेषता यह है कि किसी भी देशी तथा विदेशी भाषा की अप्रत्यक्ष छाप इनपर नहीं पड़ी। अँगरेजी की लाक्षणिकता एवं वक्रता अपूर्व है। रत्नाकरजी ने इस लाक्षणिकता की योजना अपने काव्यों में की है, पर कहीं भी विदेशीपन नहीं आ पाया है। व्रजभाषा में भी स्वतंत्र रूप से लाक्षणिकता के विकास का अवसर था और उसमें एक अपनी लाक्षणिकता थी भी। पर लाक्षणिक प्रयोग जब एक ही रूप में प्रयुक्त होते-होते रूढ़ हो जाते हैं तो उनमें चमत्कार नहीं रहता। भाषा में नई-नई वक्रताओं की उद्भावना तथा स्थापना प्रतिभा सम्पन्न कवियों के द्वारा ही हो सकती है। रत्नाकर जी में ऐसी प्रतिभा पर्याप्त मात्रा में थी। उसीके फलस्वरूप इनके हाथों में पड़कर व्रजभाषा की व्यंजना शक्ति का अपूर्व विकास हुआ। हिंदी की पड़ोसी भाषा उर्दू में मुहावरों की अपरिमित संपत्ति है। मुगल दरबारों के वातावरण में

पलकर उर्दू ने अनोखी कमनीयता संपादित की थी। इस ओर व्रजभाषा के बहुत कम कवियों का ध्यान गया था। रत्नाकर जी ने इस कमी की ओर ध्यान दिया और अपनी भाषा में मुहावरों की काव्योचित सामंजस्य के साथ योजना कर भाषा की शक्ति तथा सौंदर्य को बढ़ाया। लोकोक्तियों का प्रयोग ठाकुर को छोड़कर बहुत कम कवियों ने किया है। रत्नाकर जी ने अपनी भाषा में लोकोक्तियों की भी पर्याप्त योजना की है। इनकी भाषा का एक उदाहरण दिया जाता है:—

जोगिनि की भोगिनी की विकल वियोगिनि की
जग में न जागती जमातैं रहि जाइँगी।
कहै 'रतनाकर' न सुख के रहे जौ दिन
तौ ये दुख-द्वंद की न रातैं रहि जाइँगी।
प्रेम नेम छाँड़ि ज्ञान-छेम जो बतावत सो
भीति ही नहीं तौ कहा छातैं रहि जाइँगी।
घातैं रहि जाइँगी न कान्ह की कृपा तैं इती
ऊधौं कहिबे कौ बस बातैं रहि जाइँगी।

इन्होंने व्रजभाषा के ग्रंथों का अध्ययन कर अपने लिए भाषा का जो रूप निश्चित कर लिया था उसका व्यवहार अपने काव्यों में आद्यन्त किया है। इनकी भाषा का रूप बहुत प्राचीन है जो बिहारी की भाषा के बहुत पास पहुँच जाता है। व्याकरण की दृष्टि से भी इन्होंने शुद्धता के एक उच्च आदर्श का पालन सर्वत्र किया है। आलंकारिक विधान की भी एक संयत तथा कलापूर्ण शैली के दर्शन इनकी भाषा में होते हैं। ये अपने उपमान प्रकृति के रमणीय दृश्यों में से चुनकर रखते थे। प्रकृति के चिरपरिचित उपकरणों से हमारा हृदय चिरकाल से सामंजस्य स्थापित करता चला आ रहा है, अतः इस प्रकार का अप्रस्तुत विधान प्रस्तुत विषय को अनुरंजनकारी बनाने में भी बहुत सफल होता है तथा उसके द्वारा जो व्यंजना करनी होती है उसमें भी सहायता मिलती है। जब प्रस्तुतों का अलग-अलग अप्रस्तुत विधान करना होता है तो उपमा, रूपक आदि अलंकारों से अच्छी सहायता मिलती है। पर जब कई एक प्रस्तुतों

की एक साथ संश्लिष्ट योजना करनी होती है तो वस्तूत्प्रेक्षा ही सहायक होती है। अलंकारों में यदि चित्रोपमता की किसी में शक्ति है तो इसी वस्तूत्प्रेक्षा में। रत्नाकर जी ने इस बात पर ध्यान दिया है और दृश्यों की संश्लिष्ट योजना करते समय इसी अलंकार द्वारा अप्रस्तुत विधान किया है। एक उदाहरण:—

जल सों जल टकराइ कहूँ उच्छरत उमंगत।
पुनि नीचे गिरि गाजि चलत उत्तंग तरंगत॥
मनु कागदी कपोत गोत के गोत उड़ाये।
लरि अति उँचै उलटी गोति गुथि चलत सुहाये॥

गंगा बड़े वेग से बह रही हैं, लहरें परस्पर टकराकर ऊपर को उठती हैं फिर एक साथ होकर नीचे चली आती हैं। एक उदाहरण:—

कबहुँ सुधार अपार बेग नीचे को धावै।
हरहराति लहराति सहस योजन चलि आवै॥
मनु बिधि चतुर किसान पौन निज मन कौ पावत।
पुन्य खेत उत्पन्न हीर की रास उसावत॥

रत्नाकर जी के अप्रस्तुत उसी भाव के उद्रेक में सहायक होते हैं जिसमें प्रस्तुत पहिले से हो रहे हैं। भाव का विरोध करनेवाले अथवा पाठक का ध्यान जिन वस्तुओं पर लगा है उनसे बहुत दूर हटा ले जाने वाले उपमान उन्होंने नहीं रखे हैं। कुछ ऐसे अलंकार भी रत्नाकर जी लाए हैं जिनका नामकरण हमारी भाषा में नहीं हुआ है परन्तु अँगरेजी आदि भाषाओं में जिनका बहुत महत्व है तथा जो काव्य में बहुत सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए अँगरेजी का 'ओनोमोटोपोइया' (Onomotopoea) नाम का अलंकार लें। इस अलंकार में शब्दों की योजना इस प्रकार की जाती है कि वे प्रस्तुत ध्वनि का आभास देते हैं। अँगरेजी-साहित्य में टेनीसन को यह अलंकार अत्यन्त प्रिय था। रत्नाकर जी ने इस अलंकार की योजना कई स्थलों पर सुचारु रूप से की है। गंगा के उस बहाव को देखकर जो शब्द करता हुआ कभी नीचे उतरता है और कभी ऊपर उछलता है, वे कहते हैं:—

फांदति फैलति फटति सटति सिमिटति सढंग सौं।

एक स्थान पर दृष्टि की किरणों के लिए रूपक की सहायता से बड़ा सुंदर उपमान लाए हैं। घोड़े की खोज में कुमार जाता है और एक बड़े भारी पातालगामी मार्ग को पाता है। कवि लिखता है:—

तिहिं लखि ललकि कुमार लग्यौ दृग डोरनि थाहन।

किसी गहरे स्थान की थाह लेने के लिए डोर या रस्सी की आवश्यकता होती है, अतः दृगरश्मियों का डोर के साथ कैसा उपयुक्त सामंजस्य है। इस प्रकार वे अपने सूक्ष्म निरीक्षण का सदा उपयोग करते थे। उनकी उपमाएँ बासी नहीं प्रतीत होतीं क्योंकि प्रायः वे उनके हृदय से उत्पन्न हुइ हैं। प्रकृति के दृश्यों का मानव-हृदय के साथ आलंकारिक सामंजस्य स्थापित करने की उनकी सूझ भी अद्भुत थी। एक उदाहरण— यह सबके अनुभव की बात है कि जब हम दर्पण के पास रहते हैं तो उसकी ऊपरी सतह पर हमारा प्रतिबिंब पड़ता हुआ प्रतीत होता है पर जब हम पीछे को हटते जाते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा प्रतिबिंब दर्पण के अंतस्थल में क्रमशः नीची नीची सतहों में प्रवेश करता जाता है। उसी प्रकार प्रेम में भी एक ऐसा ही व्यापार होता है। प्रिय ज्यों-ज्यों दूर हटता जाता है त्यों-त्यों हृदय की गंभीर वृत्तियाँ उसके ध्यान में अनुरक्त होती जाती हैं। दर्पण के इस व्यापार की तथा हमारे हृदय की वृत्तियों की कैसी समता रत्नाकर जी ने यहाँ स्थापित की है:—

ज्यौं ज्यौं बसे जात दूरि दूरि प्रिय प्राण मूरि
त्यौं त्यौं धँसे जात मन मुकुर हमारे मैं।

शब्दों के द्वारा चित्र अंकित करने की कला हिंदी के बहुत कम कवियों में मिलती है। ये ऐसा वर्णन करते हैं कि उस दृश्य की छाप हमारे हृदयों पर अंकित हो जाती है। हम भावों का ही केवल अनुभव नहीं करते; पात्रों को अपने सामने खड़ा देखने लगते है। दो एक उदाहरण:—

टमकि-टमकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छ्वै लगी।

हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं।

* * *

आए भुज-बंध दिए उधव सखा कैं कंध,
डगमग पाय मग धरत धराए हैं।
कहै 'रतनाकर' न बूझैं कछु बोलत औ
खोलत न नैन हूँ अचैन चित छाए हैं।

भावव्यंजना की दृष्टि से भी इनका बहुत महत्व है। जितने भिन्न-भिन्न भावों तक इनकी अनुभूति पहुँची है उतने तक ब्रजभाषा अथवा खड़ी बोली के कम कवियों की पहुँची होगी। प्रायः देखा जाता है कि जिन कवियों के सुकुमार भावों के चित्र अच्छे उतरते हैं उनकी उग्र भावों की व्यंजना अच्छी नहीं हो पाती; और जो उग्र भावों की व्यंजना करते हैं उनकी दृष्टि सुकुमार भावों तक नहीं पहुँचती। परन्तु रत्नाकर जी के हृदय का सामंजस्य सुकुमार से सुकुमार तथा उग्र से उग्र भावों तक था। 'शृंगारलहरी' में शृंगार रस की अच्छी व्यंजना हुई है। 'उद्धव-शतक' में विप्रलंभ के बहुत ही मार्मिक चित्र अंकित हैं। 'वीराष्टकों' में उत्साह तथा क्रोध आदि भावों का अच्छा चित्रण हुआ है। इनके वीर रस के वर्णनों में यह विशेषता है कि इन्होंने प्राचीन प्रथा के अनुसार अपभ्रंश काल की द्वित्ववर्ण वाली उग्र पदावली का आश्रय बिना ग्रहण किए ही उग्रभावों की काव्योचित स्थापना की है। कुछ उदाहरण—

वीर अभिमन्यू की लपालप कृपान बक्र,
सक्र-असनी लौं चक्रव्यूह माहि चमकी।
कहै 'रतनाकर' न ढालनि पै खालनि पै,
झिलिम झपालनि पै क्यौं हूँ कहूँ ठमकी॥
आई कंध पैतो बाँटि बंध प्रतिबंध सबै,
काटि कटि-संधि लौं जनेवा ताकि तमकी।
सीस पै परी तौ कुंड काटि मुंड काटि फेरि,
रुंड के दुखंड कै धरा पै आनि धमकी॥

वीरोल्लास का संयत तथा मार्मिक वर्णन नीचे की पंक्तियों में कैसा सुंदर हुआ है:—

सुनि अति अनहित बैन भये नृप नैन रिसौंहैं।
फरकि उठे भुजदंड तने तेवर तरजौंहें॥
कढ़ी परत करवाल कोष सौं चमकि चमकिकै।
निकसे आवत बान तून सौं तमकि तमकिकै॥
उठि उठि कर रहि जात कसकि तिनके वाहनकौं।

प्रेम की गंभीरता तथा सांकेतिक व्यंजना से तो 'उद्धव-शतक' भरा ही पड़ा है। उद्धव-शतक का विषय ऐसा है कि इस पर सूरदास, नंद-दास आदि अनेक कवियों ने बहुत कुछ लिखा है। फिर भी, इतने पिष्ट-पेषित विषय को लेकर रत्नाकर जी उसमें नवीन रमणीयता संपादित करने में सफल हुए हैं। कुछ उदाहरण:—

एक ब्रजचंद कृपा-मद-मुसकानि हीं मैं,
लोक परलोक को अनंद जिय जानैं हम
जाके या वियोग-दुख हू मैं सुख ऐसो कछू,
जाहि पाइ ब्रह्म सुख हू मैं दुख मानैं हम॥

* * *

एकै बार लैहैं मरि मीचु की कृपा सौं हम,
रोकि रोकि साँस बिनु मीचु मरिबौ कहा।
छिन जिन झेली कान्ह-विरह-बलाय तिन्हैं,
नरक निकाय की धरक धरिबौ कहा॥

उर्दू ढंग की प्रेम की पीडावाली कविता भी इन्होंने की हैं, एक आध उदाहरण :—

पावतो कहूँ जौ कोऊ चतुर चितेरौ तौ,
दिखावतौ सुभाव सोधि कलित कलानि मैं
रिझवन-आतुरी हमारी अँखियान माहिं,
खिझवनि चातुरी तिहारी मुसकानि मैं॥

भूख प्यास बूझति झँवात झहरात गात,
छार ह्वै बिलात सुखलाज सब रोही सौं।
हाय अति औपटी उदेग-आगि जागि जाति,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सौं॥

'हरिश्चंद्र काव्य' में श्मशान के वर्णन-प्रसंग में बीभत्स रस की ऐसी व्यंजना हुई है जो हमारे हृदय में उसी भाव को भर देती है। एक उदाहरण:—

कहूँ सृगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत।
कहुँ कोउ सब पर बैठ गिद्ध चट चोंच चलावत॥
जहँ तहँ मज्जा माँस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे॥

इस प्रकार मनुष्यों के हृदय में संचार करनेवाले भिन्न-भिन्न भावों तक इनकी पहुँच थी तथा इनको काव्योचित रूप देकर वे गंभीर-से-गंभीर भावव्यंजना करने में समर्थ होते थे। व्रजभाषा में समालोचनादर्श नाम से पोपसाहब की आलोचना की प्रसिद्ध पुस्तक का अनुवाद भी इन्होंने प्रस्तुत किया है जिसमें मूल के भावों को बड़ी सफलता से व्यक्त किया है। बिहारी-सतसई का एक बहुत ही प्रामाणिक संस्करण 'बिहारी-रत्नाकर' नाम से निकाला था। बिहारी की टीका बड़े पांडित्य से की गई है। जैसे परिश्रम तथा जैसी योग्यता से आपने इस पुस्तक का संपादन किया वैसा संभवतः हिंदी की किसी भी प्राचीन पुस्तक का नहीं किया गया है। इधर ये सूर-सागर का संपादन कर रहे थे। सहस्रों रुपये अपने पास से इस कार्य के लिए व्यय कर रहे थे तथा वर्षों तक इस पर परिश्रम किया था। पर इस कार्य को पूर्ण करने के पहिले ही इनका देहांत हो गया जिससे वह कार्य अधूरा ही रह गया। अब इस कार्य को काशी नागरी-प्रचारिणी सभा कर रही है। रत्नाकर जी की योग्यता, पांडित्य तथा कवित्व-शक्ति को सब मानते थे। सर्वसम्मति से ये आजकल के व्रज-भाषा कवियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। मुक्तक तथा प्रबंध दोनों प्रकार के काव्यों की रचना इन्होंने की है। व्रजभाषा में कोई उच्चकोटि का प्रबंध

काव्य नहीं है। ऐसी अवस्था में इनके 'गंगावतरण' का महत्त्व अवश्य ऊँचा है।

राय देवीप्रसाद पूर्ण (संवत् १९२५-१९७१) जिस प्रकार का एक कवि समाज बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा काशी में था उसी प्रकार का एक रसिक-समाज कानपुर में था। यह स्थापित तो पूर्ण जी के पहिले से ही था पर पूर्ण जी की काव्य-सेवाओं का इस समाज से अत्यंत संबंध है। इनके उत्साह से बहुत वर्षों तक कानपुर में अच्छी काव्य-चर्चा होती रही। खेद है कि इस कवि-समाज की अवस्था पूर्ण जी के निधन के पश्चात् गिरती ही गई और आज दिन उसका नाम तक नहीं सुनाई पड़ता। 'केशव' जी ऐसे व्रजभाषा के उपासकों के रहते कानपुर में जो साहित्यिक उदासी छाई है वह बहुत आशाप्रद नहीं प्रतीत होती।

पूर्ण जी की कविताओं के हम दो विभाग कर सकते हैं। एक में पुराने ढंग की कविताएँ आवेंगी, दूसरे में नवीन ढंग की। पुराने ढंग की कविताओं में शृंगार, भक्ति, वेदान्त, ऋतुवर्णन आदि की कविताएँ मुख्य हैं। नवीन ढंग की कविताओं में इनकी देशभक्ति आदि की कविताएँ हैं। देशभक्ति विषय के इनके विचार बहुत नरम थे, पर फिर भी इस विषय पर इन्होंने जो कुछ लिखा है उससे इनके हृदय की वृत्तियों को हम बहुत कुछ परख सकते हैं। पुरानी चाल की कविताओं में इनकी भक्ति तथा वेदांत विषय की रचनाएँ बहुत ही मार्मिक तथा सरस हुई हैं। जब तक कवि का किसी विषय से रागात्मक संबंध न हो तब तक वह उस विषय को काव्य में सुचारु रूप से कभी नहीं व्यक्त कर सकता। कोरी कल्पना के भरोसे कहाँ तक जा सकता है? दूसरी ओर अनुभूति होते हुए भी जब तक काव्योचित शैली पर अधिकार न हो तब तक हृदय के विचार भाव आदि हृदय में ही रह जावेंगे। पूर्ण जी में इन दोनों बातों का सामंजस्य था। अतः उनकी कविताएँ बहुत सरस हुई हैं। प्रत्येक पंक्ति उनके हृदय से निकली हुई प्रतीत होती है।

ऋतुवर्णन की प्रथा व्रजभाषा में प्राचीन है। परंतु वह ऋतुवर्णन उद्दीपन विभाव की दृष्टि से किया जाता था। उसमें कवि के हृदय का

अनुराग नहीं रहता था। केवल प्रथा-पालन के रूप में कुछ वस्तुओं के नाम गिना दिए जाते थे। पूर्ण जी की ऋतुवर्णन की रचनाएँ इस प्राचीन प्रथा से भिन्न प्रकार की हैं। जिस प्रकार का ऋतुवर्णन 'सेनापति' का है उसी प्रकार का इनका है। संभवतः वे सेनापति से भी कुछ आगे बढ़े हैं। क्योंकि इनका अंग्रेजी ढंग के प्रकृति-वर्णन से परिचय था। परंतु पूर्ण जी के ऋतुवर्णन आदि में कोई 'वाद' संमिलित नहीं था। एक भावुक हृदय पर जो भिन्न-भिन्न ऋतुओं के प्रभाव पड़ते हैं उन्हीं का काव्योचित ढंग से वर्णन किया गया है। कुछ उदाहरण:—

(ग्रीष्म)

धावत धुँवात घनी छावत गगन धूरि
प्रवल ववंडा ठौर-ठौर भूमि भासे हैं,
तावत प्रचंड मारतंड महिमंडल को,
जरत जमीन जल जीव जाल तासे हैं।
डारिये पखानहू पै पानी तौ छुनक जात,
'पूरन' विलोकि गति भाव यों प्रकासे हैं;
ग्रीसम समै में को चलावै जीव धारिन की,
जामें जड़ पाहन हू व्याकुल पियासे हैं।

(वर्षा)

चातक समूह बैठे बोलन को बाए मुख,
नाचन को मोर ठाढ़े पाँव ही उठाए हैं।
'पूरन जी' पावस को आगम सुखद जानि,
आनँद सों बेलिन के हिए लहराए हैं।
द्रोही द्रुम जाति केरे अरकजवास एरे;
तेरे जरिबे के अब द्यौस नियराये हैं।
हीतल महीतल को सीतल करन हारे,
देखु कैसे प्यारे घन कारे घेरि आए हैं।

इनकी भाषा बहुत ही शुद्ध हुई है। व्रजभाषा में भाषा की शुद्धता की कोई एक कसौटी नहीं है। पूर्ण जी की विशेषता यह थी

कि भाषा के जिस प्रकार के रूपों को इन्होंने प्रारम्भ में प्रयुक्त किया उनका निर्वाह अपने काव्यों में सर्वत्र किया। इनकी भाषा में अव्यवस्था नहीं। च्युतिसंस्कृति दोष जिससे ब्रजभाषा के बहुत कम कवि बच पाए हैं इनकी रचनाओं में कम पाया जाता है। भाषा को सजाने के लिए मुहावरों, लोकोक्तियाँ इत्यादि की योजना भी इन्होंने बहुत संयत शैली से की है। कभी भी अनावश्यक प्रदर्शन की रुचि से प्रेरित होकर ऐसा नहीं किया है। इनका अप्रस्तुत-विधान भी बहुत कला-पूर्ण हुआ है। ये प्रायः उपमाएँ अपने निरीक्षण के क्षेत्र से चुन कर रखते थे। नीचे के उदाहरण में देखिए उत्प्रेक्षा की कैसी सुन्दर योजना की गई है।

झूला झूलते समय झूलनेवाले के पैर पेंगों के साथ कभी ऊपर कभी नीचे की ओर आते जाते रहते हैं। कुछ स्त्रियाँ झूला झूल रही हैं। उनके पैरों की भी यही अवस्था है। परंतु उस साधारण व्यापार के आधार पर कैसी काव्योचित तथा मार्मिक योजना की गई है। गर्विता नायिकाएँ होने से कार्य का भद्दापन भी नहीं खलता :—

रूप मदमाती नव सुंदरी हिंडोरे बैठि,
मधुर मनोहर मलार मंजु गावहीं।
पग सो धरा पै मारि ठोकर बढ़ावैं पैंग,
ऊँचे ह्वै गगन ओर सोई समुहावहीं।
अहिन को भूतल सुरन को अकास वास,
जानि कवि 'पूरन' विचार ठहरावहीं।
टेरि टेरि नागिन औ देवन की अंगनान,
गर्विता नवेली चारु चरन दिखावहीं।

इन्होंने शृंगार रस की बहुत कम रचनाएँ की हैं। परन्तु जो की हैं उनमें भावुकता तथा सरसता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। ऐसी रचनाओं से इनके हृदय का सामंजस्य नहीं था इसीसे उनमें वह नवीनता तथा मौलिकता नहीं आ पाई जो इनकी दूसरी रचनाओं में मिलती है। एक उदाहरण :—

सखियान की सीख लगै भिख-सी बँसुरी धुनि कान पगे सो पगे;
मति बौरी भई है अचेत दसा तन मैन के ज्वाल जगे सो जगे।
रँग त्यागि सबै दृग पूरन ये घनश्याम के रंग रँगे सो रँगे;
अँखियाँ पल एक न रैन लगैं ब्रजचंद सों नैन लगे सो लगे॥

इनकी दो प्रकार की कविताओं में अधिक सरसता आई है; एक तो प्रकृति-वर्णनों में दूसरे भक्ति तथा वेदांत विषय की रचनाओं में। प्रकृति-वर्णनों की कविताओं के कुछ उदाहरण ऊपर आ चुके हैं। भक्ति विषयक कविताओं में ये कभी अपने को धिक्कार रहे हैं, कभी अपने मन को भगवान के पतितपावन नाम का स्मरण कराकर धैर्य दिलाते हैं, कभी मनुष्य देह का फल भगवान का भजन ही है; इस प्रकार के विचारों में मग्न हो रहे हैं। उदाहरण :—

सजि लीजिए हार सरोजन के चहै पीजिये जो हिम को जल है;
चहै न्हाइए अमृत के सर में चहै खाइए जौन सुधा फल है।
निगमागम 'पूरन' टेरि कहैं वृथा चंदन चाँदनी को बल है;
हरि के पद पंकज धारे बिना नर हीतल होत न शीतल है।

"रहिए मकानन में चाहै घोर कानन में" को लेकर इनकी नीचे की पूर्ति देखिए :—

'पूरन' सप्रेम जो न लेत मुख राम नाम,
टीका अभिराम है निकाम तासु आनन में;
उर में नहीं जो हरि-मूरति बिराजी मंजु
कौन महिमा है कंठ मालन के दानन में।
आसन को नेम बिन बासना नमाए मिथ्या,
बिनु श्रुति ज्ञान होत मुद्रा वृथा कानन में;
चाहिए सुप्रीति धर्म कर्म के बिधानन में
'रहिए मकानन में चाहै घोर कानन में'।

भक्ति विषय की रचना का एक उदाहरण और :—

कैधौं अटके हो सबरी के बेर चाखन में,
कैधौं भक्त नरसी की हुंडी के सकारन में;

जूटे हौ अजामिल कै गनिकै उधारन में,
कैधौं मुनि गौतम की अंगना को तारन में।
कैधौं स्रम करत हतत खर-दूखन को,
लागे कुंभकर्न कैधौं रावनै सँघारन में;
पतित उधारन! हा करुना-जलधि नाथ,
बार क्यों लगाई मेरी बिपति बिदारन में।

गौ-रक्षा के ये बड़े भारी पक्षपाती थे। ये मानते थे कि सनातन धर्म की रक्षा के लिए गौ-संरक्षण अत्यंत आवश्यक है। इस विषय की भी इनकी रचनाएँ अच्छी बन पड़ी हैं:—

उठिकै सवेरे जाय नेरे जासु आदर सों,
पहिले दरस लह्यौ मोद अधिकाई है;
नैकु दुहि जाको दूध बछरै पियायो कृष्ण,
तीर यमुना के सब दिवस चराई है।
आवै अन्हवायो मैल देह को छुड़ायो जासु,
नितही ललक संग कीन्ही सेवकाई है;
दीनानाथ सोई कलिकाल के प्रभावन सों
हाय जगपावन अनाथ भई गाई है।

देशभक्ति विषयक इनके विचार बहुत उग्र नहीं थे परंतु इनका ध्यान देश की सब समस्याओं पर जाता था। स्वदेशी वस्त्र-व्यवहार इत्यादि का उपदेश इन्होंने अपनी रचनाओं में दिया है। कालिदास के मेघदूत का अनुवाद भी इन्होंने बहुत ही सरल भाषा में किया है। राजा लक्ष्मणसिंह तथा ठाकुर जगमोहनसिंह इस ग्रंथ का अनुवाद पहिले कर चुके थे परंतु जैसा प्रवाह इनके अनुवाद में मिलता है वैसा उनमें नहीं है। इस अनुवाद का नाम 'धाराधरधावन' है। एक उदाहरण:—

परसि सलिल तेरो सीतल है पौन जौन,
ताके मंद झुकन जगैयो प्रानप्यारी को;
मुकुलित मालती समूहन के साथ-साथ,
प्रफुलित कीजियो पयोद! सुकुमारी को।

ह्वै कर चकित जबै ताकै सो झरोखे ओर,
दामिनि वलित बेस बानिक तिहारी को;
लागियो सुनावन सरस सोरवारे बैन,
नीरद सुहावन ! वा मान जोग नारी को।

'चंद्रकला भानुकुमार' नामक एक बड़ा नाटक भी पूर्ण जी ने लिखा। इसमें आई हुई कविताएँ ब्रजभाषा में हैं। इसका ऋतु-वर्णन अच्छा हुआ है। इसमें वैसा चरित्र-चित्रण नहीं हो पाया। अभिनय के भी योग्य यह नहीं हुआ। संभवतः पूर्ण जी यह बात स्वयं समझते थे क्योंकि उन्होंने लिखा है "यदि यह नाटक सर्वसाधारण के सम्मुख खेला जाने योग्य न होगा तो मुझे कुछ शोक न होगा, मैंने तो इसे साहित्य की दृष्टि से लिखा है।" काव्य की दृष्टि से इस नाटक का महत्व अवश्य है।

पंडित रामचंद्र शुक्ल (संवत् १६४१–१९९७) आपने ब्रजभाषा में बहुत ही सुन्दर रचनाएँ कीं। बुद्ध-चरित्र नामक एक प्रबंध काव्य भी लाइट ऑफ एशिया (Light of Asia) के आधार पर लिखा। आप बड़े भावुक तथा सहृदय थे। इन वृत्तियों का प्रभाव आपकी रचनाओं पर भी पड़ा। आपकी भावुकता दूसरों के दुःखों से आर्द्र होकर करुणा में परिवर्तित हो जाती है अतः आपकी करुण रस की कविताएँ बहुत ही प्रभाव डालने वाली हुई हैं। आपके हृदय की रागात्मक वृत्तियाँ मनुष्यों की परिधि के बाहर प्रकृति के कोने कोने तक पहुँचती हैं। अतः आपके प्रकृति के चित्र बहुत सटीक उतरे हैं। आपका प्रकृति-वर्णन हिंदी के और कवियों से भिन्न प्रकार का है। पहली बात तो यह है कि प्रकृति के अनुरंजनकारी दृश्यों ही तक आपकी दृष्टि परिमित नहीं है। दूसरे, आपके प्रकृति-वर्णन अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। प्रकृति के चित्रणों में आप अपनी ओर से कुछ मिलाते नहीं हैं, न प्रकृति के ऊपर अपनी भावनाओं का आरोप ही करते है, न उसको सजाने का ही प्रयत्न करते हैं। आपके द्वारा प्रकृति अपने भोले रूप में जैसी है वैसी ही सामने आती है। आप स्वयं उच्च कोटि के समालोचक थे अतः आपकी कविताओं में

दोष नहीं आने पाए हैं। भाषा आपकी बहुत ही परिमार्जित तथा प्रवाह संपन्न है। आप प्राचीन काल में प्रचलित पदावली के प्रयोग के पक्षपाती नहीं थे अतः आपकी भाषा व्रजभूमि में आजकल प्रचलित भाषा से मिलती है। दोनों में भेद इतना ही है जितना कि साहित्यिक तथा लोगों द्वारा व्यवहार में प्रत्युक्त भाषा में होना स्वाभाविक है। व्यर्थ के अलंकारों के आप क़ायल नहीं। परंतु आप कविता का वास्तविक आभूषण भावों की सम्यक् स्थापना को ही मानते थे। कुछ उदाहरण :—

तनि गए सित ओस-बितानहू,
अनिल - झार - बहार धरा परी।
लुकन लोग लगे घर बीच हैं,
विवर भीतर कीट पतंग से।
युग भुजा उर बीच समेटिकै।
लखहु आवत गैयन फेरिकै।
कँपत कंबल बीच अहीर है।
भरमि भूलि गई सब तान है।

* * *

कंचन की दीवट पै दीपक सुगंध भरे
जगमग होत भौन भीतर उजास करि।
आभा रंग रंग की दिखाय रहीं तासों मिलि
किरन मयंक की झरोखन सों ढरि ढरि।
जामें है नवेलिन की निखरी निकाई अंग
अंगन की बसन गए हैं कहुँ नेकु टरि।
उठत उरोज हैं उसासन सों बार बार
सरकि परे हैं हाथ नीचे कहूँ ढीले परि।

* * *

देखि परें साँवरे सलोने, कहुँ गोरे मुख,
भृकुटी विशाल बंक, बरुनी निछी है श्याम।

अध खुले अधर दिखात दन्त कोर कछु,
चुनि धरे मोती मानौं रचिबे के हेत दाम।
कोमल कलाई गोल, छोटे पाँय पैजनी है,
देति झनकार जहाँ हिलै कहूँ कोउ बाम
स्वप्न टूट जात वाको जामैं सो रही है पाय
कुँवर रिझाय उपहार कछु अभिराम।

पं० सत्यनारायण कविरत्न—(संवत् १९४१–१९७५) इनको अधिक समय तक ब्रजभूमि में निवास करने का अवसर मिला था अतः इनका ब्रजभाषा पर स्वाभाविक अधिकार था। इनकी भाषा ठेठ ब्रज-भाषा कही जा सकती है। प्रायः साहित्यिक भाषा में सब स्थानीय प्रयोग नहीं लिए जाते, चाहे वे ब्रजभूमि के ही क्यों न हों। परंतु सत्यनारायण जी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया। इससे अन्य प्रान्तवालों (अवध आदि) को इनकी भाषा में कहीं कहीं कठिनता प्रतीत होती है। ये ब्रज-भूमि तथा श्री कृष्णचंद्र के अनन्य उपासक थे। इनकी कविताएँ प्रायः भक्ति रस की हुई हैं। इस दुनियादारी के युग में जो भक्त कवि हुए उनमें आपकी भी गणना है। इनका कविता पढ़ने का ढंग बहुत ही मनोहर तथा प्रभाव डालनेवाला होता था। अन्य भाषा-भाषी भी इनके स्निग्ध उच्चारण को देखकर मुग्ध हो जाते थे। श्री रवीन्द्रनाथ ने इनके कविता-पाठ को देखकर बड़ी प्रशंसा की थी। इन्होंने भवभूति के दो नाटकों—उत्तर रामचरित्र तथा मालती माधव—के अनुवाद भी प्रस्तुत किए हैं। अनुवादों में मूल के भावों की रक्षा अच्छी हुई है परंतु मूल का अधिक ध्यान रखने के कारण भाषा में कुछ क्लिष्टता आ गई है। इनके कुछ उदाहरणः—

(भ्रमरदूत से)

बिलखाती, सनेह पुलकाती, जसुमति माई।
स्याम-बिरह-अकुलाती, पाती कबहुँ न पाई॥
जिय प्रिय हरि-दरसन बिना, छिन-छिन परत अधीर।
सोचति मोचति निसि दिना, निसरत नैनुन नीर॥
बिकल कल ना हिये।

कहति विकल मन महरि कहाँ हरि ढूँढ़न जाऊँ।
कब गहि लालन ललकत मन गहि हृदय लगाऊँ।
सीरी कब छाती करौं, कब सुत दरसन पाऊँ।
कबै मोद निज मन भरौं, किहि कर धाइ पठाऊँ ॥

सँदेसो श्याम पै।

(मालती माधव से)

सब ओर जितै जित देखत हौं हग मोहिनी मूरति भाइ रही।
चहुँ बाहिर औ उर-अंतर में बहु रूप अनूप दिखाइ रही।
खिले स्वर्न सरोज मनोहर को जिह आनन ओप लजाइ रही।
अति नेह सों मो-दिसि लाज-पगी निज दीठि कछू तिरछाइ रही।

मथन शील कोउ वेदना, जारत सकल शरीर।
इंद्रिय-ग्राहक गुन हरत, मोह महा बेपीर।
उत्कंठित छिन-छिन परम, उफनत क्राथ समान।
जरत हृदय, तोऊ बसत, वा प्यारी में प्रान ॥

श्री बचनेश जी—आप ब्रजभाषा के पुराने कवि हैं। आपकी रचनाएँ 'सुकवि' में प्रायः निकला करती हैं। आप खड़ी बोली में भी सुंदर रचनाएँ कर लेते हैं। भाषा शुद्ध प्रवाहयुक्त होती है। शृङ्गारी कविताएँ बहुत सुंदर बन पड़ी हैं। सामयिक विषयों पर भी लिखा करते हैं। इनकी दोनों भाषाओं का एक-एक उदाहरण दिया जाता है :—

हाय हाय आयकै पराय गयो प्यारो कहाँ,
भागी तजि गेह नहिं देह की सुरति है।
खोजै खोजै खरिक धरिक कल धारै नहीं,
कुंज बन कूलन कछारन भ्रमति है।
बूझै तरु बेलनि अरूझै मृग वृन्दन सों,
जित को डुलत पात तितही को गति है।
टेरति मुरारी चौंकि हेरति खरक सुनि,
छाँह सों सुमति करि रोवति हँसति है।

इस भाँति की बातें अनेक बनाकर छीन गुलाब को ले गया माली।
भ्रमरादिक ने भी निराश यहाँ हो प्रफुल्ल लता कोई दूसरी जा ली।
'बचनेश' लखो जननी का हिया सुत के हित में तब तो गम खाली।
पर काट न डाली गई तब लौं रही शुष्क ही होती गुलाब की डाली।

श्री वियोगी हरि (संवत् १९५३—वर्त्तमान) ये एक भक्त कवि हैं। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय जी के ब्रजभाषा क्षेत्र को छोड़कर खड़ी बोली में चले जाने के कारण रत्नाकर जी के पश्चात् ये आजकल ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। जैसे भावमय भक्ति के उद्‌गार भक्ति काल के कवियों की रचनाओं में मिलते हैं वैसे ही इनके रचनाओं में भी। परंतु ये अपने इष्ट की उपासना में इतने तल्लीन कभी भी नहीं होते कि लोक को भूल जावें। ये अपने भगवान् के दर्शन घट-घट में करते हैं, संकुचित भक्तों की तरह केवल प्रतिमाओं में नहीं। वैष्णवों की-सी कट्टरता भी आप में नहीं है। अछूतोद्धार के आप पूरे पक्षपाती हैं। यह पक्षपात मौखिक ही नहीं है; आप कार्य-क्षेत्र में भी समाज-सुधारकों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलते हैं। अछूतों के पक्ष को आप बड़ी भावुकता के साथ पेश करते हैं। आजकल आप दिल्ली से निकलनेवाले 'हरिजन सेवक' का संपादन कर रहे हैं।

आपकी प्रेम विषय की कविताएँ भी बड़ी मार्मिक होती हैं। आपके इस विषय के उद्‌गारों का आलंबन लौकिक नहीं रहता। किसी ऐसे के इश्क में आप व्याकुल रहते हैं जो इन आँखों संसार में नहीं दिखाई पड़ता। पर आपके लिए वही सत्य है, वही जीवन है।

वीर रस की कविताएँ भी आपकी सुन्दर होती हैं। हिंदी में वीर रस का प्रयोग प्रायः ठीक अर्थ में नहीं होता है। वीर रस का स्थायी केवल उत्साह है, क्रोध नहीं। परन्तु ब्रजभाषा में वीर रस से युद्ध वीर ही समझा जाता है। वियोगी जी ने इस रस को इस संकुचित अर्थ में नहीं लिया है। संस्कृत आचार्यों ने वीर रस के स्थायी उत्साह को दृष्टि में रखकर इसके चार विभाग किए हैं—दानवीर, धर्मवीर, दयावीर, युद्धवीर। इसी व्यापक अर्थ में वियोगी हरि जी ने भी वीर रस को

लिया है। हिंदी में वीर रस के बहुत कम काव्य लिखे गए। भूषण की शिवाबावनी, चंद्रशेखर वाजपेयी का हम्मीर हठ, सूदन का सुजानचरित्र आदि दो-चार पुस्तकें ही नाम लेने को हैं। रत्नाकर जी ने भी वीराष्टकों की रचना कर इस ओर बहुत बड़ा काम किया। आपकी 'वीर सतसई' का हिंदी-साहित्य में बहुत महत्त्व है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने इस पुस्तक पर आपको १२००) का पुरस्कार दिया था।

वीर तथा शृंगार रस की व्यंजनाओं में एक भेद है। शृंगार रस की स्थापना किसी भी नायिका पर चाहे वह परिचित हो, चाहे अपरिचित, हो ही सकती है। पर वीर रस के लिए यह आवश्यक है कि काव्य में वर्णित आलंबन पाठकों को उत्साहित करने की क्षमता रखता हो और ऐसा तभी हो सकता है जब वीरता का विषय ऐसा हो जिसके साथ सब लोग अपने हृदय का सामंजस्य स्थापित करने में समर्थ हो सकें। जब लोक के मंगल तथा कल्याण करनेवाले महापुरुषों के चरित्रों से वीर रस की सामग्री ली जाती है तभी वास्तविक वीर रस की व्यंजना हो पाती है। किसी ऐरे-गैरे के उत्साह से साधारण लोगों को क्या पड़ी है। अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा में अनेक कवियों ने रचनाएँ कीं, पर उन रचनाओं को स्थायित्व न मिल सका। शिवाजी एक ऐसे नायक थे जो लोक की भावनाओं के प्रतिनिधि थे, अतः भूषण की रचनाओं को लोगों ने बड़े उत्साह से अपनाया। वियोगी हरि जी की रचनाओं में ऐसे ही वीरों की प्रशस्तियाँ हैं अतः आपका काव्य लोगों को उत्साहित करने में बहुत सफल हो सकता है।

आपकी भाषा में वैसी सफाई नहीं आने पाई है जैसी रत्नाकर आदि के काव्यों में। भाषा में एकरूपता भी नहीं है। भिन्न-भिन्न कालों में प्रयुक्त होनेवाले संज्ञाओं एवं सर्वनामों के रूपों तथा क्रिया के कालों को एक साथ रखने से भाषा का स्वरूप विकृत-सा लगता है। कहीं-कहीं खड़ी बोली का भी मेल है। कभी-कभी आप भ्रमात्मक अनुरूपता से भी शब्दों के स्वरूपों की रचना कर लेते हैं। आपने 'प्रान' को 'प्रानु' नहीं लिखा है पर 'देत हैं' को 'देतु हैं' लिख दिया है। वास्तव

में यह व्रज की परिपाटी का पूर्ण परिचय सूचित नहीं करता। 'बेंचि' के लिए 'बैंचि' आदि प्राचीन प्रयोग समीचीन नहीं प्रतीत होते। रत्नाकरजी की बात दूसरी थी। उनकी संपूर्ण भाषा की गठन ही उसी श्रेणी की होती थी। एक ओर सप्तमी के अर्थ में 'में' का प्रयोग किया गया है दूसरी ओर सागर के लिए बाबा आदम के समय के 'सायर' शब्द का प्रयोग हुआ है। श्मशान के लिए 'समसानु' का प्रयोग ठीक नहीं हुआ है। जब बिहारी के 'समरु' शब्द की इतनी खिल्ली उड़ाई जाती है तो प्रचलित 'मसान' या 'मसानु' को छोड़कर 'समसानु का प्रयोग क्यों किया जावे। पर ये बातें आपकी पदों की भाषा पर लागू नहीं होती। आपके रचे पदों की भाषा बहुत चलती हुई तथा मधुर है। प्राचीन वैष्णव भक्तों को भाषा में जो माधुर्य्य है वही आपकी रचनाओं में है।

अलंकारों की ओर आपकी रुचि नहीं है। आप जब आलंकारिक शैली पर रचनाएँ करते भी हैं तो भी अलंकारों के नियमों का कठोरता से पालन करने के पक्ष में नहीं रहते। निम्नलिखित दोहे के अंत में उपमावाची 'इव' आ जाना कुछ लोगों को खटकेगा क्योंकि अब तक रूपक चल रहा था :—

ग्रसति ग्राह अवरंग मुख, खंड बुँदेल गयंद।
उमगि उधार्यो धाय धनि हरि इव चंपत नंद।

पर ये सब अलंकार-शास्त्र की सांप्रदायिक बातें हैं जिनका ध्यान एक सच्चे कवि को भाव के प्रवाह में कभी-कभी नहीं रहता। अपभ्रंश काल की द्वित्ववर्णवाली शैली का अनुकरण आपने अपनी 'वीरसतसई' में नहीं किया है। संभवतः यही एक दोहा ऐसा है जिसमें ऐसा किया गया है:—

रण सुभट्ट वै भुट्ट लौं गहि असि कट्टत मुंड।
उठि कबंध जुट्टत कहूँ, कहुँ लुट्टत रिपु मुंड॥

नीचे इनकी वीर सतसई के कुछ दोहे दिए जाते हैं :—

दल्यौ अहिंसा अस्त्र लै, दनुज दुःख करि युद्ध।
अजय मोहगज केसरी, जयतु तथागत बुद्ध॥

वह चितौर की पद्मिनी, किमि पैहो सुलतान।
कब सिंहिनी अधरान कौ, कियौ स्वान मधुपान।
प्राणप्रिया को सीसु लै, परम प्रेम उपहार।
चल्यौ हुलसि रणमत्त ह्वै, चूडावत सरदार।
करकीं क्यों आपहिं छुरीं! कहति हरम अकुलाय।
सुन्यो नाहिं आवत सिवा, समर निसान बजाय॥
माथ रहौ वा ना रहौ, तजैं न सत्य अकाल।
कहत कहत ही चुनि गए, धनि गुरु गोविंदलाल॥
निज प्रिय लाल कटाय जो, प्रभु सिसु लियो बचाय।
क्यों न होय मेवाड़ में, पूजित पन्ना धाय॥
भ्रमत हे जहँ मत्त ह्वै, सहज सूर दिन रैन।
लटकि लजीले छैल तहँ, मटकि नचावत नैन॥

इनका एक पद भी देखिए :—

माधव आज कही किन साँची!
क्यों हम नीचन तें हरि रूठे ऊँचन में मति राँची।
यंत्रित बज्र कपाटनि गढ़ ए दृढ़ मंदिर तुन पाए।
बलिहारी रणछोड़नाथ जू! भले भाजि इत आए॥
हम सब के अघ देखि दुरे हौ किधौं मंदिरन-माहीं।
कै कछु डरत उच्च बंसिन को, छुवत न हमरी छाहीं॥
पै इतहूँ नहिं कुसल तुम्हारी, कल न लेन हम दैहैं।
जो पै हियें प्रेम कछु ह्वैहै, तुम्है खैंचि प्रभु लैहैं॥

यहाँ तक ब्रजभाषा के विशेष विशेष कवियों का वर्णन हुआ। इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रसिद्ध कवि हैं जिनके नाम यहाँ नहीं आए। जो खड़ी बोली की कविता में प्रसिद्ध हो गए हैं उनकी चर्चा खड़ी बोली के प्रसंग में की जावेगी। पं० नाथूरामशंकर शर्मा, पं० गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, लाला भगवानदीन, पं० रूपनारायण पाण्डेय इत्यादि की ब्रजभाषा की रचनाएँ उच्चकोटि की हुई हैं परन्तु पीछे चलकर इन्होंने ब्रजभाषा छोड़ ही सी दी तथा खड़ी बोलीके क्षेत्र

में अपना महत्त्व का स्थान बना लिया। अतः इनका वर्णन उसी प्रसंग में अधिक समीचीन होगा। पुरानी शैली के कवियों में किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', सुधाकर द्विवेदी इत्यादि भी उल्लेख्य हैं परन्तु विस्तार भय से इन पर अधिक नहीं लिखा जा सकता।

ब्रजभाषा के प्रकरण को खड़ी बोली से अलग कर देने के कुछ कारण थे। प्रथम तो ब्रजभाषा में गद्य की धारा नहीं चली, दूसरे नवीन-नवीन भावनाओं का जितना प्रभाव खड़ी बोली के काव्यों पर पड़ा उतना ब्रजभाषा पर नहीं। देशभक्ति, समाज-सुधार, भाषा की उन्नति इत्यादि नवीन विषय ब्रजभाषा में भी आए परन्तु इन नवीन विषयों के लेने पर भी ब्रजभाषा बहुत कुछ अपनी पुरानी शैली को बनाए रही और ब्रजभाषा के बहुत से श्रेष्ठ कवि तो रीतिकाल अथवा भक्तिकाल में ही श्वास लेते रहे। उदाहरण के लिए ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि रत्नाकर जी ने नवीन भावनाओं को अपने पास फटकने ही नहीं दिया। इन सब विचारों से ब्रजभाषा का विवेचन अलग ही करना कुछ अधिक समीचीन प्रतीत हुआ।

—:※:—

खड़ी बोली

—*—

प्रस्तावना

व्रजभाषा के प्रकरण में इस बात की चर्चा हो चुकी है कि व्रजभूमि के आस-पास बोली जानेवाली भाषा में सर्वप्रथम काव्य-रचना प्रारंभ हुई। क्रमशः इस भाषा को विस्तृत साहित्यिक महत्त्व प्राप्त होता गया तथा दूर-दूर के प्रदेशों में इसने विस्तार प्राप्त किया। शताब्दियों तक यही भाषा काव्य-भाषा के रूप में व्यवहृत होती चली आई। अँगरेजी राज्य की स्थापना के पहले किसी अन्य उप-भाषा में रचना करने का प्रश्न ही नहीं उठा। इस राज्य की स्थापना होने पर कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई जिनके कारण मेरठ तथा दिल्ली प्रान्त के आस-पास की भाषा का प्रचार बढ़ने लगा। अँगरेजों ने देखा कि यहाँ का परंपरागत साहित्य एक भिन्न भाषा में है और आधुनिक काल में साहित्य में एक नवीन भाषा को स्थान दिया जा रहा है। इस देश की भाषाओं से परिचित न होने के कारण उन लोगों को भ्रम हुआ कि यह नवीन भाषा एक गढ़ी हुई कृत्रिम भाषा है तथा इसका अस्तित्त्व देश में प्राचीन समय से कभी नहीं रहा है। साधारण लोगों को यदि ऐसा भ्रम होता तो ऐसी कोई बात न थी, पर ग्रियर्सन साहब ऐसे भाषा-तत्वविद् को भी जब हम इस भ्रम में पड़ा हुआ पाते हैं तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। 'लालचन्द्रिका' की भूमिका में ग्रियर्सन साहब लिखते हैं:—

"Such a language did not exist in India before... When, therefore Lalluji Lal wrote his Premsagar in Hindi, he was inventing an altogether new language"

अर्थात् 'इस प्रकार की भाषा भारतवर्ष में पहले कहीं थी ही नहीं; इसलिए जब लल्लूजी लाल ने प्रेमसागर लिखा, उस समय उन्होंने एक बिलकुल नई भाषा ही गढ़ी'। इसी भ्रम की पुनरावृत्ति उन्होंने लिंग्विस्टिक

सर्वे 'Linguastic Survey' (भाषाओं की जाँच) की रिपोर्ट में की है। ऐसी अवस्था में यह देख लेना अत्यन्त आवश्यक होगा कि वस्तुतः इस भाषा का देश में कभी पहले भी अस्तित्त्व था या यह एक दम गढ़ी हुई ही भाषा है। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य में इसको विस्तृत स्थान कभी नहीं मिला, पर इसके अस्तित्त्व का पता हम बहुत प्रचीन काल से पा सकते हैं। प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्र सूरि ने अपने व्याकरण में अपभ्रंशों के जो उदाहरण दिए हैं उनको देखने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि वे सब उदाहरण किसी एक ही अपभ्रंश के नहीं हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों की प्राकृतें थीं उसी प्रकार उनकी पृथक्-पृथक् अपभ्रंश बोलियाँ भी थीं। उनमें से कुछ उदाहरणों में हम खड़ी बोली के प्रचीनतम स्वरूपों का पता चला सकते हैं। यों तो खड़ी बोली की अनेक प्रवृत्तियाँ तथा विशेषताएँ हैं, पर इसकी आकारान्त प्रवृत्ति ही मोटे ढंग से इसे ब्रजभाषा से पृथक् करती है, क्योंकि ब्रजभाषा की प्रवृत्ति ओकर की ओर है। इस आकारान्तवाली प्रवृत्ति के अनुरूप अनेक उदाहरण हेमचन्द्र के व्याकरण में मिल सकते हैं। उदाहरणः—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजंतु वयंसिअह जइ भग्गा घरु एंतु॥ १॥

इसमें भल्ला, हुआ, मारिया, महारा, भग्गा आदि की प्रवृत्ति खड़ी बोली का आभास देती है। हेमचन्द्र का समय विक्रम की बारहवीं शताब्दि का उत्तरार्द्ध माना जाता है। परन्तु उन्होंने सब उदाहरण अपने ही बनाये हुए नहीं दिये हैं। अनेक उदाहरण उनसे पूर्व के कवियों की कृतियाँ हैं। ऐसी अवस्था में इन दोहों का समय और भी पहिले पड़ता है। इसके पश्चात् हिन्दी-भाषा की सर्व प्रथम पुस्तक जो हमें प्राप्त है वह बीसलदेव रासो है। इसका रचनाकाल संवत् १२१२ है। इसके कवि 'नरपति नाल्ह' ने इसका रचनाकाल यों लिखा हैः—

बारह से बहोत्तरहाँ मझारि।
ज्येष्ठ बदी नवमो बुधवार॥
"नाल्ह" रसायण आरंभई।

इस पुस्तक की भाषा व्रजभाषा से बहुत कुछ प्रभावित है, पर है वह राजपूताने की प्रान्तीय बोली ही जिसे उस समय पिंगल के अनुकरण पर 'डिंगल' कहते थे। इस पुस्तक में भी खड़ी बोली के अस्तित्त्व के प्रमाण मिलते हैं। निम्नलिखित उदाहरण में खड़ी बोली की उक्त आकारान्त प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

१—मोती का आषा किया।

२—दीधा ताजी उत्तिम ठाई।

३—चित फाट्या मन उचट्या।

इस पुस्तक में जहाँ 'गायो', 'जोहार्यो', निरखियो' आदि व्रजभाषा के रूप मिलते हैं वहाँ साथ-ही-साथ 'भराया,' 'पहूँचा', 'पखाल्या', 'आठ्या' आदि रूप भी मिलते हैं जो इस बात की ओर संकेत करते हैं कि कोई अपभ्रंश खड़ी बोली के रूप में भी विकसित हो रही थी। इसके पश्चात् तेरहवीं शताब्दि में अमीर खुसरो का समय आता है। उनकी कविता के उदाहरणों की भाषा तो एकदम आधुनिक खड़ी बोली के बहुत पास पहुँच गई है।

१—"आदि कटैं ते सब को पारै।
मध्य कटैं ते सबको मारै॥
अंत कटैं ते सब को मीठा।
कह खुसरो मैं आँखों दीठा॥"

२—"जल का उपजा जल में रहै।
आँखों देखा खुसरो कहै॥

खुसरो की कविता में एक बात हमें अवश्य आश्चर्य में डाल देती है। तेरहवीं शताब्दि में खड़ी बोली ने इतना विकास कर लिया होगा यह समझ में नहीं आया। इसी कारण कुछ लोग उसकी कविता के बहुत से अंशों को प्रक्षिप्त मानते हैं। यदि कुछ अंश प्रक्षिप्त भी मान लिए जायँ तो भी प्रतिपाद्य सिद्धांत पर कोई आघात नहीं पहुँचता। इसके पश्चात् कबीरदास जी की कविता में हमें खड़ी बोली के दर्शन होते हैं। कबीरदास जी का समय पंद्रहवीं शताब्दि में पड़ता है। इनके नाम से प्रसिद्ध

बहुत सी साखियों और पदों की भाषा एकदम आधुनिक खड़ी बोली से मिलती है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर कुछ लोग यह कहते हैं कि कबीर के समय में खड़ी बोली को ऐसा समुन्नत रूप प्राप्त ही न हुआ होगा। 'काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा' ने एक प्राचीन हस्त-लिखित प्रति के अनुसार 'कबीर ग्रंथावली' का प्रकाशन किया है। इस प्रति का रचनाकाल संवत् १५६१ है। ऐसी अवस्था में इस पुस्तक के प्रामाणिक होने में संदेह नहीं किया जा सकता। इस ग्रन्थावली के अनुसार भी कबीर के अनेक दोहे, पदावली आदि मिलती हैं जिनके रूप खड़ी बोली के बहुत पास पहुँच गये हैं:—

नां कुछ किया न करि सक्या, नां करणें जोग सरीर।
जे कुछ किया सु हरि किया, तार्थें भया कबीर॥ १॥
कबीर किया कछू न होत है, अनकीया सब होइ।
जे किया कछु होत है, तौ करता औरे कोइ॥ २॥

इसके बाद नानक, दादू आदि अनेक संत कवियों ने भी इस भाषा का प्रयोग अपने उपदेशों में स्थान-स्थान पर किया है। भूषण ने भी 'शिवाबावनी' में इसका प्रयोग किया है:—

(१) अब कहाँ पानी मुकतों में पाती हैं।
(२) खुदा की कसम खाई है।
(३) अफजलखान को जिन्होंने मैदान मारा।

संवत् १८०२ में काशिराज महाराज बरिवंडसिंह की सभा में 'रघुनाथ' नाम के एक प्रसिद्ध कवि थे। इनकी रचनाओं में भी खड़ी बोली के उदाहरण मिलते हैं।

आप दरियाव पास नदियों के जाना नहीं
दरियाव पास नदी होयगी सो धावैगी।
दरखत बेलि आसरे को कभी राखता न,
दरखत ही के आसरे को बेलि पावैगी॥
मेरे ही लायक जो था कहना सो कहा मैंने,
'रघुनाथ' मेरी मति न्याय ही को गावैगी।

वह मुहताज आपकी है आप उसके न,
आप क्यों चलोगे ? वह आप पास आवैगी ॥

रघुनाथ से २०-२५ वर्ष पहले ही सीतल कवि ने भी खड़ी बोली में काव्य-रचना की थी। तोप, सूदन, ग्वाल आदि और भी अनेक कवियों की कविता में खड़ी बोली के उदाहरण मिल जाते हैं। इसके पश्चात् तो आधुनिक युग ही प्रारंभ हो जाता है जिसमें क्रमशः खड़ी बोली विस्तार को प्राप्त होती गई। फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यक्ष जान गिल क्राइस्ट ने देशी भाषा की गद्य पुस्तकें लल्लूलाल जी तथा सदल मिश्र से प्रस्तुत करवाई थीं। इन पुस्तकों की आवश्यकता इसी लिए पड़ी कि अँगरेजी व्यापारी देशी भाषा का परिचय प्राप्त करने के लिए कुछ आधार चाहते थे। यदि ग्रियर्सन साहब के मतानुसार यह हिंदी एक गढ़ी हुई भाषा थी तो इसमें पुस्तकें प्रस्तुत करवाने की आवश्यकता ही क्या थी, क्योंकि एक कृत्रिम भाषा के द्वारा अँगरेज व्यापारियों की देशी लोगों के साथ भाव-विनिमय की आवश्यकता की पूर्त्ति ही नहीं हो सकती थी। ऐसी अवस्था में इसे एक गढ़ी हुई भाषा कहना युक्तिसंगत नहीं।' अब इस बात पर भी विचार कर लेना आवश्यक है कि इस खड़ी बोली ने संपूर्ण प्रांत में अपना विस्तार किन-किन परिस्थितियों से प्रेरित होकर कर लिया। मुसलमानों का प्रभुत्व इस प्रांत में सर्व प्रथम दिल्ली के आस-पास स्थापित हुआ। वे आगंतुक यहाँ की भाषाओं से परिचित नहीं थे, और उनके लिए यह संभव भी नहीं था कि अपनी भाषाएँ (फ़ारसी आदि) यहाँ के लोगों को सिखा दें। पर परस्पर भावों को समझे-समझाए विना व्यवहारिक जीवन का निर्वाह तथा साम्राज्य का संचालन संभव न था। अतः उन लोगों ने दिल्ली के आस-पास की बोली को ही अपनाना प्रारंभ किया। इसमें सन्देह नहीं कि देशी बोली पर अधिकार प्राप्त करने में बहुत काल लगा होगा और उनके संपर्क से विदेशी बोलियों के-फ़ारसी अरबी, तुर्की आदि भाषाओं के—अनेक शब्द उस बोली में संमिलित होते चले गए होंगे तथा उनकी भाषा के व्याकरण आदि का भी प्रभाव देशी बोली पर अवश्य पड़ा होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह

देशी बोली 'खड़ी' ही थी। इसे मुसलमानों ने अपनी भाषा समझ लिया तथा इसका नामकरण उर्दू हुआ। यह उर्दू हिंदी से भिन्न न थी। मुसलमानी भाषाओं से प्रभावित हिंदी का वह रूप ही था जिसका जन्म आगंतुकों की सेनाओं के शिविर में हुआ था, जैसा इसके नाम ही से सूचित होता है। प्रारंभ में यह भाषा उर्दू-हिंदी ही कहलाती रही। पश्चात् यह उर्दू विशेषण विशेष्य के स्थान पर आ बैठा और संक्षेप में इसे उर्दू ही कहा जाने लगा। नूरनामा नामक पुस्तक के एक मुसलमान लेखक ने उस भाषा को हिंदी ही बतलाया है जिसे आजकल उर्दू कह लेते हैं। देखिये:—

जुबाने अरब में य' था सब कलाम।
किया नज्म हिंदी में मैंने तमाम॥

इस भाषा को अपना मान मुसलमान लोग जहाँ-जहाँ फैलते गए वहाँ-वहाँ इसे अपने साथ लेते गए। साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ यह भाषा भी भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में फैलने लगी। रेखता, दक्खिणी इत्यादि इसी के भेद हैं। विजेताओं का प्रभाव विजितों की भावनाओं पर भी पड़ता है। हारे हुए लोग यदि हरानेवालों को अपने से कुछ श्रेष्ठ समझ लेवें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसके पश्चात् विजेताओं की रीति, नीति, शिष्टता, वेश आदि का अनुकरण प्रारंभ होता है। मुसलमानों के अँगरखे, चुस्त पैजामे का अनुकरण जिस प्रकार प्रारंभ हुआ उसी प्रकार उनकी-सी बोली बोलने का भी। यह प्रयत्न संभवतः अपने को शिष्ट तथा सभ्य समझे जाने के उद्देश्य से ही हुआ होगा। मुसलमानों के साथ-साथ हिंदुओं में भी इस विदेशी शब्दों से मिश्रित भाषा का पठन-पाठन प्रारंभ हुआ। दरबारों में नौकरी पाने की अभिलाषा से फारसी का अध्ययन तो हिंदू लोग बड़े चाव से पहले ही से करते आते थे अतः उनके लिये इस बोली को सीखने में कोई कठिनाई न हुई। इस प्रकार मुसलमानों के साथ हिंदुओं का भी सहयोग प्राप्त करते हुए यह बोली संपूर्ण उत्तरापथ में फैलने लगी। यदि खुसरो को हम छोड़ भी दें तो भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि और-

ङ्गजेब के समय से उर्दू में काव्यरचना भी प्रारंभ हो गई। परंतु उस समय की उर्दू आजकल की मौलवियों की उर्दू से एक बात में भिन्न थी। प्रारंभ के उर्दू लेखकों को देशी शब्दों के बहिष्कार की धुन सवार न थी। विदेशी शब्दों का प्रयोग होता तो अवश्य था पर केवल भावाभिव्यंजन की सुगमता को लक्ष्य में रखकर। हम चाहें तो कह सकते हैं कि प्रारंभिक उर्दू कविता की भाषा हिंदी ही थी, यद्यपि कविगण छंद फारसी ही के चुना करते थे। यही अवस्था एक शताब्दि के लगभग चलती रही। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुग़ल सिंहासन डाँवाडोल होने लगा। यद्यपि मुगलराज्य के एक दम से ध्वंस हो जाने में देर थी, फिर भी शासन की अव्यवस्था के कारण व्यापार के लिए आवश्यक शांति के वातावरण की कमी होने लगी। वैश्य खत्री आदि जातियाँ जिनके हाथों में दिल्ली आदि पश्चिमी नगरों का व्यवसाय था, धीरे-धीरे पूर्व की ओर बढ़ने लगीं। पूर्व की ओर से अँगरेजों का साम्राज्य बढ़ता हुआ चला आ रहा था। अँगरेजी राज्य की सुव्यवस्था में व्यापारियों को अनुकूल स्थिति मिली। अतः वे धीरे-धीरे पूर्वी नगरों की ओर फैलने लगे। ये अपने साथ-साथ अपने नगरों की खड़ी बोली भी लिए चलते थे। ज्यों-ज्यों पूर्व के बाजारों में इनका आधिपत्य जमता गया त्यों-त्यों वहाँ की बाजारू बोली खड़ी होती गई। इन व्यवसायों के द्वारा प्रयुक्त खड़ी बोली में तथा मुसलमानों द्वारा व्यवहृत उर्दू-हिंदी में एक बड़ा भेद था। इनकी भाषा में विदेशी शब्दों का उतना आधिक्य नहीं रहता था जितना मुसलमानों की भाषा में। परंतु ढाँचा दोनों का एक ही था। दरबारों में मुसलमानों के द्वारा खड़ी बोली का प्रचार बढ़ रहा था; बाजारों में व्यवसाइयों द्वारा। प्रांतीय बोलियाँ केवल घरों के अंदर काम आती थीं। मुसलमान लोग उर्दू में काव्य-रचना करते थे, हिंदू लोग अपनी ब्रजभाषा में। हिंदू भी मुसलमानों की काव्य-रचना में योग देने लगे थे। अनेक हिंदुओं ने उच्चकोटि के ग्रंथ प्रस्तुत कर उर्दू-साहित्य की बहुत सेवा की। इस उर्दू का कितना प्रचार हो गया था वह इसी बात से जाना जा सकता है कि हरिश्चंद्र काल के प्रायः सभी हिंदी-लेखक

पहले उर्दू के ही लेखक थे। स्वयं हरिश्चंद्र जी भी 'रसा' नाम से उर्दू काव्य-रचना में योग दे चुके थे।

हमारे साहित्य का रीति-काल अब समाप्त हो चुका था। अँगरेजों के सामने यह प्रश्न था कि किस भाषा के द्वारा वे अपने दरबारों, कचहरियों आदि का कार्य चलावें। देश में संस्कृत तथा फारसी भाषाएँ हिंदू तथा मुसलमानों के द्वारा उच्चदृष्टि से देखी जाती थीं। अँगरेजों ने भी इन्हीं भाषाओं के अध्ययन में आर्थिक सहायता देना प्रारंभ किया। परंतु ये भाषाएँ व्यावहारिक दृष्टि से अधिक काम की न थीं। उधर राजा राममोहन राय आदि प्रभावशाली सज्जन अँगरेजी के प्रचार के लिए प्रयत्न कर रहे थे। कलकत्ता के हिंदू कॉलेज की स्थापना इन्हीं लोगों के उद्योग का फल था। अँगरेजी शिक्षा के प्रचार का आदेश संवत् १८५४ में चार्ल्स ग्रांट ने ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों को दिया था। पर एक शताब्दि तक इसका पालन विस्तृत रूप से न हो सका। संवत् १८८३ में लार्ड विलियम बेंटिंक के समय में मेकाले ने अँगरेजी भाषा के प्रचार का बहुत ही जोरों के साथ समर्थन किया। संस्कृत आदि भाषाओं की उसने बड़ी उग्र निंदा की और कहा कि जब तक भारतवर्ष में अँगरेजी-शिक्षा का प्रचार न होगा तब तक देशी लोगों के हृदय में अँगरेजों के प्रति सहानुभूति ही नहीं हो सकती। अँगरेजों के उद्योग का यह फल हुआ कि देश में अँगरेजी की शिक्षा का प्रारंभ हो गया और वह राज-भाषा मान ली गई। इस शिक्षा के प्रचार के लिए स्थान-स्थान पर अँगरेजी के कॉलेजों तथा स्कूलों की स्थापना प्रारंभ हुई। पर अँगरेजी के अतिरिक्त भी एक भाषा की और आवश्यकता थी। यद्यपि उच्चकोटि से दरबारी कार्यों में अँगरेजी का व्यवहार हो चला, पर कचहरियों आदि के कार्य के लिए, जिनको साधारण जनता के संपर्क में आने की आवश्यकता रहती है, एक अन्य भाषा अपेक्षित हुई। अँगरेज लोग अपने मुसलमान खानसामों तथा मुंशियों को उर्दू का व्यवहार करते हुए पाते थे अतः उन्होंने भ्रमवश समझ लिया कि उर्दू ही यहाँ की देशी भाषा है। कुछ लोगों की सम्मति है कि उर्दू को देश

भाषा मानने में भ्रम न था किंतु राजनीतिक चातुर्य से प्रेरित होकर ऐसा किया गया। इस प्रकार अँगरेजी के साथ-साथ उर्दू का महत्त्व भी बढ़ने लगा। उर्दू तथा अँगरेजी की शिक्षा प्राप्त करके बाबू लोग स्कूलों से निकलने लगे। ऐसे लोगों के हृदयों में देशी भाषा के प्रति यदि उपेक्षा अथवा घृणा ही उत्पन्न हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। धार्मिक भावना से प्रेरित होकर हिंदू लोग कभी-कभी तुलसी कृत रामायण का पाठ तथा सूर के पदों का गान अपने-अपने घरों के अंदर कर लिया करते थे। घर से बाहर आकर लोग इनका नाम संभवतः इस डर से नहीं लेते थे कि गँवार या असभ्य न समझे जायँ। बाहर तो सभा सोसाइटियों में, परस्पर मैत्रीपूर्ण विवादों में, सर्वत्र उर्दू का बोलबाला था। हिंदी घरों के अंदर सिकुड़कर बैठ गई थी और संकोचवश कभी बाहर झाँकने तक का साहस नहीं करती थी। हमारे साहित्य की जिस समय ऐसी स्थिति थी उसी समय बलवे के एक वर्ष पूर्व संवत् १९१३ में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की नियुक्ति शिक्षा विभाग में हुई इन्होंने हिंदी भाषा के उत्थान के लिए कैसे-कैसे उद्योग किए उनकी चर्चा कुछ आगे चलकर करनी है अभी यहाँ केवल यह देख लेना है कि हमारी भाषा में इस समय के पूर्व गद्य की क्या स्थिति थी तथा मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्लाखां, सदल मिश्र तथा लल्लूलाल ने गद्य-साहित्य में क्या-क्या कार्य किए थे तथा ईसाई पादरियों ने हिंदी के किस रूप को अपना कर अपने धर्म का प्रचार आरंभ कर दिया था।

आधुनिक काल के पूर्व हमारा साहित्य पद्यमय ही रहा। प्रायः सब देशों के साहित्यिक इतिहास का अध्ययन करने पर हम इस सरल तथ्य पर सुगमता से पहुँच सकते हैं कि भाषाओं का प्रायः लिखित साहित्य पद्य से प्रारंभ होता है तथा पद्यमय साहित्य की यह धारा बहुत काल तक निरंतर प्रवाहित होती रहती है। गद्य की रचना का प्रारंभ तो समाज में व्यावहारिकता की दृष्टि से होता है। पहले-पहल उपयोगिता को दृष्टि में रखकर गद्य की रचनाएँ प्रारंभ होती है। क्रमशः समृद्ध होता हुआ गद्य-साहित्य फिर सौंदर्य की ओर अग्रसर होने लगता है। संक्षेप

में हम यह कह सकते हैं कि साहित्य में साधारण गद्य-रचनाओं के पश्चात् गद्य-काव्यों का युग आता है पर इन उच्चकोटि के गद्य-काव्यों के साथ-साथ व्यवहारोपयोगी गद्यसाहित्य की सृष्टि होती ही रहती है। अपने यहाँ के गद्य साहित्य की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का अध्ययन करने के पूर्व यह देख लेना आवश्यक होगा कि आधुनिक युग के पूर्व हमारे गद्य-साहित्य की क्या स्थिति थी तथा गद्य यदि लिखा जाता था तो किस प्रकार की भाषा में। हिंदी पुस्तकों की खोज के फल-स्वरूप हठ-योग आदि की कुछ पुस्तकें गोरखनाथ के नाम पर मिली हैं। पंडित रामचंद्र शुक्ल जी की सम्मति में ये सब पुस्तकें स्वयं गोरखनाथ जी की लिखी हुई नहीं है। कुछ पुस्तकों का तो नाम ही यह बताता है कि वे गोरखनाथ के शिष्यों की लिखी हुई हैं। जैसे—गोरख-गणेश-गोष्ठी, महादेव-गोरख-संवाद, गोरखनाथ जी की सत्रह कला। अवशिष्ट पुस्तकों के विषय में भी यह अनुमान होता है कि ये भी गोरखनाथ के शिष्यों द्वारा संग्रहीत होंगी। यह भी संभव है कि उनके शिष्यों ने स्वयं इन पुस्तकों की रचना की हो। गोरखनाथ जी का समय विक्रम की चौदहवीं शताब्दि का उत्तरार्द्ध माना जा स ता है। इनमे से कुछ पुस्तकों के रचनाकाल के विषय में संदेह ही नहीं किया जा सकता क्योंकि लेखक ने रचनाकाल स्वयं दे दिया है। इन पुस्तकों की भाषा ब्रज है। इनकी वाक्यरचना कुछ इस प्रकार की है जिससे यह अनुमान भी किया जा सकता है कि संभवतः ये संस्कृत की किसी पुस्तक के अनुवाद हों। जो कुछ भी हो, संवत् १४०० के लगभग के ब्रजभाषा के गद्य के नमूने के रूप में हम इन्हें प्रस्तुत कर सकते हैं। एक उदाहरण :—

"श्री गुरु परमानंद तिनको दंडवत है। है कैसे परमानंद, आनंद स्वरूप है सरीर जिन्हि को। जिन्हि के नित्य गाए तें सरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ ? आत्मज्योति निश्चल है अंतःकरण जिनके अरु मूलद्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी रहत जानै। ...... स्वामी तुम्ह तो सतगुरु, अम्ह तो सिष। सबद एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करबा रोस।"

इसके बाद तीन सौ वर्ष तक की लिखी कोई पुस्तक प्राप्त नहीं हुई है। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दि के पूर्वार्द्ध में जाकर दो सांप्रदायिक पुस्तकें मिलती हैं, वे भी व्रजभाषा में ही हैं। चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता। ये पुस्तकें विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोसाईं गोकुलनाथ जी की लिखी हैं। इनमें वैष्णव भक्तों की कथाएँ जनता में भक्ति के प्रचार को दृष्टि में रखकर लिखी गई हैं। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :—

"जो श्रीठाकुरजी तो बालक हैं ॥ भोग धरे पाछें विलंब न सहि सकें ॥ यातें भोग धरिये तो दूध तातो न समर्पिये ॥ ऐसी शिक्षा कहिकें श्रीठाकुरजी को अनुभव वाकों जतायो ॥ तब तो वहाँतें अपने घर आयो ॥ तब यह बात वाने अपनी स्त्री के आगें कही ॥ पाछें वे सावधानता सों सेवा करन लागे ॥ तब श्रीआचार्यजी महाप्रभुनकी कृपातें श्रीठाकुरजी विन पधारावलकों तथा वाकी स्त्रीकों सानुभवता जतावन लागे।"

ज्ञानमंजरी नाम की एक पुस्तक की हस्तलिखित प्रति हमारे पास है। इसका लेखक कोई वैष्णव मतानुयायी प्रतीत होता है। ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन भी इस पुस्तक में वैष्णवों की सांप्रदायिक शैली पर किया गया है तथा ग्रंथारंभ में भी श्रीगणेशायनमः आदि के स्थान में श्रीमते रामानुजायनमः लिखा गया है। पुस्तक का लिपिकाल विक्रम संवत् १८४४ दिया है परंतु पुस्तक की रचना इस समय से पहले ही हुई होगी। इसके गद्यांशों को हम कम-से कम विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दि के आरंभ का तो अवश्य मान सकते हैं। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :—

"अरु स्वरूप ज्ञान हैं सो काहू कौ विरोधी नाही काहेतें की जा स्वरूप ज्ञान कौ कोउ अधिकरण नाही विद्या ज्ञान को अधिकरण अंतःकरण है स्वरूप ज्ञान अधिष्ठान सब कौ है"

इसी विक्रमी शताब्दि के उत्तरार्द्ध में सेवक कवि ने वाग्विलास की रचना की थी। इस पुस्तक में विषय को स्पष्ट करने के लिए लेखक ने गद्य का भी प्रयोग किया है। यह गद्य बहुत ही शिथिल है। विषय का

सम्यक् रूप से प्रतिपादन करने की क्षमता इसमें नहीं है। इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग सरदार, नारायण आदि कवियों ने अपनी टीकाओं में किया है। वाग्विलास से कुछ अंश दिया जाता है:—

"मुग्धादिक में जो लाज है, सो धर्म सहित ज्ञान का घर है। परकीया में जो लाज है। सो अधर्म जुक्त अज्ञान को घर है। कुल छूटिवे की संका है धर्म युक्ति नहीं है।"

ऊपर ब्रजभाषा गद्य के जो उदाहरण दिए गए हैं उनसे इतना तो पता लगता ही है कि गद्य का उचित रूप में विस्तार तथा प्रचार नहीं हो पाया था। इसका कारण यही था कि उस समय इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। वैष्णवों को अपने धर्म-प्रचार की आवश्यकता थी इस लिए हम देखते हैं कि गोसाईं गोकुलनाथ जी की भाषा उस समय को देखते हुए अपेक्षाकृत प्रौढ़ ही है। खड़ी बोली की भी दो पुस्तकें प्राचीन-काल की मिली हैं। एक अकबर के समय के गंग कवि की "चंद छंद वर्णन की महिमा" है दूसरी संवत् १६८० की लिखी जटमल नामक लेखक की "गोरा बादल की कथा" है। गंग की पुस्तक से कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं:—

"आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी बैठक पर बैठ जाया करे अपनी अपनी मिसल से।"

ब्रजभाषा में गद्य-साहित्य का विकाश नहीं हुआ यह भी हमारे साहित्य के लिए एक सौभाग्य की बात हुई। खड़ी बोली के गद्य के प्रसार के लिए जो क्षेत्र मिला वह वैसी अवस्था में न मिल पाता। संभवतः दो प्रकार के गद्यों की धाराएँ एक साथ प्रवाहित होतीं जिस प्रकार काव्य-क्षेत्र में बहुत विरोधों का सामना करने पर खड़ी बोली को स्थान मिला है उसी प्रकार गद्य में भी हुआ होता। परंतु गद्य में ऐसे विरोध की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। एक ओर हमारा साहित्य काव्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा की उपासना करता हुआ प्रवाहित हो रहा था दूसरी ओर खड़ी बोली सर्वसम्मति से गद्य में स्वीकृत कर ली गई।

जैसा पीछे कहा जा चुका है, साम्राज्य की स्थापना के साथ-ही-साथ

अँगरेज़ों को व्यवहार की दृष्टि से देशी भाषाएँ सीखने की आवश्यकता पड़ी। पद्य की भाषा व्यवहार के लिए उपयोगी नहीं हो सकती थी। इस लिए गद्य-पुस्तकों की आवश्यकता हुई। जान गिलक्राइस्ट ने देशी भाषा की पुस्तकें प्रस्तुत कराने की योजना की। इनके आश्रय में लल्लूलाल जी ने प्रेमसागर तथा सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान लिखा। इन लोगों से कुछ पहले ही सैयद इंशा अल्ला खाँ 'रानी केतकी की कहानी' खड़ी बोली के गद्य में प्रस्तुत कर चुके थे। मुंशी सदासुखलाल की लिखी हुई एक सुखसागर नामकी पुस्तक का भी नाम लिया जाता है। सुखसागर नाम की एक पुस्तक प्रसिद्ध तो अवश्य है और उसका प्रचार प्रायः कम पढ़े लिखे लोगों में है। परंतु उसके लेखक सदासुखलाल नहीं हैं। श्री रामदास गौड़ ने सर्वप्रथम सदासुखलाल की चर्चा छेड़ी थी परंतु संभवतः यह तो उन्होंने भी नहीं कहा था कि उनके पास सुखसागर नाम की कोई पुस्तक उपयुक्त लेखक की है। ऐसी अवस्था में इस पुस्तक का उल्लेख न जाने किस आधार पर आधुनिक इतिहासों में किया जाता है। सदासुखलाल के लिखे हुए कुछ लेख मिले हैं जो गौड़ जी के ही पास हैं। उनमें से एक लेख 'हिंदी-भाषा-सार' में प्रकाशित किया गया है जिसके उद्धरण प्रायः दिए जाते हैं। इस प्रकार इस प्रारंभिक काल में गद्य के चार लेखक हमारे सामने आते हैं—मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। सदासुखलाल तथा खाँ साहब ने अपनी रचनाएँ स्वान्तःसुखाय की थीं, किसी की प्रेरणा से नहीं मुंशी जी भगवद्भक्त थे तथा खाँ साहब एक मौजी आदमी। खाँ साहब ने अपनी पुस्तक से विदेशी शब्दों को अलग रखने की प्रतिज्ञा कर ली थी। इनकी भाषा में प्रायः तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है। भाषा को मुहावरों आदि से अलंकृत करने की ओर भी इनका ध्यान था। संभवतः ये भाषा को कला के रूप में ग्रहण करनेवाले थे। जैसा इनका विषय है वैसी ही इनकी भाषा। प्रेम-कथा के लिए गंभीर भाषा उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती थी। यौवन के उल्लास में हम प्रायः भाषा में जिस चंचलता तथा सजीवता को पाते हैं वही इंशा की रचना

में मिलती है। इन्होंने शब्दों के बहुवचन प्रायः ब्रजभाषा के अनुसार बना लिए हैं। क्रिया-पदों में भी ब्रजभाषा की छाप मिलती है। कहीं-कहीं ब्रजभाषा की विभक्तियों का भी प्रयोग हुआ है। संपूर्ण पुस्तक में घरेलू भाषा की-सी एक मिठास मिलती है। नीचे उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं:—

१—अब मैं निगोड़ी लाज से कुट करती हूँ।

२—ऐसे लटके किसी बुरे दिन को सँभालने को डाल रखते हैं।

३—इस बात पर पानी डाल दो।

४—यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती।

५—सिर मुँड़वाते ही ओले पड़े थे।

६—कुछ दाल में काला है।

'नासिकेतोपाख्यान' की रचना सदल मिश्र ने संवत् १८६० में की। इन्होंने अपनी भाषा का नाम 'खड़ी बोली' लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय हमारी इस भाषा का यह नवीन नामकरण हो चुका था। उन्होंने स्वयं लिखा है:—

"अब संवत् १८६० में नासिकेतोपाख्यान को कि जिसमें चंद्रावती की कथा कही है, देव वाणी से कोई-कोई समझ नहीं सकता, इसलिये खड़ी बोली में किया।"

इनकी भाषा प्रेमसागर की भाषा की अपेक्षा खड़ी बोली के ढाँचे के अनुरूप अधिक शुद्ध हुई है, पर ये बिहार के रहनेवाले थे अतः इनके लिए यह संभव नहीं था कि खड़ी बोली के स्वरूप को ठीक-ठीक परख सकें। पूर्वकालिक क्रियाओं के लिए इन्होंने प्रायः ब्रजभाषा के रूप रखे हैं। 'पूजा करके' के स्थान में इन्होंने 'पूजा करि' ही लिखा है। भये, आय, तिस (उसके लिए), आवने, होय आदि प्राचीन रूप इनकी भाषा में प्रायः मिलते हैं। 'और' के लिए इन्होंने 'वो' तक लिखा है। बहुवचन रूप भी कभी-कभी ब्रजभाषा के अनुसार बना लिए गये हैं, जैसे तारन्ह आदि। बिहार वालों की कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि वे 'र' के लिए 'ड़' बोलते हैं तथा 'ड़' के लिए 'र'। वे सदा घोड़ा गाड़ी को घोरा गारी तथा 'छपरा' को 'छपड़ा' कह बैठते हैं। इसी प्रवृत्ति के अनुसार सदल

मिश्र ने भी 'बौरी' को 'बौड़ी' लिखा है। चीहना, जौन, गंजन, (दुख के लिए) आदि पूरबी शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। इनके वाक्यों का संगठन किस प्रकार का हुआ है यह नीचे के उद्धृत अंश से देखा जा सकता है:—

"जो नर किसी को खाने पीने में बाधा करते हैं सो सब भी विसी नरक में रहते हैं कि जिसका दारुण दुःख सहा नहीं जाता है। और जो नारी स्वामी को निंदती वो नित्य कलह करती हैं सो वहाँ डाली जाती हैं कि जहाँ बड़े-बड़े सीमर के अंगारे ऐसे लहर रहे हैं। पति के मरे पर औरों से मिलती हैं। जम के दूत सब विस की जीभ को काट लेते वो अष्टधातु की प्रतिमा को पकड़ाते हैं।"

प्रेमसागर की भाषा उसी प्रकार की है जिस प्रकार की मथुरा के आस-पास के कथावाचकों की कथक्कड़ी भाषा होती है। यह एक प्रकार से खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा के बीच की भाषा है। इसमें ब्रजभाषा की केवल ओकारांत-प्रवृत्ति का बहिष्कार किया गया है और सब बातों में यह ब्रजभाषा के ही अनुरूप हुई है। पूर्वकालिक क्रियाओं के, रूप, संज्ञाओं के वहुवचन, संकेत वाचक सर्वनामों के रूप सब ब्रजभाषा ही के अनुरूप हुए हैं। उदाहरण के लिए एक अंश दिया जाता है:—

"फिर सभा कर अपने बड़े-बड़े राक्षसों से कहने लगा कि जब हमारे भानजे राम कृष्ण यहाँ आवें तब तुममेंसे कोई उन्हें मार डालियो, जो मेरे जी का खटका जाय। विन्हें यों समझाय पुनि महावत को बुला के बोला कि तेरे वश में मतवाला हाथी है, तू द्वार पर लिये खड़े रहियो। जब वे दोनों आवें और बार में पाव दें, तद तू हाथी से चिरवा डालियो, किसी भाँति भागने न पावें। जो विन दोनों को मारेगा सो मुँह माँगा धन पावेगा।"

इस काल में गद्य के हमें चार लेखक मिलते हैं। इनमें लल्लूलाल की भाषा ब्रजरंजित खड़ी बोली है तथा सदल मिश्र की भाषा पर बिहारी भाषा का प्रभाव है। सदासुखलाल की भाषा पंडिताऊ है। इन चारों लेखकों में इंशा की भाषा सबसे प्रौढ़ है। इस भाषा में हमें एक फुदकसी अवश्य मिलती है पर यह उनकी भाषा का दोष नहीं कहा जा सकता। उनकी पुस्तक का विषय ही ऐसा था जिसके लिए वैसी ही भाषा की

आवश्यकता थी। सब दृष्टि से विचार करने पर ख़ाँ साहब ही आधुनिक गद्य के प्रथम प्रतिष्ठापक ठहरते हैं।

इस समय एक प्रकार से गद्य की प्रतिष्ठा तो अवश्य हो गई पर राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद के समय तक कोई भी लेखक साहित्य-क्षेत्र में नहीं आया। जान गिल क्राइस्ट (संवत् १८६०) के समय से बलवे के समय तक (संवत् १९१४) एक प्रकार से गद्य-क्षेत्र सूना पड़ा रहा। पर गद्य की जो प्रतिष्ठा हो गई उसका लाभ ईसाई धर्म-प्रचारक उठाते रहे। उन्होंने बाइबिल के अनुवाद प्रस्तुत किए, खंडन मंडन पर पुस्तकें लिखीं, पाठ्य पुस्तकें प्रस्तुत करवाईं तथा अनेक ईसाई भक्तों ने देशी भाषा में पद्य रचनाएँ भी कीं। ईसाई धर्म पुस्तकों के अनुवादों की भाषा में वाक्यों का संगठन कुछ शिथिल तथा विचित्र-सा होता था। इनका प्रधान कारण यह था कि मूल की यथासाध्य रक्षा करने की चेष्टा से भाषा में कुछ अनोखापन आ जाता था। पर पदावली सदा संस्कृत गर्भित रहती थी। साथ में कभी-कभी ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग कर दिया जाता था। संस्कृत के शब्द, जैसे—परीक्षा, व्यभिचारी, भविष्यद्वक्ता, याजक, अध्यक्ष, अध्यापक, शिष्य, प्राचीन, व्यवहार, संकल्प, वृथा आदि लाया करते थे। चलते हुए शब्दों में आँचल, बयार, डेवढ़ी आदि ये। ये लोग किरिया (शपथ) ऐसे ठेठ ग्रामीण शब्दों तक का प्रयोग कर दिया करते थे। कभी-कभी विभक्तियों के चिह्न छोड़ दिए जाते थे जिससे भाषा में कुछ अप्रौढ़ता तथा अस्पष्टता आ जाती थी।

इन लोगों का उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना था। अतः यह कभी भी संभव नहीं था कि ये ऐसी भाषा का प्रयोग करें जिसे जन-साधारण न समझ सकें। इसलिए यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इनके द्वारा जो भाषा प्रयुक्त हुई है उससे जनसाधारण का संपर्क अवश्य था। इस भाषा की एक विशेषता तो यह लक्षित होती थी कि इसमें अरबी, फ़ारसी के शब्दों का प्रायः बहिष्कार रहता था। विदेशी शब्द वे ही प्रयुक्त होते थे जिन्हें पारस्परिक संपर्क के कारण यहाँ की जनता सीख चुकी थी। पर ये शब्द भी तद्भव रूप में प्रयुक्त होते थे। आगे चलकर कुछ

लोगों ने उर्दू मिश्रित गद्य का जो प्रचार करना चाहा था उसकी असफलता के बहुत से कारणों में एक यह भी था कि उस खिचड़ी भाषा से यहाँ वालों का कोई सामंजस्य नहीं था। संवत् १९०० के करीब छपे हुए बाइबिल के अनुवाद से एक अंश यहाँ दिया जाता है :—

"तब यीशुने तुरन्त अपने शिष्यों को दृढ़ आज्ञा दिई कि जबलों मैं लोगों को बिदा करूँ तुम नाव पर चढ़के मेरे आगे उस पार जाओ। वह लोगों को बिदाकर प्रार्थना करनेको एकान्त में पर्वत पर चढ़ गया और साँझ को वहाँ अकेला था। उस समय नाव समुद्र के बीच में लहरों से उछल रही थी क्योंकि बयार सन्मुख थी। रातके चौथे पहर में यीशु समुद्र पर चलते हुए उनके पास गया। शिष्य लोग उसको समुद्र पर चलते देख घबरा गये और बोले यह प्रेत है और डर के मारे चिल्लाये। यीशु तुरन्त उनसे बात करने लगा और कहा ढाढ़स बाँधो मैं हूँ डरो मत"

ईसाइयों का पहला प्रेस संभवतः संवत् १८९० के आस-पास श्रीरामपुर में स्थापित हुआ था। यहाँ से धर्म पुस्तक के अनुवाद तथा अनेक और धार्मिक पुस्तकें प्रकाशित हुई। इसी प्रेस से संवत् १८९३ में 'दाउद के गीतें' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें चलते हुए अरबी फारसी के शब्द भी रखे गए। एक उदाहरण :—

"बदकारों की तरफ से मत कुढ़ वा अधर्मियों को देख के मत जल ॥ क्योंकि वे घास के ऐसे जल्दी काटे जांगे वा हरी घास के ऐसे मुर्झाय जांगे ॥ यिहुह में भरोसा रख वा भला काम कर देशमें रह वा सत्य को भोग कर ॥ यिहुह में संतुष्ट हो वा वह तेरे हिया की बांछा तुझे देगा"

संयुक्त प्रांत में आगरा, मिर्जापुर आदि स्थानों में ईसाइयों के केंद्र थे। बिहार में मुंगेर में ईसाइयों ने अपना केंद्र बनाया था। अपने धर्म के प्रचार के लिए इन्होंने अस्पताल, स्कूल आदि स्थापित करना प्रारंभ कर दिया था। स्कूलों के लिए पाठ्य-पुस्तकें भी प्रस्तुत कराई जाने लगी थीं। ऐसी ही एक प्रकाशन-संस्था आगरे में थी जिसका नाम 'स्कूल बुक्स सोसायटी' था। इससे भूगोल, रसायन आदि विषयों की कुछ पुस्तकें निकलीं। कुछ स्थानों से इन लोगों ने अन्य विषयों की भी पुस्तकें

निकलवाना प्रारंभ किया। हिंदी में सर्व प्रथम पाठ्य-पुस्तकों की रचना का श्रेय इन्हीं प्रचारकों को ही है। ईसाइयों में 'आसी', 'जान'❀ आदि ने भजन भी बनाए। इन पद्यों की रचना उच्च साहित्यिक दृष्टि से उतनी प्रौढ़ नहीं होती थी पर ऐतिहासिक दृष्टि से इनका महत्त्व अवश्य है। नीचे मुँगेर के जान क्रिश्चियन उपनाम 'अधम जन' का एक पद दिया जाता है :—

"तू भजि ले मन प्रेम सहित, यीशु गुरु स्वामी। धरण सकल जगत धीर, कलिक कलुष दलन बीर, रहत निकट हरण पीर, संकट सहगामी॥ दुखद सिंधु सुखद सेतु नाम जे है सतत हेतु, शुभद शरण जवन देतु, पूरण सत कामी॥ अमित नरहि धरणि देख; वपुष मनुप धरहिं वेख, प्रेम जिहि न जातु लेख, करुण अनुगामी॥ गुणन तेहि अधम 'जान', रटहु जोरि जुगल पान, इतहि लहहि अमल ज्ञान, उतही अमर ठामी॥"

इधर देश तंद्रा की अवस्था में पड़ा हुआ था, उधर ईसाई-प्रचारक

❀ 'चंदा' की रचनाओं का भी ईसाई समाज मे पर्याप्त संमान है। काल-क्रम के विचार से इनका वर्णन यहाँ नही होना चाहिए पर ईसाइयो का प्रसंग आगे चलकर फिर न उठाना पड़े इसलिये यहीं उनका भी उल्लेख कर दिया जाता है। चंदा ने 'प्रेम दोहावली' नामकी ५०० दोहों की एक पुस्तक लिखी है जो प्रयाग से प्रकाशित हुई है। इसके कुछ दोहे नीचे दिए जाते हैं :—

भाई भाई के एवज़, प्राण नहीं जग देत।
कीनो प्रभु बलिदान निज, प्राण यिसू रिपु हेत॥
प्रभु यीसु जग आयके, दाता अति विख्यात।
अन्धन को आँखें दियो, कोढ़िन किय शुभगात॥
बालक रोटी माँगते, पिता न कंकर देय।
तस अघमोचन माँगते, यीसु न नहीं कर देय॥
अन्य देश को देवता, समुझि यीसु मत त्याग।
कुनैन दवा विलायती, तिस्से तनु तप भाग॥
मरघट तक साथी सबै, तात मात सुत मित्र।
रहत सदा दोउ लोक में, केवल यीसु सुमित्र॥

बड़े वेग से अपने धर्म का विस्तार कर रहे थे पर यह अवस्था बहुत दिनों तक नहीं रही। धीरे-धीरे लोग ईसाइयों का विरोध करने के लिए उठने लगे। परस्पर घात-प्रतिघात से अपूर्व धार्मिक जागर्ति हुई। बंगाल में राममोहन राय प्रभृति सज्जन ईसाइयों के प्रतिरोध का उद्योग पहले ही कर चुके थे। हमारे यहाँ सबसे प्रथम स्वामी दयानंद जी ने आर्य-धर्म के महत्त्व का झंडा उठाया। इस धार्मिक उद्योग के साथ ही साथ हमारी भाषा को भी बहुत लाभ पहुँचा। खंडन मंडन के लिए किसी एक भाषा की आवश्यकता अवश्य पड़ती है। आर्यसमाजियों ने हिंदी को इस कार्य के लिए अपनाया और इसका नाम अपने समाज के नाम के अनुसार 'आर्य-भाषा' रखा। स्वामी दयानंदजी ने शास्त्रार्थ करना तो संवत् १९२० ही से प्रारंभ कर दिया था पर आर्यसमाज की स्थापना संवत् १९३२ में बंबई नगर में हुई थी। इसके बाद नवीन धर्म के उत्साह में भरे हुए आर्यसमाजियों ने गुजरात, युक्तप्रांत, तथा पंजाब में प्रचार करना आरंभ कर दिया। स्वामी जी ने अपने ग्रंथ 'आर्य-भाषा' में ही लिखे हैं। इनके मुख्य ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश, वेदांगप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका तथा वेदों के भाष्य हैं। आर्यसमाजियों के कारण हिंदी भाषा की चर्चा पंजाब में प्रारंभ हुई। इससे पहले वहाँ उर्दू का बोलबाला था। स्वामी जी की भाषा पंडिताऊपन लिए हुए है। एक गुजराती के लिए शुद्ध हिंदी लिख लेना उस समय अवश्य असंभव रहा होगा जिस समय हिंदी के किसी आदर्शरूप की प्रतिष्ठा ही नहीं हो पाई थी। स्वामी जी की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। सत्यार्थप्रकाश से एक उद्धरण :—

मत वाले श्रीकृष्णजी की बहुत सी निंदा करते हैं। जो यह भागवत न होता तो श्रीकृष्ण जी के सदृश महात्माओं की झूठी निंदा क्योंकर होती ?"

स्वामी जी वैदिक एकेश्वरवाद को लेकर खड़े हुए थे। इन्होंने पुराणों का खण्डन किया था। फुल्लौर (पंजाब) के पंडित श्रद्धाराम को पुराणों की अप्रतिष्ठा उचित प्रतीत नहीं हुई। वे भी ईसाइयों का विरोध तो अवश्य करना चाहते थे पर अपने धर्म की काँट-छाँट करके नहीं। इन्होंने पुराणों के आधार पर हिंदू-धर्म के महत्व का प्रतिपादन किया। ये अपने व्याख्यानों में कभी-कभी वेदों की अपेक्षा उपनिषदों की ब्रह्म-विद्या को अधिक महत्व दे दिया करते थे जिसके कारण कुछ लोगों ने इनको नास्तिक तक कहना प्रारम्भ कर दिया। इन्होंने 'सत्यामृतप्रवाह' नाम की एक पुस्तक बहुत ही समर्थ भाषा में लिखी जिसमें प्रश्नोत्तर के क्रम से बड़ी प्रौढ़ता से अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इनकी भाषा बहुत ही प्रौढ़ तथा परिमार्जित है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में हुआ है। ये सापेक्ष, स्वभावानुसार, परिशांति, शोषक आदि शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया करते थे। फिर भी पंजाबी का कुछ-कुछ प्रभाव इनकी भाषा पर है ही। ये 'कभी' को 'कबी' तथा 'कधी' भी लिखा करते थे और 'प्रश्न' को 'प्रश्ण' भी। इनके 'सत्यामृतप्रवाह' से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

"फिर जो आप कहते हो कि ईश्वर शक्तिमान है इसमें हमारा एक प्रश्ण है। अर्थात् यदि शक्तिमान है तो मेरी बुद्धि को अनीश्वरवाद से फेर के ईश्वरवाद में क्यों नहीं ले आता। यदि कहो तुम्हारे अनीश्वरवादी होने से उसकी क्या हानि है तो इससे अधिक हानि उसकी क्या होगी कि मैं सहस्रों जन को अनीश्वरवादी बना दूंगा। यदि कहो वह हमारे कहने से कुछ नहीं करता सब कुछ अपनी इच्छा से करता है तो जाना गया कि उसकी यही इच्छा है कि मै अनीश्वरवादी बना रहूँ और कई एक और जनों को भी इसी पंथ पर चलाऊँ।"

"सुनी बातें सारी ही सत्य नहीं होतीं क्योंकि सुनने में बहुत सी बातें ऐसी भी आती हैं जो अनुभव और संसारी नियम से विरुद्ध हों जैसा कि पिछले समय में

लोग, वृक्षों, पर्वतो तथा पक्षी आदिकों का बातचीत करना सुनाया करते थे। सच वही है जो सम्यक् बुद्धि के अनुकूल हो। यदि मारणादि व्यवहार मंत्र यंत्र द्वारा सिद्ध हो जाते हों तो जीवनादि व्यवहार भी किसी मंत्र से अवश्य सिद्ध होने चाहिये।"

पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी ने हिंदी में और भी अनेक ग्रंथ लिखे हैं तथा हिंदी-प्रचार के लिये पंजाब में बहुत उद्योग भी किया था। इन्होंने अपना जीवनचरित्र भी लिखा था जो किसी ने चुरा लिया। 'भागवती' नाम की स्त्री-शिक्षा की एक पुस्तक भी इन्होंने लिखी थी। पंडित जी के देहांत के बाद 'भारतजीवन' के प्रकाशक बाबू रामकृष्ण वर्मा ने बिना आज्ञा के भागवती को प्रकाशित कर लिया था। श्रद्धाराम की धर्मपत्नी तथा वर्मा जी में कुछ दिनों तक मुकदमेबाजी भी होती रही।

हिंदी के प्रचार को दृष्टि में रखकर धार्मिक उत्थान का वर्णन किया जा चुका। शिक्षा के प्रचार की दृष्टि से इन्हीं दिनों दो और सज्जन भी साहित्यिक क्षेत्र में कार्य कर रहे थे। ये काशी के राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद तथा पंजाब के बाबू नवीनचन्द्र राय महाशय थे। इन दोनों के उद्देश्य धार्मिक नहीं थे राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद शिक्षा-प्रेमी थे; इनके उद्योग शिक्षा-विस्तार की दृष्टि से किये गए थे। ये धीरे-धीरे उर्दू मिश्रित भाषा के पक्षपाती होते गए। लोगों को उनका यह सिद्धांत रुचि-कर नहीं प्रतीत हुआ। नवीनचंद्र राय पंजाब में कार्य कर रहे थे। यद्यपि ये आर्यसमाजी नहीं थे पर विधवा-विवाह स्त्री-शिक्षा आदि के पक्षपाती थे। पंजाब में स्त्री-शिक्षा के प्रचार के लिए इन्होंने बहुत उद्योग किया। 'ज्ञान प्रदायिनी' पत्रिका भी निकाली थी। इनकी भाषा शुद्ध हिंदी होती थी। ये सितारेहिंदवाली भाषा के पक्षपाती नहीं थे। इन्होंने स्वयं भी अनेक पुस्तकें लिखीं तथा इनकी प्रेरणा से अनेक अन्य सज्जनों ने भी पुस्तकें प्रस्तुत कीं। इनमें से बहुत सी पुस्तकें तो न्याय, वेदांत ऐसे उच्च कोटि के विषयों पर लिखी गई थीं। जब हम यह देखते हैं कि आज हिंदी भाषा के इतनी प्रौढ़ हो जाने पर भी न्याय आदि पर सुन्दर पुस्तकें नहीं लिखी जा रही हैं तब नवीनचंद्र राय के उद्योग से पंजाब ऐसे देश में साहित्य की जो सेवा उस समय की गई उसका महत्व हमारी दृष्टि में

बहुत बढ़ जाता है। नवीनचंद्र राय लिखित विधवा-विवाह-व्यवस्था नामक पुस्तक में से यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है:—

"विधवा विवाह शास्त्र सम्मत अथवा शास्त्र विरुद्ध कर्म है इस विषय की मीमांसा में प्रवृत्त होना हो तो पहिले यह निरूपण करना आवश्यक है कि वह शास्त्र कौन-सा है जिसके सम्मत होने से विधवा विवाह कर्त्तव्य समझा जावे और जिसके विरुद्ध होने से अकर्त्तव्य समझा जावे। व्याकरण काव्य अलंकार दर्शन प्रभृति-शास्त्र इस विषय के शास्त्र नहीं हैं।"

नवीनचंद्र राय की प्रेरणा से पुस्तकें लिखनेवालों में पंजाब के प्राच्य महाविद्यालय के अध्यापक पंडित सुखदयालु शास्त्री का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'न्यायबोधिनी' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक—जो अब पुस्तकालयों में भी अप्राप्य है—इन्हीं पंडित सुखदयालु शास्त्री की लिखी हुई है। इस पुस्तक से एक उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

"यद्यपि मनुष्य जगत् के पदार्थों का प्रत्यक्ष से ही निश्चय कर सकता है; तो भी बहुत पदार्थ परमाणु आदि ऐसे हैं जो युक्ति सिद्ध हैं मानने तो अवश्य पड़ते हैं; परंतु प्रत्यक्ष उनका नहीं होता और जानना संपूर्ण पदार्थों का अभीष्ट है; इसलिए सब पदार्थों के मिले हुए और भिन्न २ ऐसे २ धर्म जानने चाहिए कि जो धर्म्म जिस वस्तु का हो वह उस सारी वस्तु में रहे कोई स्थान रीता न छोड़े और उस वस्तु से भिन्न वस्तु में कहीं न रहे ऐसे धर्म का नाम लक्षण है। जिसका लक्षण कर्ना अभीष्ट है उसे लक्ष्य कहते हैं।"

उधर पंजाब में नवीन बाबू के द्वारा शुद्ध हिंदी के प्रचार का उद्योग हो रहा था, इधर काशी में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद अपने ढंग से प्रयत्न कर रहे थे। इनका वास्तविक प्रयत्न तो संवत् १९१३ से प्रारंभ होता है जब बलवे से एक वर्ष पूर्व इनकी नियुक्ति इन्सपेक्टर के पद पर हुई थी। इससे दस-बारह वर्ष पहिले से ही इन्होंने कार्य करना प्रारंभ कर दिया था। संवत् १९०२ में इनके संचालन में बनारस से 'बनारस अखबार' निकलना प्रारंभ हुआ। इसके संपादक गोविन्द रघुनाथ थत्ते थे। यह हिंदी अक्षरों में बहुत ही रद्दी कागज पर लीथो में छपता था। भाषा इसकी उर्दू होती थी। संवत् १९०९ के दिसम्बर वाले अंक से एक उद्धरण दिया जाता है:—

"ख़बर अजीब

जो ख़बर साबिक में काबिल एतबार न थी हरकारा अब उसको मज़बूती से बयान कर्ता है और बेशक आजतक ऐसी ख़बर अजीब और वारदात ग़रीब न किसी ने सुनी होगी और न देखी कि दो साहेबान अहल विलायत फिरंग ने अपना काम तर्क कर्के डाकाज़नी का तरीक़ा इख्तियार किया है। एक उनमें से कलकत्ते में साबिक में काम बग्गी और घोड़े साज़ी का किया कर्ता था कुदरत इलाही से उसने सब कारबार छोड़कर यह पेशा इख्तियार किया।"

जिस समय राजा शिवप्रसाद जी शिक्षा-विभाग में आए उस समय उनके सामने कई कठिनाइयाँ थीं। शिक्षा-विभाग में मुसलमानों का प्रभाव अधिक था। स्कूलों में भी उर्दू पठन-पाठन की व्यवस्था थी। वे हृदय से हिंदी के पक्षपाती अवश्य थे, पर यह कब संभव था कि इतनी विपरीत परिस्थितियों का वे अकेले विरोध करते। इसलिए उन्होंने उर्दू मिश्रित भाषा का ही पक्ष लिया। एक बात और भी थी। उन्होंने देखा कि कचहरियों की भाषा उर्दू हो चुकी है, ऐसी अवस्था में यदि हिन्दुओं को उर्दू से अपरिचित रखा जावेगा तो उनके आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से हानि उठाने की संभावना है। इसी प्रकार की अपनी सम्मति अपने 'इतिहास तिमिर नाशक' की भूमिका में उन्होंने प्रकट की है। इसलिए वे खिचड़ी भाषा का प्रयोग उचित समझते थे। इस पुस्तक में यद्यपि 'बनारस अखबार' की-सी भाषा का अनुकरण नहीं किया गया है, तथापि इनकी भाषा उर्दू से पर्याप्त रूप में प्रभावित हो चुकी थी। 'तिमिर नाशक' में-से एक उदाहरण दिया जाता है:—

"अहमदशाह दुर्रानी अनूपशहर में छावनी डाले हुए था। दिल्ली में कुछ थोड़े से सिपाही छोड़ रक्खे थे उनसे मरहठों का मुकाबला न हो सका। भाऊ ने वहाँ बहुत ज़ियादती की। दीवानख़ास में जो चाँदी की छत लगी थी बिल्कुल उखाड़ ली। मसजिद और मक़बरों को भी लूट पाट और तोड़ फोड़ से बाक़ी न छोड़ा। वह तो विश्वासराय को तख़त पर बैठाना चाहता था लेकिन फिर सलाह यही ठहरी कि अहमदशाह दुर्रानी का काम तमाम हो लेने दो। भाऊ दिल्ली से कुंजपुरे की तरफ गया।"

लोकनीति से ही प्रभावित होकर राजा साहब ने ऐसी भाषा लिखना

प्रारंभ किया नहीं तो ये संस्कृत-गर्भित भाषा लिख सकते थे जैसा कि उन्होंने 'मानव-धर्म-सार' में किया है :—

"तप और वेद से रहित है, प्रतिग्रह में रुचि रखता है ऐसा ब्राह्मण दाता सहित डूबता है जैसे जल में पत्थर की नौका।"

इनकी सबसे सुन्दर भाषा का नमूना वह है जिसका प्रयोग इन्होंने 'राजा भोज का सपना' ऐसे लेखों में किया है। इन लेखों की भाषा बहुत ही चलती हुई है। प्रवाह में यह कभी कभी इंशा अल्ला खाँ की भाषा से मिल जाती है। इस भाषा में अधिक सजाने का प्रयत्न लक्षित नहीं होता पर व्यावहारिक दृष्टि से यह बहुत शक्ति सम्पन्न है। उस समय के मुसलमान गद्य-लेखक प्राय: ऐसी ही भाषा का व्यवहार किया करते थे। तब मुसलमानों को भी संस्कृत शब्दों के बहिष्कार की धुन नहीं सवार हुई थी। 'राजा भोज का सपना' में से एक उद्धरण:—

"जड़ाऊ पलँग और फूलों की सेज पर सोया। रानियाँ पैर दबाने लगीं। राजा की आँख झप गई तो स्वप्न में क्या देखता है कि वह बड़ा संगमर्मर का मंदिर बनकर बिलकुल तैयार हो गया जहाँ कहीं उस पर नक्काशी का काम किया है वहाँ उसने बारीकी और सफाई में हाथी दाँत को भी मात कर दिया है, जहाँ कहीं पच्चीकारी का हुनर दिखलाया है वहाँ जवाहिरोंको पत्थरोंमें जड़कर तसवीरका नमूना बना दिया है"

इधर राजा साहब उर्दू मिश्रित हिंदी के लिए उद्योग कर रहे थे उधर आगरे में राजा लक्ष्मणसिंह ने शुद्ध हिंदी में लिखना प्रारंभ कर दिया था। इन दोनों राजाओं के भाषा-संबंधी सिद्धांतों में भी मत भेद था। राजा लक्ष्मणसिंह ने रघुवंश के अनुवाद की भूमिका में अपनी जो सम्मति प्रकट की है वह यह है "हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोलचाल है।" "उर्दू पारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है" यह वाक्यांश बड़े महत्त्व का है। इससे प्रतीत होता है कि उर्दू केवल मुसलमानों ही की भाषा नहीं थी पढ़े लिखे हिंदू भी अपनी नित्य की बोलचाल में इसका व्यवहार करते थे। ऐसी अवस्था में यदि हिंदी अक्षरों में राजा शिवप्रसाद ने उर्दू लिखने का प्रस्ताव किया

तो हमें उनकी नियत पर संदेह नहीं करना चाहिए। वास्तव में उर्दू और हरिश्चंद्री हिंदी के बीच की कड़ी जोड़नेवाले शिवप्रसाद जी ही थे। उनके उपकार को हिंदीवाले भूल नहीं सकते। उन्हीं की डाली हुई नींव पर भारतेंदु जी की प्रांजल भाषा का भव्य प्रासाद खड़ा किया गया। यह बात दूसरी है कि इन दोनों महाशयों में आगे चलकर वैमनस्य हो गया। पर यह उनकी व्यक्तिगत बात थी।

संवत १९१९ में राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास के शकुंतला नाटक का अनुवाद प्रस्तुत किया। इसकी भाषा अपने सिद्धांत के अनुसार उन्होंने शुद्ध हिंदी ही रखी और यथासाध्य विदेशी शब्दों को बचाया। इनकी भाषा पर प्रांतीय व्रजभाषा का भी कुछ प्रभाव है। यह संस्कृत की तत्समता की ओर नहीं झुकती। घरेलू भाषा की सा मिठास तथा अपनापन इस भाषा में मिलता है। इस पुस्तक की देश-विदेश में बड़ी धूम हुई। संवत् ९३२ में फ्रेडरिक पिन काट ने इसे इंग्लैड में छपवाया और सिविल सरविस की परीक्षा में यह पाठ्य-पुस्तक नियत हुई। शकुंतला का अनुवाद करने के एक वर्ष पूर्व ही संवत् १९१८ में "प्रजा हितैषी" नाम का एक पत्र भी इन्होंने निकालना प्रारंभ किया। उस पत्र की भाषा भी ऐसी ही होती थी। गुणग्राही राजा शिवप्रसाद ने शकुंतला के इस अनुवाद की बहुत प्रशंसा की और संवत् १९२४ में प्रकाशित होने वाले अपने गुटके में इसे भी स्थान दिया। इससे भी प्रतीत होता है कि शिवप्रसाद जी वास्तव में हिंदी का प्रचार चाहते थे। शकुंतला नाटक में से एक अंश नीचे दिया जाता है:—

"जब तक सज्जनों के न्हाने का समय है अप्सरा तीर्थ पर हमको बारी बारी से जाना पड़ता है। इस काम से तो मैं निरचू हुई, अब चलकर उस राजर्षि का वृत्तांत देखूँ, क्योंकि मेनका के संबंध से शकुतला तो मेरा अंग ही हो गई है और मेनका ही ने बेटी के काम निमित्त मुझे भेजा है। हैं! ऋतूत्सव के दिनों में भी राजभवनों में क्यों उदासी सी छा रही है! मुझे यह तो सामर्थ्य है कि बिना प्रकट हुए भी सब वृत्तांत जान लूँ, परंतु सखी की आज्ञा मानना चाहिए। इसलिए इन उद्यान रखनेवालियों के पास ही अपनी माया के बल से अदृश्य होकर बैठूँगी।"

अभी तक हिंदी के स्वरूप के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रस्ताव ही हो रहे थे। भाषा के किसी सर्वसम्मत रूप की प्रतिष्ठा नहीं हो पाई थी। कोई ऐसा शक्तिशाली लेखक नहीं आया जिसको नेता मान सब लोग उसका अनुसरण करना प्रारंभ करते। यह कार्य भारतेंदु हरिश्चंद्र जी के द्वारा पूर्ण हुआ। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा से लोगों ने उन्हें अपना अगुआ मान लिया। इस दृष्टि से 'आधुनिक काल' भारतेंदु हरिश्चंद्र जी के समय से ही प्रारंभ होता है। यदि निश्चित् तिथि देनी हो तो हम कह सकते हैं कि संवत् १९२५ से–जिस वर्ष 'कविवचनसुधा' का प्रकाशन प्रारंभ, हुआ–आधुनिक काल चला। हरिश्चंद्र जी के समय से लेकर 'सरस्वती' के प्रकाशन के समय तक हम आधुनिक काल का प्रारंभिक काल मान सकते हैं। प्रारंभिक काल में गद्य की भाषा खड़ी बोली रही। पद्य में ब्रजभाषा ही चलती रही। प्रारंभिक काल के अंतिम दिनों में लोगों को यह बात खटकने लगी कि गद्य और पद्य दो भिन्न-भिन्न भाषाओं में लिखे जायँ। खड़ी बोली के लिए आंदोलन प्रारंभ हुआ। कुछ कवियों ने उस बोली में रचनाएँ भी प्रारंभ कर दीं। इसके बाद आधुनिक काल का मध्य काल आता है। यह नागरीप्रचारिणी सभा काशी की स्थापना के बाद प्रारंभ होता है। इसके प्रारंभ में 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ तथा गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में पंडित महावीर-प्रसाद जी द्विवेदी का प्रभाव पड़ने लगा। द्विवेदी जी के साहित्य क्षेत्र से हटने के कुछ दिन पहले ही हमारी भाषा का नवीन काल प्रारंभ हुआ। मध्य काल अथवा द्विवेदी काल में खड़ी बोली ने गद्य तथा पद्य दोनों क्षेत्रों में अपना विस्तार किया। इस काल में रचनाएँ उतनी भावप्रधान नहीं हुई। नवीन काल में प्राचीनता के प्रति विरोध प्रारंभ हुआ और गद्य तथा पद्य दोनों में भावों को प्रधानता दी जाने लगी। आधुनिक काल के तीनों विभागों का समय इस प्रकार रखा जा सकता है:—

प्रारंभिक काल (अथवा हरिश्चंद्र काल)–संवत् १९२४ से १९६० तक
मध्य काल (अथवा द्विवेदी काल)–संवत् १९६० से १९७५ तक
नवीन काल (अथवा वर्त्तमान काल)–संवत् १९७५ से २००५ तक

खड़ी बोली

प्रारंभिक काल

संवत् (१९२५–१९६०)

गद्य

गद्य की भिन्न-भिन्न शैलियों के प्रस्ताव हो चुके थे पर अभी यह निश्चित् नहीं हो पाया था कि हिंदी गद्य किस आदर्श को लेकर आगे बढ़े। बोलचाल में उर्दू मिश्रित गद्य ही प्रामाणिक माना जाता था। इसका कारण यही था कि पढ़े-लिखे लोगों का अध्ययन प्रायः उर्दू साहित्य का ही होता था। दूसरे उर्दू को राजाश्रय भी प्राप्त था। इसलिए शिष्ट कहलाने के लिए यह आवश्यक था कि अपनी बाहरी बातचीत में हिंदू लोग भी उस भाषा के प्रयोग की सामर्थ्य दिखला दें। हिंदू-समाज का संगठन कुछ ऐसे प्रकार से हुआ है कि बाहर की नवीन बातों का प्रभाव लोगों के आंतरिक घरेलू-जीवन में शीघ्र प्रवेश नहीं कर पाता। इसका फल यह हुआ कि सांसारिक आवश्यकताओं की प्रेरणा से अपने बाहरी जीवन में हिंदुओं ने भी उर्दू को अपना तो लिया पर उनके घरों की पवित्र सीमा के भीतर यह विदेशी-सी भाषा प्रवेश न कर पाई। घरों में प्रांतीय भाषा का ही प्रयोग होता रहा। इसी कारण हिंदी के प्रारंभिक गद्य प्रतिष्ठापकों के सम्मुख यह कठिन समस्या उपस्थित हुई कि किस आदर्श को लेकर आगे बढ़ा जाय। राजा लक्ष्मणसिंह ने विदेशी शब्दों को बचाते हुए एक परिष्कृत देशी शैली का संकेत किया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र जी ने भी इसी आदर्श पर आगे बढ़ना समीचीन समझा पर उन्होंने विदेशी शब्दों के उग्र बहिष्कार की उतनी आवश्यता नहीं समझी, जितनी आगरे के राजा साहब समझते थे। हरिश्चंद्र जी ने ऐसे अरबी, फारसी के शब्दों का सदा प्रयोग किया है जो हमारी भाषा में घुलमिल गए थे। इसके अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत के शब्द भी अपनी भाषा में रखे। जो संस्कृत के शब्द तद्भव रूप में हमारी भाषा में प्रयुक्त

होते आते थे उन्हें तत्सम रूप में प्रयोग करना इन्होंने उचित नहीं समझा। 'उरिण' आदि शब्दों का प्रयोग बहुधा किया गया है। छिपाव, मूँझल, पचड़ा ऐसे घरेलू शब्दों का प्रयोग भी इनकी भाषा में प्रायः हुआ है। व्यर्थ के मुहावरे इनकी भाषा में अधिक नहीं मिलते पर आवश्यकतानुसार उचित अवसर पर मुहावरों का भी प्रयोग बराबर किया गया है। 'आँखें भर आना', 'नजर चुराना', 'बात लगना', 'पाले पड़ना', 'जी से उतरना', 'आँख लगना', 'नीचा दिखाना', 'कुछ न गिनना', आदि इनके द्वारा प्रयुक्त मुहावरों के कुछ उदाहरण हैं। क्रिया पदों में करै, कहैगा, करैहै आदि प्रयोग बराबर रखे हैं।

खड़ी बोली की एक प्रवृत्ति है जिसके अनुसार सकर्मक क्रियाओं के भूतकाल में कर्त्ता के साथ 'ने' विभक्ति लग जाती है और क्रिया के लिंग का अनुशासन कर्म के लिंग से होता है। जैसे, 'उसने पुस्तक पढ़ी'। कभी-कभी कर्म प्रकट नहीं होता तो भी कर्म का प्रभाव वाक्य-रचना पर पड़ जाता है, जैसे 'उसने अच्छी कही'। यहाँ 'बात' शब्द छिपा हुआ है। ऐसे वाक्यों का प्रयोग प्रायः बोलचाल में होता है। खड़ी बोली की इस विशेषता की ओर ध्यान न रखने से इन्होंने कभी-कभी इस प्रकार के वाक्य भी लिख दिए हैं जैसे—वे डर के मारे कबूल दिए'। इन साधारण बातों के अतिरिक्त हरिश्चंद्र जी ने हिंदी-साहित्य के सम्मुख बहुत ही उच्चकोटि की भाषा का आदर्श उपस्थित किया। विषयों के अनुसार भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रयोग भी इन्होंने किया है। गंभीर विषयों का विवेचन करते समय इनकी भाषा संस्कृत पदावली की ओर झुकने लगती थी। इतिहास आदि चलते विषयों पर लिखते समय भाषा व्यावहारिक हो जाती थी। भावावेश की शैली में भाषा में अपूर्व मार्मिकता तथा माधुर्य्य आ जाता था। भावावेश में इनके मुख से जो उद्गार निकले हैं उनमें विदेशी शब्द भी आ गए हैं। यह स्वाभाविक ही हुआ है, क्योंकि भावना की तरंगों में बहता हुआ व्यक्ति विदेशी स्वदेशी के इतने विचार में नहीं पड़ सकता। इनकी संस्कृत गर्भित भाषा प्रायः इस प्रकार की होती थी:—

"इसके बदले यदि कालिदास कण्व ऋषि का छाती पीटकर रोना वर्णन करते तो उनके ऋषि जनोचित धैर्य की क्या दुर्दशा होती अथवा कण्व का शकुंतला के जाने पर शोक ही न वर्णन करते तो कण्व का स्वभाव मनुष्य स्वभाव से कितना दूर जा पड़ता। इसी हेतु कविकुल मुकुट-माणिक्य भगवान् कालिदास ने ऋषि जनोचित भाव ही में कण्व का शोक वर्णन किया।"

इनकी सबसे मधुर भाषा वह हुई है जिसका प्रयोग इन्होंने चंद्रावली, माधुरी आदि में किया है। 'माधुरी' से एक उदाहरण:—

"मेरी लाड़ली! मैं सब भुगते बैठी हूँ, दुख नहीं है तो आँखें क्यों भर आईं? मैंने तो उसी दिन जान ली थी कि तू किसी कि कनौड़ी हो रही है, प्रेम भी कहीं छिपा है? क्यों? जब मैं फूल बीनती दूर निकल गई थी और तू उधर से घूर सरसार चली आती थी, मेरे पास से निकल गई पर तैंने मुझे नहीं देखा कि तू किसै देखै थी, तुझे मेरी कसम जो सच न कहै; उस वेला तुझे कुछ भी याद थी कि तू किसी की ब्हलनी है?"

इस प्रकार यद्यपि विषय के अनुरूप भारतेंदुजी की भिन्न-भिन्न शैलियाँ थीं, तथापि अपने भाषा-विषयक साधारण सिद्धांत का पालन इन्होंने सर्वत्र किया है। वह सिद्धांत यही था कि यथासाध्य भाषा में अपनेपन की रक्षा की जाय। भारतेंदु जी ने तो अपनी 'हरिश्चंद्रचंद्रिका-वाली हिंदी को विशेष महत्त्व दिया है पर 'कविवचनसुधा' में भी हम इसी प्रकार की हिंदी देख सकते हैं। संवत् १९२७ के 'कविवचनसुधा' से एक समाचार दिया जाता है:—

"आजकल राजा चरखारी काशी में पधारे हैं और चतुर्दिक यात्रा करते फिरते हैं। इसी हेतु एक दिन गोपाल मन्दिर में भी गये थे और चाहा कि अस्त्र बांधे भीतर चले जायँ। निःसन्देह वहाँ के द्वारपालों ने रोका क्योंकि कि वह रणभूमि नहीं है कि लोग वहाँ अस्त्र बाँध कर जायँ और युद्ध करें और न वह किसी राजा का दुर्ग है कि वहाँ अस्त्र रख देने से कुछ अप्रतिष्ठा हो जाती?"

संवत् १९३० में 'हरिश्चंद्र-मैगजीन' निकली थी। एक वर्ष के बाद इसका नाम 'हरिश्चंद्र-चद्रिका' हो गया। इसकी भाषा का लोगों ने बड़े चाव से स्वागत किया। इसी की भाषा के विषय में भारतेंदु जी ने लिखा

था 'हिंदी नई चाल में ढली, सन् १८७३ ई०'। इस पत्रिका की हिंदी का भी एक उदाहरण देख लेना उचित होगा:—

"हम सर्कार से और अपने सब आर्य्य भाइयों से हाथ जोड़कर निवेदन करते हैं इसको सब लोग एक बेर चित्त देकर और हठ छोड़कर सुनैं। यदि सर्कार कहै कि हम धर्म्म विषय में नहीं बोलते तो उसका हम से पहिले उत्तर सुन ले। सती होना हमारे यहाँ स्त्रियों का परम धर्म्म है इसको सर्कार ने बल पूर्वक क्यों रोका है? क्योंकि यह धर्म्म प्राण से संबंध रखता है और प्रजा के प्राण की रक्षा राजा को सबके पहिले मान्य है। वैसे ही जो हम कहैंगे उस्से भी प्रजा के प्राण से संबंध है इस्से सरकार को अवश्य सुनना चाहिए। अभी बनारस में बूलानाले पर एक लड़की नल से निकली है।"

भारतेंदु जी की भाषा में हम सर्वत्र उनके हृदय को झाँकता हुआ पाते हैं। इनकी भाषा सर्वदा लेखक के हृदय का रागात्मक संबंध पाठक से स्थापित करने में समर्थ होती है। भाषा में मार्मिकता तथा भावों की गंभीरता है। भावानुरूपता इनकी शैली की एक सलक्ष्य विशेषता है। इनकी दृष्टि चमत्कार-विधान की ओर न थी इसलिए भाषा में अलंकारों आदि के प्रयोग कम हुए हैं। भारतेंदु जी के प्रभाव से प्रभावित होकर अनेक लेखक हिंदी-साहित्य की सेवा करने को उठ खड़े हुए। इन लेखकों में पंडित बदरीनारायण चौधरी, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित अंबिकादत्त व्यास, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पंडित राधाचरण गोस्वामी तथा दिल्ली के लाला श्री निवासदास मुख्य हैं। कुछ लेखक स्वतंत्र-रूप से भी साहित्य क्षेत्र में आए पर उन पर भी भारतेंदु जी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। हिंदी के दुर्भाग्य से भारतेंदु जी का निधन संवत् १९४२ में ही हो गया। पर उनके द्वारा साहित्य-गगन में जो बिजली चमक उठी थी, वह बहुत दिनों तक अपना प्रकाश फैलाती रही। उनके द्वारा उत्पन्न स्फूर्ति से बहुत दिन तक साहित्य में ठोस काम होता रहा। उपर्युक्त लेखकों की शृंखला में हम बाबू राधाकृष्णदास का भी नाम ले सकते हैं। इन्होंने भारतेंदु जी द्वारा उठाये हुए काम को बहुत आगे बढ़ाया। इन सब लेखकों की रचनाओं में हम प्रथम यौवन का-सा उल्लास पाते

हैं। जिस प्रकार नवीन धर्म को पाकर जनता बड़े आवेश में उसके प्रचार के लिए आगे बढ़ती है उसी प्रकार मातृभाषा की भावना ने इन लेखकों में अद्भुत स्फूर्ति भर दी थी। यद्यपि इनकी भाषा में उतनी प्रौढ़ता नहीं आ पाई थी, जितनी हम आजकल के गद्य में पाते हैं, पर उसका विकास अपने ढंग से हो चला था। बँगला अँगरेजी आदि भाषाओं का जैसा प्रभाव हमारी भाषा पर आजकल पड़ रहा है, वैसा उस समय नहीं पड़ा था। वे लेखक हिंदी की प्रकृति को पहचानते थे और उसको अक्षुण्ण रखने के लिए सदा तत्पर तथा सतर्क रहते थे। शैलियों की भिन्नता भी हम इनकी रचनाओं में पाते हैं। पं० बालकृष्ण भट्ट तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र के लेखों में हास्य-विनोद का पुट सदा वर्तमान रहता था। लाला श्रीनिवासदास विषय के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषाओं का प्रयोग कर सकते थे। ठाकुर जगमोहनसिंह की रचनाओं में दृश्यों के चित्रण तथा भावों के उद्घाटन का प्रयत्न लक्षित होता है।

पंडित प्रतापनारायण मिश्र—ये भारतेंदु जी को अपना नेता मानते थे तथा उन पर असीम श्रद्धा रखते थे। हरिश्चंद्र जी को इन्होंने पूज्यपाद तक लिखा है। एक बार उनसे मिलने पर उनके पैरों पर भी लोट गए थे। हरिश्चंद्र जी के निधन पर इन्होंने उर्दू में एक बहुत ही भावपूर्ण कविता लिखी थी जिसकी दो पंक्तियाँ ये हैं:—

बनारस की ज़मी नाज़ा है जिसकी पायबोसी पर।
अदब से जिसके आगे चर्ख ने गर्दन झुकाई है।

ये भारतेंदु जी की शैली को ही आदर्श मानते थे। पर इनकी शैली वास्तव में उनसे बहुत भिन्न हुई है। भारतेंदु जी की शैली में एक गंभीरता, स्निग्धता तथा सरसता मिलती है। मिश्र जी की शैली में विनोद तथा मनोरंजन की सामग्री अधिक पाई जाती है। मिश्र जी बैसवाड़े के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनकी भाषा पर पश्चिमी अवधी का कुछ-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है। पर यह प्रभाव यों ही इनकी भाषा पर नहीं पड़ गया है। ये समझ बूझकर अपनी भाषा में प्रांतीयता रखते

थे। इनकी गंभीर भाषा में यह बात नहीं है पर विनोदपूर्ण लेखों में यह विशेषता प्रायः लक्षित होती है। बैसवाड़ी मुहावरों तथा कहावतों का भी इन्होंने प्रयोग किया है। जैसे—घूरे के लत्ता बिनैं कनातन क डौल बाँधैं, खरी बात शहिदुल्ला कहैं, सबके जी तें उतरे रहैं, मुँह बिचकाना, पख निकालना आदि। प्रांतीय शब्दों का भी इन्होंने प्रयोग किया है, जैसे-टेंव (स्वभाव), सेंतमेंत (बिना मूल्य), खौखियाना (क्रुद्ध होकर बोलना)। ये संस्कृत के शब्दों को प्रायः हिंदी के उच्चारण के अनुरूप लिखा करते थे, जैसे—रिषि, रिषीश्वर; रितु आदि। मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग इनकी भाषा की विशेषता है। प्रांतीय लोकोक्तियों की ओर इनका झुकाव अधिक था। पानी पानी होना, आपे से बाहर होना, धोखे की टट्टी खड़ी करना आदि इनके मुहावरों के कुछ उदाहरण हैं। ये 'लेखणी' 'औगुण' आदि प्रयोग भी कर दिया करते थे। इनके 'भए' आदि प्रयोगों की प्रवृत्ति कोई ऐसी विशेषता नहीं है जो इन्हें उस समय के लेखकों से अलग करती हो। पं० बदरीनारायण चौधरी, पं० बालकृष्ण भट्ट आदि सभी लेखकों में ऐसे प्रयोग मिलते हैं। उस समय के उर्दू-लेखकों ने भी 'हुआ' के लिए 'भया' लिखा है। इनके 'ब्राह्मण' पत्र में हास्यबिनोद, देशभक्ति, देशी कपड़ा, मातृभाषा महत्त्व इत्यादि अनेक विषयों के लेख निकला करते थे। इनके कुछ लेखों के शीर्षकों से इनके विषयों का पता लग सकता है। उनमें से कुछ ये हैं—'धोखा', 'बालक', 'युवावस्था', 'दाँत 'भौं', 'ट', 'द', 'खड़ी बोली का 'पद्य' 'मरे का मारैं शाह मदार', 'पंच परमेश्वर' इत्यादि। इनके लेखों में से दो उद्धरण दिए जाते हैं:—

"इधर आपने जब से स्कूल में पाँव रक्खा तभी से विलायती वस्तुओं के व्यवहार की लत डाल के खर्चा बढ़ा रखा है। यों लेक्चर देने में चाहे जैसी सुन लीजिए, पर बर्ताव देखिए तो पूरा सात समुद्र के पार का पाइएगा। इस पर भी ऐसे लोगों की संख्या इस देस में अब बहुत नहीं है, जो धाए धूपे बिना अपना तथा अपने कुटुम्ब का पालन कर सकते हों। इससे बाबू साहब को भी पेट के लिए कुछ करना पड़ता है, सो और कुछ न कर सकते हैं, न करने में अपनी

इज्ज़त समझते हैं, अतः हेर फेर कर नौकरी ही की शरण सूझती है। वहाँ भी काले रंग के कारण इनकी विद्या बुद्धि का उचित आदर नहीं।"

"सहृदय सुहृद्गण आपस में आप आपकी बोली बोलते भी नहीं हैं। एक हमारे उर्दूदाँ मुलाकाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते जाते थे, पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का सा देखा तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के सामने की बात न्यारी है, अकेले में अथवा अपनायतवालों के आगे आप आप न किया करो, इससे भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है। पर वह इस बात को न माने; हमने दो चार बार समझाया, पर वह "आप" थे, क्यों मानने लगे! इस पर हमें झुँझलाहट छुटी तो एक दिन उनके आते ही और "आप" का शब्द मुँह पर लाते ही हमने कह दिया कि आप की ऐसी तैसी! यह क्या बात है कि तुम मित्र बनकर हमारा कहना नहीं मानते? प्यार के साथ तू कहने में जितना मज़ा आता है उतना बनावट से आप साँप कहो तो कभी सपने में नहीं आने का। इस उपदेश को वह मान गए।"

पंडित बालकृष्ण भट्ट ने संवत् १९३३ में अपना 'हिंदी प्रदीप' निकाला। इनकी शैली प्रतापनारायण मिश्र की शैली से कुछ-कुछ मिलती थी। विनोदपूर्ण वक्रता इनके लेखों में भी मिलती है। ये आलंकारिक शैली के पक्षपाती प्रतीत होते हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारों का प्रयोग इनके गद्य में बराबर मिलता है। इनका 'चंद्रोदय' नाम का लेख तो रूपक, संदेह, उत्प्रेक्षा आदि से भरा हुआ है। एक उदाहरण,—

"अथवा यह कालरूपी श्रोत्रिय ब्राह्मण के नित्य जपने का ओंकार महामंत्र है, या अंधकार महाराज के हटाने का अंकुश है; या विरहिणियों के प्राण कतरने की कैंची है, अथवा शृंगार-रस से पूर्ण पिटारे के खोलने की कुंजी है, या तारामौक्तिकों से गुँथे हार के बीच का यह सुमेर है; अथवा जंगम जगत्मात्र को डसनेवाले अनंग-भुजंग के फन पर चमकता हुआ मणि है, या निशा-नायिका के चेहरे की मुस्कराहट है; या संध्या नारी की काम-केलि के समय में उसकी छाती पर लगा हुआ नखक्षत है, अथवा जगज्जेता कामदेव का धन्वा है, या तारा मोतियों की दो सीपियों में से एक सीपी है।"

शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से हम भट्ट जी की तीन प्रकार की शैलियाँ पाते हैं। एक संस्कृत प्रधान होती थी। दूसरी उर्दू की ओर कुछ-कुछ

झुकती हुई। अपनी तीसरी शैली में वे विदेशी शब्दों का अधिक प्रयोग करते थे। संस्कृत प्रधान शैली में आलंकारिक प्रयोगों की विशेषता है। उर्दू-मिश्रित शैली में वे साधारण विषयों पर लिखा करते थे। मुहावरों का प्रयोग अधिक करते थे। मुहावरों का प्रयोग जितना इन्होंने किया है उतना उस समय के कम लेखकों ने किया। आज कल के हिंदी-लेखक तो मुहावरों की ओर से प्रायः उदास ही रहते हैं। इनकी संस्कृत-प्रधान भाषा इस प्रकार की होती थी:—

"शान्ति और क्षमा के यह आधार थे, तृष्णालता-गहनवन के काटने को मानो कुठार थे, अज्ञान तिमिर के हटाने को सहस्राशु थे, हठ और दुराग्रह आदि महाक्रूर ग्रह के अस्ताचल थे; उदार भाव के हृदय गिरि थे। क्षमा और उपशम महावृक्ष के मूल थे; धर्म की ध्वजा, सत्पथ के दिखानेवाले, शील के सागर, सौजन्य सुमन के कुसुमाकर थे।"

उनकी मिश्रत भाषा नाइत्तिफाकी, खासखूसियत, अज़हद, सिपाहियाना, क़िला ज़ाहिरदारी, मोतक़िद, खामखाह, संजीदगी, नाज़नखरा बेतकल्लुफी, हिमाक़त, गिल्ला, शिकवा इत्यादि विदेशी शब्दों का प्रयोग साधारण बात थी। यह विदेशीपन फारसी अरबी के शब्दों तक ही सीमित न था अंग्रेजी के शब्द भी प्रायः आते रहते थे जैसे— "Education" "Society" "Standard" "Character" "Pulpit" "Formality" "Art of conversation" इत्यादि। इनकी इस प्रकार की भाषा ऐसी होती थी:—

"चंद के उपदेश का असर बड़े बाबू पर कुछ ऐसा हुआ कि उस दिन से यह सब सोहबत-संगत से मुँहमोड़ अपने काम में लग गया। सवेरे से दोपहर तक कोठी का सब काम देखता भालता था; और दोपहर के बाद दो बजे से इलाकों का सब बंदोबस्त करता था। वसूल और तहसील की एक एक मद खुद आप जाँचता था। उजड़े आसामियोंको दिलासा दे और उनकी यथोचित सहायता कर फिर से बसाता था।"

यद्यपि इन दोनों बाबुओं की आँख का पानी ढरक गया था, शरम और दया को पी बैठे थे, कार्य-अकार्य में इन्हें कुछ संकोच न रहा, धृष्टता, अशालीनता और बेहयायी का जामा पहन सब भाँति निरंकुश और स्वच्छंद बन गये थे।

इस मिश्रित भाषा में संस्कृत के शब्दों का तत्सम रूप में प्रयोग

करने का उन्हे आग्रह नहीं था। इस प्रकार के तद्भव रूपों का वे सदा प्रयोग कर दिया करते थे जैसे-गुन-औगुन, मिठास, परख, घिन, लिलार तरुनाई, साखी इत्यादि। सूक्तियों के प्रयोग की ओर भी इनकी रुची थी। संस्कृत, पारसी, अंग्रेजी इत्यादि की सूक्तियाँ इनकी भाषा में बराबर मिलती हैं। कभी-कभी वे संस्कृत के और अरबी फारसी के शब्दों को एक साथ ही रख दिया करते थे। यह कभी तो 'या' लगाकर होता था और कभी युग्मरूप में जैसे—'अपव्यय या फिजूलखर्ची, सोहबत संगत'। लोकोक्तियों का प्रयोग इन्होंने कम ही किया है; 'नाऊ ब्राह्मण हाऊ, जाती देख गुर्राऊ', ऐसी घरेलू कहावतें इनकी भाषा में मिल सकती हैं। शब्दों को ध्वनि के अनुरूप दोहराने की प्रवृत्ति भी इनमें थी; जैसे देखना-भालना, गवार-सवार इत्यादि।

जिस प्रकार पंडित बालकृष्ण भट्टजी 'हिंदी-प्रदीप' लेकर जनता के सामने आये थे उसी प्रकार उपाध्याय पंडित बदरीनारायण (प्रेमघन) 'आनंदकादंबिनी' लेकर आए। इनकी भाषा दो प्रकार की है। अपने 'भारत-सौभाग्य' नाटक आदि में इन्होंने उर्दू मिश्रित भाषा का प्रयोग किया है। अपनी पत्रिका में ये संस्कृत मिश्रित भाषा का प्रयोग किया करते थे। इनकी भाषा में स्वाभाविकता कम है, बनावट तथा कृत्रिमता अधिक। सीधी-सी बात को घुमा फिराकर शब्दाडंबर के द्वारा कहना इन्हें अधिक रुचता था। इसे हम भाषा का सजाना नहीं कह सकते। यह एक व्यक्तिगत विशेषता थी जिसका न तो काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से कोई महत्त्व है, न व्यवहार तथा उपयोगिता की दृष्टि से। गद्य में शब्द-मैत्री का भी ये ध्यान रखते थे। इंशा की भाषा की तरह इनकी भाषा में तुकबंदी भी रहा करती थी। एक बार पंडित रामचंद्र शुक्ल से इन्होंने काँग्रेस में दो दल हो जाने पर एक नोट लिखने को कहा। शुक्ल जी की प्रवृत्ति बनावट तथा व्यर्थ के चमत्कार विधान की ओर नहीं थी। इनके लिखे हुए नोट के एक वाक्य में उपाध्याय जी ने कुछ परिवर्तन करवा दिए और उसको इस प्रकार बनवा दिया—"दलों की दलादली में दलपति का भी विचार अद्यावधि दलदल में पड़ा है!" अपने नाटकों में भी

इन्होंने दो प्रकार की भाषाओं का प्रयोग किया है। 'भारतसौभाग्य' से एक उदाहरण दिया जाता है :—

"वे समस्त जन जो सर्वसाधारण के कामों और राजप्रबन्ध में जानकारी प्राप्त करने के उत्कंठित हैं; अपने उस जानकारी की विशेष वृद्धि करें; और अपनी भूलों को सुधारें, और परस्पर सम्मिलन से तुच्छ ईर्षा, द्वेष, दुष्ट विचार को श्रवण, मनन और स्वीकार करने और कराने में धैर्यवान् हो परम मैत्री युक्त मनोजित् हो, प्रसन्नता के प्रकाश करने में भी शिक्षा लाभ करें। और इस प्रकार से वे ऐसे सुशिक्षित कर दिये जायँ, जो यथार्थ में पार्लीमेंट महासभा के सभ्यों के समान वादानुवाद करने के योग्य बन जायँ।"

इनके नाटकों की उर्दू-मिश्रित भाषा प्रायः इस प्रकार की हुआ करती थी :—

"हुजूर क्या करें जब वहाँ से निकाल दी गई, अगर फिर देख पड़ती तो बस उन्हीं सरदारों का हाल होता। उस एजूकेशन की बला की रौशनी में छिपना मुतलक् मुहाल हो गया; और फिर लाजवाब तिलिस्मों के आगे किसी का कुछ चलता भी तो न था, अलाहाजुलक़यास उस मेम मुसम्मात पालिसी का तो कहना ही क्या था गोया जादू की पुतली थी।"

अपनी 'आनंदकादंबिनी' में ये इस प्रकार की भाषा लिखा करते थे:—

इस बार कांग्रेस का अधिवेशन भारत-राजधानी कलकत्ते में होगा, इसी के सिद्धान्त और कार्य प्रणाली के परिवर्तन के विषय में बंगाल में घोर मतभेद उपस्थित हुआ है। क्योंकि बाईस वर्ष पर्य्यंत देश शासन आदि के सुधार के विषय में बारम्बार भारत साम्राज्य से जो प्रार्थनाएँ की गई उसका कुछ फल होते न देखकर प्रजा का अधिकांश दल हताश होकर अब "अपने ही मरने में स्वर्ग देखने" का स्वप्न देख रहा है। इसी से अब वह कोई प्रार्थना भारत साम्राज्य से न कर केवल अपने ही बाहुबल से ऐसे उद्योग में लगना उचित समझता है, जिसकी सिद्धि में न तो अधिक संदेह और न परमुखापेक्षी होना पड़े।"

आनंदकादंबिनी के समाचार भी कभी-कभी अनुप्रास युक्त भाषा में निकला करते थे। एक उदाहरण :—

"श्रीमान् महाराज—लेफ्टिनेन्ट गवर्नर भी आए, शिकार के बहाने जंगल

में भी मंगल मचाए। पहाड़ों पर भी बाजारें लगीं, स्थानिक राजकर्मचारियों की खैरखाहियाँ जगीं। कुछ लोग जो हरखाए तो अनेक बेगार से चिल्लाए, नगर के टाउनहाल में ऐड्रस का तदवीर भी हुआ।"

इस पत्रिका की साधारण सूचनाएँ भी विनोदपूर्ण हुआ करती थीं। संवत् १९४२ की एक सूचना देखिए:—

"हम लोगों की यह इच्छा थी कि वर्ष में कादम्बिनी के दो मेघ साधारण रूप से न हों, विशेष गुणों से सुसज्जित हुआ करें अर्थात् श्रावण फाल्गुन के, परन्तु विलम्ब के कारण यह फाल्गुन का मेघ होली के योग्य लेख से यथार्थ भूषित न हो सका। ग्राहक गण बहुत हँस थोड़े ही में बस करें।"

और यदि योग्य समझें दाम देना भी आरंभ कर चलें, जिस्से परलोक में पापी न समझे जाँयगे, क्योंकि नव महीने हो गये अब तो प्रसव की अवधि भी पूरी हो गई।"

दिल्ली के लाला श्रीनिवासदास मातृभाषा के अनन्य उपासकों में से थे। ये स्वयं भी काय करते थे और दूसरों को भी उत्साहित करते थे। एक बार ये पंडित प्रतापनारायण मिश्र से मिलने गए और उनके चरणों पर एक असर्फी निकालकर रख दी। मिश्रजी स्वाभिमानी प्रकृति के थे, उन्होंने समझा कि हमें तुच्छ ब्राह्मण समझकर यह दान दिया जा रहा है। जब मिश्रजी बिगड़ने लगे तो लाला श्रीनिवासदास ने बड़ी विनम्रता से करबद्ध होकर कहा "भगवन्! मैं तो मातृभाषा के मंदिर पर अक्षत चढ़ाता हूँ"। इनके लिखे हुए तीन नाटक तप्तासंवरण, संयोगिता-स्वयंवर तथा रणधीर-प्रेममोहिनी हैं। परीक्षागुरु नामक इनका एक उपन्यास भी है। 'संयोगिता-स्वयंवर' की पंडित बदरीनारायण चौधरी ने बड़ी कठोर समालोचना की थी। इनके नाटक किस कोटि के हैं, यह आगे नाटकों के प्रसंग में कहा जायगा। तप्तासंवरण तथा रणधीर-प्रेममोहिनी की उस समय बड़ी प्रशंसा हुई थी। तप्तासंवरण को भारतेंदु जी ने 'हरिश्चंद्र-मैगज़ीन' में निकाला था तथा इसका गुजराती अनुवाद गुजरात के 'बुद्धि-वर्द्धक' पत्र में प्रकाशित हुआ था। इनकी भाषा के उदाहरण स्वरूप प्रायः परीक्षागुरु की भाषा उपस्थित की जाती है परंतु इस उपन्यास की भाषा लेखक की साहित्यिक भाषा नहीं है। इन्होंने अपनी भूमिका में स्वयं

लिखा है कि "दिल्ली के रहनेवालों की साधारण बोलचाल पर ज्यादः दृष्टि रक्खी गई है।" दिल्लीवालों का जैसा उच्चारण है उसी के अनुरूप इसकी भाषा है। उसमें उन्के, इस्की, कौन्सा ऐसे प्रयोग बराबर मिलते है। दिल्लीवाले 'में' का उच्चारण कुछ खींच कर करते हैं इसीलिए 'में' के लिए सदा 'मैं' लिखा गया है। 'बोलने का हाव नहीं पड़ता', काँटा कसकै है,' 'सौदागर सै पूछा', इत्यादि प्रयोग दिल्ली प्रांत के ही हैं। इस उपन्यास की भाषा इस प्रकार की है:—

'हाय! हाय! तुम यह क्या कहते हो? मदनमोहन पर तक़ाज़ा हो गया। तुमने यह बात किस्सै सुनी? मैं चाहता हूँ कि परमेश्वर करे यह बात झूठ निकले।' लाला व्रजकिशोर इतनी बात कहकर दुःखसागर में डूब गए, उनके शरीर में बिजली का सा एक झटका लगा, आँखो में आँसू भर आए, हाथ पांव शिथिल हो गये। मदनमोहन के आचरण सै बड़े दुःख के साथ वह यह परिणाम पहिले ही समझ रहे थे।

अपने नाटकों मे इन्होंने संस्कृत नाटकों की उस शैली का पालन किया है जिसमें प्रत्येक पात्र अपनी भाषा बोलता है। उदाहरण के लिए रणधीर-प्रेममोहिनी के लाला सुखवासीलाल उर्दू-मिश्रित भाषा में बोलते हैं, चौबे जी अपनी वृंदावनी भाषा में बोलते हैं तथा नाथूराम मारवाड़ी बनिया अपनी मारवाड़ी बोली बोलता है। श्रीनिवासदास ने सम्मानित पात्रों के द्वारा जिस भाषा का प्रयोग करवाया है उसे हम लाला साहब की निजी भाषा के बहुत पास पहुँचा हुआ मान सकते है। उदाहरण—

"जीवन! तू मुझे कृतघ्न मत समझ, मै कृतज्ञ हूँ। मेरे हृदय में क्रोधकी आग धधकती है, मेरे मनमें मित्रकी प्रीति महकती है, मै बैरिया को तिनके बराबर जानता हूँ। मैं जगतके अपयशको मौतसे बढ़कर मानता हूँ। ये लड़ाई का बाजा मेरे मनकी उमंगको चौगुना बढ़ाता हैं। लड़ाईसे विमुख होना हमारे कुलको कलंक लगाता है, तौभी तेरे लिए, तेरी प्रसन्नताके लिए तू कहे तो मै इन सब बातोंको पानी दूँ। मैं अपने प्राणोसे बढ़कर जस और जससे बढ़कर धर्मको समझता हूँ तौभी तेरे लिए मेरा धर्म जाय तो जावे, तेरी मर्जी बिना कभी कोई काम न करूँगा।"

मुहावरों के प्रयोग भी इनकी भाषा में हुए हैं। बात उड़ाना, जवानी

जमा खर्च करना, क़ागज़ के घोड़े दौड़ाना, लट्टू होना इत्यादि कुछ उदाहरण हैं। ये अँगरेजी शब्दों का भी प्रयोग कभी-कभी अपनी भाषा में कर लिया करते थे। उर्दू के प्रचलित शब्दों, जैसे वाक़िफ़, रुख़सत शामिल तामील आदि का प्रयोग ये अनुचित नहीं समझते थे। इनकी भाषा में मिठास तथा सुकुमारता है। खड़ी बोली साहित्यिक रूप में प्रायः अपनी मिठास खो देती है। जिस प्रकार की रूखी-सी भाषा हम पत्रिकाओं में देखते हैं उस प्रकार की दिल्ली तथा मेरठ में नहीं बोली जाती। दिल्ली की बोली में प्रांतीय मिठास है। यही मिठास हमें लाला जी की भाषा में मिलती है।

मध्यप्रदेश के विजयराघवगढ़ के राजकुमार ठाकुर जगमोहनसिंह जब अपने अध्ययन के लिए काशी आए हुए थे तो इन्हें भारतेंदु जी के संपर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इनकी प्रकृति भी भारतेंदुजी से मिलती थी। ये भी प्रेम-पथिक कवि थे। इनके हृदयपर भी सहानुभूति, स्नेह, सुकुमारता आदि कोमल भावों ने प्रभाव डाला था। एक बात में ये भारतेंदु जी से कुछ भिन्न दिखाई पड़ते हैं। भारतेंदु जी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य केवल मनुष्यों के कार्यकलापों तक सीमित था। ठाकुर साहब प्रकृति के स्वच्छन्द स्वरूपों के सौंदर्य पर मुग्ध थे। प्राकृतिक दृश्यों का जैसा वर्णन इन्होंने अपनी रचनाओं तथा 'श्यामास्वप्न' नामक उपन्यास में किया है वैसा उस समय के किसी लेखक ने नहीं किया, ये अपनी भाषा में अलंकारों का भी प्रयोग किया करते थे। छोटे-छोटे वाक्यों की रचना की ओर इनकी रुचि अधिक थी। इन्हैं, मुझैं, बातैं, सच्ची, जिस्में आदि प्रयोग इनके लिए साधारण बात थी। प्रांतीय शब्दों का भी प्रयोग इन्होंने किया है। जैसे—परग (पैर), चिरौरी, भाँख (बोली) खीस (जेब), व्यारी (रात्रि भोजन) आदि। मुहावरों का भी ये प्रयोग किया करते थे, जैसे—आँख लगना, बात काटना, मग जोहना, जी टूक-टूक होना। आदि। इनकी भाषा पर ब्रजभाषा का भी प्रभाव पड़ा। है जिन सुकुमार विषयों को इन्होंने लिया है उनमें भाषा विषयों के अनुरूप हुई है। उदाहरण:—

"इसके दक्षिण विंध्याचल सा अचल उत्तर और दक्षिण को नापता भगवान्

अगस्त्य प... ...ण्डवत् करता हुआ विराजमान है। इसके पुण्य-चरणों को धोती मोती की माला के नाईं मेकलकन्यका बहती है। यह पश्चिमवाहिनी जिस्की सबसे बिलग गति है, अपनी बहिन तापती के साथ होकर विंध्य के कंदरों की दरी में तप करती, सूर्य के तप से तापित, सौतों के सदृश अपने बहु वल्लभ सागर से जा मिलती है। नर्मदा के दक्षिण दण्डकारण्य का एक देश दक्षिण कोशल के नाम से प्रसिद्ध है।

"यहाँ पहुँचते ही उनकी आँखें कोने २ दौड़ीं मानों मुझे ही ढूँढ़ती थीं—मैं ऊपर की खिरकी से उन्हें निहारती थी। वे तो घोड़े पर थे। खोर में इधर उधर देखा—कोई न दिखा तब अपने कलेजे से पलाश की डार मय गुच्छे से मुझे हाथ से चौंका दिया—बोले कुछ नहीं पर चार आँखें हो गईं—हिये से हिया दूर ही से मिल गया—ललाट खुजाने के मिस मुझे प्रणाम किया वृन्दा को देख हँस पड़े।"

पंडित अंबिकादत्त व्यास उच्च कोटि के संस्कृत के विद्वान् थे। इन्हें आर्यसमाज का प्रचार समुचित नहीं प्रतीत हुआ। ये सदा आर्य-समाजियों का विरोध करने तथा सनातनधर्म का प्रचार करने में लगे रहे। अवतारमीमांसा, मूर्त्तिपूजा इत्यादि पुस्तकें इन्होंने सनातनधर्म पर लिखीं। इनके अतिरिक्त आश्चर्य-वृत्तांत नाम का एक उपन्यास भी इन्होंने लिखा है। ललिता नाटिका, गोसंकट नाटक इत्यादि भी इन्होंने लिखा। दयानंद-पाण्डित्य-खंडन नामक पुस्तक में इन्होंने बड़ी योग्यता से स्वामी जी की भाषा में अशुद्धियाँ निकाली हैं। इनके एक-आध लेख को देख-कर इनकी भाषा के विषय में कुछ लोगों ने जो सम्मति प्रकट की है वह ग्राह्य नहीं है। यह कहना कि इनकी भाषा पंडिताऊ तथा गँवारू है ठीक नहीं है। इस प्रकार के प्रयोग उस समय के प्रायः सभी लेखकों में मिलते हैं। इनकी भाषा में उच्च विषयों के प्रतिपादित करने योग्य गंभी-रता है। ये बहुत लंबे-लंबे वाक्य लिख लेते थे, पर कहीं भी शिथिलता नहीं आने पाती थी और न कहीं वाक्यों का अन्वय बिगड़ता था। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं:—

"जिस लड़के को कुरते में घुंडी तक लगाना नहीं आता और पाखाने से आ हाथ धोना तक नहीं आता उस लड़के के विशुद्ध दुग्ध के फेन ऐसे कोमल हृदय में यूरोप और अमेरिका की खेती की जाती है। घर से चटनी और घुंघना चाटतेहु ए

स्कूल में पहुँचे कि देखादेखी पेंसिल चाटना तो पहला लेसन् सीखा अब चाहे हिंदू का लड़का मुसल्मान के लड़के से पेंसिल ले और चाहे श्रोत्रिय ब्राह्मण का लड़का धोबी के बच्चे से ले, पेंसिल चाटने के समय कुछ सोचे विचारें सो क्यों ? अब थस्सर नोसर का सर्राटा लेते सरसराकर ऊँचे से ऊँचे दर्जे तक पहुँच गए पर अपने अपने धर्म का कुछ भी मरम न समझा। हाँ यह उन्नति अवश्य भई कि पहले लिफाफा बंद करने को गोंददानी या पानी ढूँढ़ना पड़ता था सो अब तो चट हाथ होंठ पर फेर थूक लगाया और बन्द किया।"

"मैं ऊधर फिरा तो देखा कि हम लोग घूम कर पहाड़ की जड़ में आ गए हैं, औ जिस चेला बाबा को मार्ग दिखलाने को संग लिया था वही लोगों से कह रहा है कि अब सावधान होकर चढ़ो। वहाँ से सिर उठाकर मैंने पहाड़ की चोटी की ओर ताका तो अपूर्व शोभा देख पड़ी कि जैसे पहाड़ आकाश को चूम रहा हो। वह तो अपनी समझ में पहाड़ पर चढ़ने के मार्ग पर हम लोगों को लाया था पर देखा तो मार्ग क्या था, पुरसा पुरसा ऊँचे ढोके थे।"

उस समय के अन्य हिंदी-लेखकों में अलीगढ़ के बाबू तोताराम बी० ए०, बिहार के पंडित केशवराम भट्ट, पंडित राधाचरण गोस्वामी, पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, पंडित भीमसेन शर्मा, पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, पं० सदानंद मिश्र, बाबू रामकृष्ण वर्मा आदि के नाम भी उल्लेख्य हैं। बाबू रामकृष्ण वर्मा ने 'भारतजीवन' के संपादन के अतिरिक्त बहुत से नाटक तथा उपन्यासों के अनुवाद भी प्रस्तुत किए थे। अपने अनुवादों में हिंदी के स्वरूप की रक्षा का ये सदा ध्यान रखते थे। इनके अनुवादों की भाषा इस प्रकार की होती थी:—

"अब हमारी मनोकामना सिद्ध हुई। तो इस आँधी के आरंभ होने के पूर्व ही मेरा यहाँ से हट जाना ही उत्तम है। इस विषय में आप लोगों का अनुरोध हमारे प्रति उचित नहीं है। देखो, हम वृद्ध तपस्वी हैं, और आप सब्री देवनारी हैं। आप लोगों में सर्वापेक्षा कौन अधिक सुन्दरी है यह निर्णय हम से नहीं हो सकता, अतएव इस कनकपद्म को हम, यह देखो, भगवान् विंध्याचल के शृंग पर रख देते हैं।

इन लेखकों के अंत में बाबू राधाकृष्णदास का भी नाम ले लेना उचित होगा। इन्होंने प्रारंभिक काल में ही लिखना प्रारंभ किया था

और मध्यकाल तक लिखते रहे। इनकी रचानाएँ 'सरस्वती' आदि में भी निकलती थीं। इनकी भाषा बहुत प्रौढ़ तथा व्याकरण सम्मत है। च्युत-संस्कृति दोष जो उस समय के प्रायः लेखकों में मिलता है इनकी भाषा में नहीं पाया जाता। जीवनचरित्र, इतिहास, नाटक इत्यादि अनेक विषयों पर इन्होंने लिखा है। दुःखिनी बाला, महारानी पद्मावती, सती प्रताप, महाराणा प्रतापसिंह, इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। सती-प्रताप का प्रारंभिक भाग भारतेंदु जी ने स्वयं लिखा था। इनकी ब्रजभाषा की कविताएँ भी सुंदर होती थीं। इन्होंने 'रहीम' के दोहों पर कुंडलियाँ भी जोड़ी हैं। इनके गद्य का एक उदाहरण दिया जाता है:—

"इन दिनों भाषारसिक समाज में इस बात की चर्चा फैल रही है कि भाषा-कविता की भाषा क्या होनी चाहिए? कुछ लोगों की सम्मति है कि ब्रजभाषा के अतिरिक्त प्रचलित बोलचाल की भाषा में कविता हो ही नहीं सकती, और कुछ कहते हैं कि ब्रजभाषा की कविता हिन्दी भाषा की कविता ही नहीं है, वह केवल एक प्रान्त की भाषा कविता कही जा सकती है; कविता जब खड़ी बोली में होगी तभी वह हिन्दी कविता कहलाने योग्य होगी। मेरी समझ में दोनों ही दलवाले कुछ भ्रम में हैं।"

सामयिक पत्र पत्रिकाएँ

(संवत् १९०२ से १९५७ तक)

उस समय के प्रायः हिंदी के गद्य-लेखक पत्र-संपादक भी थे। राजा शिवप्रसाद के प्रसंग में उनके 'बनारस अखबार' के विषय में कहा जा चुका है। यह पत्र उर्दू जाननेवालों हो के काम का था। हिंदीवालों के लिए कोई पत्र तब तक नहीं निकला था। संवत् १९०७ में बाबू तारामोहन मित्र के उद्योग से 'सुधाकर' नाम का पत्र काशी से निकला। इसके दो वर्ष बाद आगरे से मुंशी सदासुखलाल के संपादन में 'बुद्धिप्रकाश' नाम का पत्र निकला। इसकी भाषा बहुत ठिकाने की होती थी, क्योंकि मुंशी जी उस समय के प्रसिद्ध हिंदी लेखकों में थे। इसके बाद भारतेंदु जी के तीनों प्रसिद्ध पत्र—कविवचनसुधा, हरिश्चंद्र-चंद्रिका तथा बाला-बोधिनी—निकले। संवत् १९२८ में पंडित सदानंद के संपादकत्व में

'अल्मोड़ा अखबार' अल्मोड़ा से निकला था। कलकत्ते से सब से पहला पत्र बाबू कार्तिकप्रसाद ने निकाला था। इसका नाम 'हिंदी दीप्ति प्रकाश' था। इस पत्र के लिए बाबू साहब को बहुत प्रयत्न करना पड़ा। कभी-कभी तो उन्हें लोगों को पत्र सुनाने तक जाना पड़ता था। इस पत्र में भारतेंदु जी भी कभी-कभी लिखा करते थे। बिहार प्रांत से सबसे पहला पत्र 'बिहार-बंधु' संवत् १९२९ में निकला। इसके संपादक पंडित केशवराम भट्ट थे। इसकी भाषा-व्याकरण की दृष्टि से तो सुंदर होती थी, पर भट्ट जी का झुकाव उर्दू-पदावली की ओर विशेष रहता था। कुछ दिनों के बाद यह पत्र साप्ताहिक से मासिक हो गया।

संवत् १९३४ में पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र, पंडित सदानंद मिश्र, पंडित छोटूलाल मिश्र और बाबू जगन्नाथ खन्ना के उद्योग से कलकत्ते में 'भारतमित्र कमेटी' का संगठन हुआ और 'भारतमित्र' पत्र का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। जब पंडित छोटूलाल मिश्र इसके संपादक थे तो भारतेंदु जी भी इसमें कभी-कभी लिखा करते थे। इसी वर्ष लाहौर से पंडित गोपीनाथ के संपादकत्व में 'मित्रविलास' नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकला। इसके विषय प्रायः धार्मिक रहते थे। पंजाब प्रांत में हिंदी-प्रचार के लिए इस पत्र से बहुत काम हुआ। इसके पहले पंजाब में बाबू नवीनचंद्र राय के प्रबन्ध से प्रकाशित 'ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका' थी। बाबू नवीनचन्द्र यद्यपि हिंदी के पक्षपाती थे और स्वयं बहुत शुद्ध हिंदी लिख सकते थे, पर अपने पत्र के लिए उर्दू-मिश्रित भाषा ही रखना उन्होंने उचित समझा। इसका कारण संभवतः यही था कि वे ब्रह्मसमाज का प्रचार करना चाहते थे। प्रचार के लिए लोगों के संपर्क में आना आवश्यक था। पंजाबी साधारण जनता उस समय हिंदी से विशेष परिचित नहीं थी। कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाले दो पत्रों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। संवत् १९३५ में वहाँ से दो प्रसिद्ध पत्र और निकले। पंडित दुर्गादत्त मिश्र के संपादन में 'उचितवक्ता' और पं० सदानंद मिश्र के संपादन में 'सार-सुधानिधि'। उचितवक्ता में उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् लेख लिखा करते थे। यह पत्र मातृभाषा का पक्षपाती था। सारसुधा-

निधि की भाषा बहुत ही परिमार्जित होती थी।

संवत् १९३९ में मिर्जापुर से पंडित बदरीनारायण चौधरी ने 'आनंदकादंबिनी' प्रकाशित करना प्रारंभ किया। हिंदी के दूसरे प्रसिद्ध लेखक पंडित बालकृष्ण भट्ट संवत् १९३३ से ही प्रयाग से 'हिंदी-प्रदीप' नाम का पत्र निकाल रहे थे। पंडित अंबिकादत्त व्यास का 'पीयूष-प्रवाह' (संवत् १९४१) थोड़े ही दिन चल कर बंद हो गया। जिस वर्ष पं० अंबिकादत्त व्यास ने अपना पत्र निकाला था उसी वर्ष काशी का प्रसिद्ध पत्र 'भारतजीवन' निकला। यह बहुत दिनों तक मातृभाषा की सेवा करता रहा। कई वर्ष बंद रहने के बाद इसका प्रकाशन अभी कुछ वर्ष हुए फिर प्रारंभ किया गया था, पर यह चल नहीं सका। कानपुर से पंडित प्रतापनारायण मिश्र के संपादन में ब्राह्मण (संवत् १९४०) नाम का पत्र निकला। इस पत्र की चर्चा मिश्र जी के प्रसंग में हो चुकी है। इसमें देश-भक्ति, समाजसुधार, मातृभाषा-प्रचार इत्यादि विषयों पर लेख निकलते थे। यह पत्र जनता की ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ मनोरंजन भी किया करता था।

'हिंदुस्तान' नाम का प्रसिद्ध पत्र पहले-पहल संवत् १९४० में इंग्लैंड से निकला क्योंकि इसके संपादक तथा संचालक राजा रामपालसिंह उस समय वहीं थे। कुछ दिनों तक यह पत्र हिंदी तथा अँगरेजी में निकलता रहा। इसके बाद इन दो भाषाओं के साथ-साथ इसमें उर्दू के लेख भी निकलते थे। जब राजा साहब स्वदेश लौट आए तो उन्होंने इस पत्र को दैनिक रूप में यहीं से निकालना प्रारंभ किया। इस पत्र का मुख्य विषय राजनीति था। इसकी राजनीतिक टिप्पणियों का देश में बहुत महत्त्व था। अँगरेजी पत्र भी इसके उद्धरण दिया करते थे। इसके संपादकों में देशपूज्य स्व० पंडित मदनमोहन मालवीय, बाबू अमृतलाल चक्रवर्ती, लाला बालमुकुंद गुप्त, पंडित प्रतापनारायण मिश्र ऐसे लोग रह चुके हैं। इन पत्रों में से कुछ तो थोड़े दिन चलने के पश्चात् बंद हो गए। बहुत से बहुत दिनों तक मातृभाषा की सेवा करते रहे।

इनके अतिरिक्त दो और पत्र महत्त्व के हैं जिनके नाम अभी नहीं

आए। कलकत्ते से बाबू योगेशचंद्र वसु के प्रयत्न से 'हिंदी वंगवासी' का प्रकाशन संवत् १९४७ में आरंभ हुआ। इसमें चित्र भी रहते थे। यह पत्र सनातनधर्म का पक्षपाती था। इसके ग्राहकों की संख्या सहस्रों तक पहुँच गई थी। इस पत्र का इतना प्रचार था कि लोग 'वंगवासी' शब्द का अर्थ ही अखबार समझा करते थे। इन प्रारंभिक काल के प्रायः अंत में बंबई से 'वेंकटेश्वर समाचार' (संवत् १९५२) का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। ये दोनों पत्र अभी तक उसी रूप में चल रहे हैं। इन पत्रों के अतिरिक्त कुछ धार्मिक तथा जातीय पत्रिकाएँ भी निकली थीं। दो एक पत्र आर्यसमाजियों के उत्साह से निकले थे। इनका क्षेत्र स्वाभाविकतः संकुचित था।

नाटक तथा उपन्यास

संवत् १९३० में भारतेंदु जी ने अपना पहला मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नाम का लिखा। इसके पश्चात् सत्य हरिश्चंद्र, चंद्रावली, भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी, नील देवी, प्रेम योगिनी इत्यादि नाटक इन्होंने लिखे। दिल्ली के लाला श्रीनिवासदास ने रणधीर प्रेममोहिनी, संयोगिता स्वयंवर और तप्तासंवरण नामक तीन नाटक प्रस्तुत किए। पंडित अंबिकादत्त व्यास ने ललिता नाटिका, गोसंकट नाटक तथा भारत-सौभाग्य लिखे। भारत-सौभाग्य नाम का एक नाटक उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी ने भी लिखा था। पंडित प्रतापनारायण ने गोसंकट, कलिकौतुक रूपक आदि नाटक लिखे थे। नाटक लिखनेवालों के सम्मुख एक विचारणीय प्रश्न था। अँगरेजी नाट्यशैली संस्कृत नाट्यशैली से सर्वथा भिन्न है। इसका कारण दोनों देशों की भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ हैं जिनमें रहकर नाटकों का विकास हुआ है। जब बंगाली समाज अँगरेजों के संपर्क में आया तो उस पर विलायती संस्कृति का बहुत प्रभाव पड़ा। बंगालियों ने अँगरेजों की नाट्यशैली का अनुकरण करना आरंभ किया। संस्कृत के नाटकों में नान्दी पाठ, सूत्रधार की प्रस्तावना, कवि-परिचय इत्यादि का बहुत विस्तार किया जाता है। संधियों इत्यादि के नियम भी बहुत जटिल हैं। भारतेंदु

हरिश्चंद्र ने न तो संस्कृत की जटिल शैली का पूर्ण अनुसरण किया और न विलायती शैली को एक दम से अपनाया। उनका मार्ग दोनों के बीच का था। अपने बड़े नाटकों में प्रस्तावना की योजना वे बराबर किया करते थे। छोटे-छोटे प्रहसनों में उन्होंने उसकी आवश्यकता नहीं समझी।

लाला श्रीनिवासदास ने अपने तप्तासंवरण नाटक में सूत्रधार आदि की योजना की है। इसमें एक प्रेमकथा का वर्णन है जो 'रानी केतकी की कहानी' तथा शकुंतला नाटक के संमिश्रण से बनी है। भेद इतना ही है कि यहाँ गौतम ऋषि संवरण (नायक) को शाप देते हैं। पाँच छोटे-छोटे अंकों में यह नाटक बहुत ही सुन्दर बना है। इन्होंने अपने रणधीर-प्रेममोहिनी नाटक में प्रस्तावना की योजना नहीं की है। इसमें अंक और गर्भांक रखे गए हैं। यह नाटक अभिनय के योग्य भी बना है। इसमें एक बहुत शिष्ट प्रहसन भी रखा गया है। यह प्रहसन मुख्य कथा पर ऊपर से चिपका हुआ नहीं है। मुख्य कथा के साथ-साथ उसके अनिवार्य अंग की तरह आगे चलता है। हास्य की योजना संस्कृत नाटकों में भी ठीक नहीं हुई। संस्कृत नाटककार विनोद के लिए सर्वदा प्रायः एक पेटू ब्राह्मण उपस्थित करते थे। यह रुचि बहुत भद्दी है। यह सब देखते हुए लाला श्रीनिवासदास अपने नाटकों के कारण बहुत ही प्रशंसा के योग्य हैं। इनका संयोगिता-स्वयंबर नाटक वैसा नहीं बन सका। अन्य नाटककारों की कृतियाँ नाट्यकाल की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखतीं। पंडित बदरीनारायण चौधरी का भारत-सौभाग्य नाटक किसी काम का नहीं हुआ है। इसमें सब मिलाकर प्रायः ९० के लगभग पात्र हैं।

उस समय नाटकों की जो बाढ़ आई उसका मुख्य श्रेय बाबू हरिश्चंद्र जी को है। इस सिद्धांत में बहुत कुछ सत्यता है कि एक अच्छा अभिनेता ही अच्छा नाटककार हो सकता है। रंगमंच की आवश्यकताओं तथा कठिनाइयों को बाहर से कोई कैसे समझ सकता है। भारतेंदु जी स्वयं उच्चकोटि के अभिनेता थे। बलिया के हिंदी प्रेमी कलक्टर के निमंत्रण पर वे अपने मंडल को लिए दिए वहाँ गए थे और

अपने कई नाटकों का तथा रविदत्त शुक्ल के बनाए हुए देवाक्षरचरित्र नाटक का अभिनय किया था। हरिश्चंद्र नाटक का अभिनय बड़ी ही सुंदरता से किया गया था। श्मशान के अंतिम दृश्य पर लोगों में इतनी करुणा जाग्रत हो गई कि अँगरेज रमणियों तक को आँसू पोछ कर रूमाल निचोड़ने पड़े थे। भारतेंदु जी की सफलता का रहस्य इसी बात में है। हम चाहें तो यह कह लें कि भारतेंदु जी के नाटक उच्च कला की दृष्टि से उतने सुंदर नहीं हुए परंतु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतेंदु जी के इतने दिनों बाद तक भी हम उच्च कोटि के अधिक नाटक प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। जब तक हिंदीवालों के पास अपना रंगमंच नहीं हो जाता तब तक उच्चकोटि के अभिनय के योग्य नाटकों की आशा करना केवल दुराशा मात्र है। भारतेंदु काल के अंत में बाबू राधाकृष्णदास के रूप में हम एक सफल नाटककार को पाते हैं। इनके मुख्य नाटक दुःखिनी बाला, महारानी पद्मावती तथा महाराणा प्रतापसिंह हैं। महाराणा प्रतापसिंह नाटक उनके सब नाटकों में अधिक महत्व का है। यह अभिनय के योग्य भी हुआ है। कई बार सफलता-पूर्वक यह रंगसंच पर आ चुका है। भावोद्रेक की दृष्टि से भी यह उच्चकोटि का है। भारतेंदु जी के सती प्रताप नाटक को भी इन्होंने पूरा किया था। भारतेंदु जी ने विद्यासुंदर, पाखंड विडंबन, धनंजय विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस, नाटकों के अनुवाद भी प्रस्तुत किए थे। अलीगढ़ के बाबू तोताराम बी० ए० ने अँगरेजी एक नाटक का अनुवाद केटो वृत्तांत नाम से किया था।

उपन्यास क्षेत्र में भी इस समय कुछ प्रारंभिक काम हुआ। हिंदी का सबसे पहला उपन्यास जो संभवतः 'रानी केतकी की कहानी' है। इसके बाद श्रीनिवासदास के परीक्षागुरु का नाम लिया जा सकता है। इसमें दिल्ली के एक रईस की कथा बड़े विस्तार से लिखी गई है। चरित्र-चित्रण पर भी ध्यान रखा गया है। ठाकुर जगमोहनसिंह का श्यामा-स्वप्न भी एक सुंदर उपन्यास है परंतु उसके पात्र संभवतः इस लोक के नहीं हैं। पंडित अंबिकादत्त व्यास ने भी 'आश्चर्य-वृत्तांत' लिखकर

उपन्यासों में योग दिया। जैसा कि इसके नाम से ही ज्ञात होता है, लोगों को चकित करने के लिए इसमें एक मनगढंत कथा लिखी गई है। बैठे-ठाले मन बहलाव के लिए साधारण कोटि के पाठकों का मनोरंजन इससे हो सकता है। पंडित बालकृष्ण भट्ट ने 'सौ अजान एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' दो छोटे-छोटे उपन्यास लिखे हैं। राजा शिवप्रसाद गुप्त का 'राजा भोज का सपना' एक कहानी ही है। इसी समय में बँगला के उपन्यास एवं नाटकों का अनुवाद भी प्रारंभ हुआ। भारतेंदु जी के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', 'मरता क्या न करता' के अनुवाद किए। पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने राजसिंह, इंदिरा, राधारानी आदि के अनुवाद बँगला से किए। बाबू गजाधरसिंह ने बंगविजेता और दुर्गेशनंदिनी के अनुवाद किए। पंडित राधाचरण गोस्वामी ने भी कुछ अनुवाद प्रस्तुत किए।

यहाँ तक तो साहित्य-रचना की बात हुई। परंतु हिंदी-सेवकों के सम्मुख केवल यही प्रश्न नहीं था। लेखकों के साथ-साथ पाठक उत्पन्न करने की भी आवश्यकता थी। उर्दू के राजभाषा होने के कारण शिक्षा-विभाग में हिंदी को कोई महत्त्व प्राप्त न था। उर्दू की ओर लोग नौकरी पाने की आशा से झुकते थे। उर्दू के राजभाषा होने से एक कठिनाई और थी। जन साधारण अपनी प्रार्थनाओं को न्यायाधिकरण तक सुविधापूर्वक नहीं पहुँचा पाते थे। इसके लिए भी आंदोलन करने की आवश्यकता थी। जन साधारण को हिंदी से परिचित कराने के लिए कैसे-कैसे उद्योग किए गए इसका अनुमान केवल इस बात से हो सकता है कि कलकत्ते के बाबू कार्तिकप्रसाद अपने समाचार-पत्र लोगों को सुनाने जाया करते थे। और भी भिन्न-भिन्न नगरों में हिंदी-सेवक इस दिशा में कार्य कर रहे थे। मेरठ के पंडित गौरीदत्त जी ने संवत् १९३८ में सब काम छोड़ नागरीप्रचार ही को अपना ध्येय बनाया; इस कार्य को लौकिक व्यवहार ही समझ कर नहीं किंतु अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझ कर। इनके उद्योग से उन दिनों मेरठ के आस-पास हिंदी का बहुत प्रचार हुआ। मेरठ की नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना इनके

ही उद्योग का फल था। इन्होंने मेरठ में नागरी पाठशाला भी स्थापित की थी। यही नहीं; आस-पास के और भी बहुत से स्थानों में इन्होंने नागरी पाठशालाओं की स्थापना के लिए उद्योग किए। जिस प्रकार मेलों-तमाशों में ईसाई-प्रचारक अपनी पुस्तकें लिए पहुँच जाते हैं उसी प्रकार गौरीदत्त जी भी नागरी का झंडा लिए पहुँचते थे। जैसे राम के भक्तों से लोग प्रणाम के स्थान पर 'जय सियाराम' कहते हैं वैसे ही इनसे लोग 'जय नागरी की' कहा करते थे। संवत् १९५१ में दफ्तरों में नागरी के प्रवेश के लिए इन्होंने एक 'मेमोरियल' भेजा था।

रंगमंच के द्वारा भी हिंदी-प्रचार का उद्योग किया जाता था। बाबू हरिश्चंद्र, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, राय देवीप्रसाद पूर्ण ऐसे लोग हिंदी नाटकों के प्रचार की पवित्र कामना ही से अभिनय के लिए उतरते थे। संयुक्त प्रांत के अतिरिक्त अन्य प्रांतों में भी हिंदी पाठक उत्पन्न होने लगे थे। बंबई ऐसे दूर प्रांत में वेंकटेश्वर पत्र का प्रकाशन ही इसका प्रमाण है। कलकत्ता तो मानो हिंदी पत्रों का केंद्र ही हो रहा था। ये सब उद्योग शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से किए गए थे।

धार्मिक उत्साह ने भी हिंदी-प्रचार में सहायता पहुँचाई। ईसाई धर्म-प्रचारक ईसा के बलिदान का संदेश हिंदी ही के द्वारा ग्रामीण तथा अशिक्षित हिंदू जनता को सुनाया करते थे। इनके उद्योगों से हिंदी प्रचार में बहुत सहायता मिली। आर्यसमाजियों ने तो आर्यभाषा (हिंदी) का प्रचार अपने धर्म का एक अङ्ग ही मान लिया था। इन्हीं लोगों के उद्योगों का यह फल था कि उन दिनों पञ्जाब ऐसे प्रांत में हिंदी पुस्तकों का प्रकाशन संभव हुआ। इन धार्मिक आंदोलनों का विरोध करने को सनातनधर्मी पंडित भी उठने लगे। पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरी, पण्डित अम्बिकादत्त व्यास आदि ऐसे ही लोगों में थे। इस अद्भुत धार्मिक जागृति के फलस्वरूप सम्पूर्ण उत्तर भारत में तथा गुजरात और उत्तरी मध्यप्रांत में हिंदी भाषा ने अपने पैर फैलाए।

जिस समय हिंदी प्रेमी सर विलियम म्योर यहाँ के लाट थे उस

समय हिंदी को राजभाषा बनाने के लिए बहुत उद्योग किया गया था। भारतेंदु जी ने इसके लिए सभाओं की योजना की थी, प्रार्थना-पत्र भेजे थे तथा समाचारपत्रों के द्वारा भी इसका आंदोलन किया था। केंपसन साहब उस समय शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर थे। राजा शिवप्रसाद से उनसे खूब पटती थी। हिंदी के दुर्भाग्य से उस समय भारतेंदु जी के तथा राजा साहब के बीच कुछ वैमनस्य सा हो गया। सारे उद्योगों का कुछ भी फल न हुआ। इसके पीछे 'एज्यूकेशन कमीशन' के समय भी इन्होंने हिंदी के लिए बहुत उद्योग किया था। इन उद्योगों में यद्यपि तात्कालिक सफलता नहीं मिली, पर हिंदी की चर्चा सुदूर देशों में होने लगी। फ्रांस के पत्रों में भी इस विषय की टिप्पणियाँ कभी-कभी निकलती थीं। इंगलैंड के फ्रेडरिक पिनकाट ने भारतवर्ष की अनेक भाषाओं का अध्ययन किया था। वे हिंदी से बहुत प्रभावित हुए थे। इन्होंने हिंदी की अनेक पुस्तकों का संपादन किया था। यह हिंदी ही का प्रेम था कि संवत् १६५२ में ये महाशय भारतवर्ष आए। अँगरेज हिंदी-प्रेमियों में सर ग्रियर्सन साहब ने भी बहुत से हिंदी के उपकार के काम किए। बिहारी-सतसई, पद्मावती, भाषाभूषण, तुलसीकृत रामायण इत्यादि ग्रंथों का संपादन भी इन्होंने किया था। संवत् १९४६ में इन्होंने Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan प्रकाशित किया इस प्रकार हिंदी का प्रचार बराबर हो रहा था। संवत् १६५० में बाबू श्यामसुन्दरदास वर्मा (बाद में रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास जी), पंडित रामनारायण मिश्र, ठाकुर शिवकुमारसिंह आदि के उद्योग से काशी नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। बाबू राधाकृष्णदास जी इसके प्रथम सभापति नियुक्त हुए। बाबू रामकृष्ण वर्मा, रायबहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र, बाबू रामदीनसिंह, बाबू गदाधरसिंह, बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री इत्यादि सज्जन इस सभा के सहायकों में थे। संवत् १९५२ में इस सभा ने लार्ड मैकडानल को नागरी के दफ्तरों में प्रवेश के लिए एक आवेदन पत्र समर्पित किया था। इस विषय पर विचार करने का वचन दिया गया। भिन्न-भिन्न नगरों में आंदोलन

प्रारम्भ किया गया। स्थान-स्थान पर सभाएँ की गईं। अनेक सज्जन लोगों के हस्ताक्षर लेने के लिए भेजे गए।

इस आंदोलन के प्रधान नेता देश पूज्य श्रीमान् पंडित मदनमोहन मालवीय जी थे। "अदालती लिपि और प्राइमरी शिक्षा" नाम की एक बहुत बड़ी पुस्तक अँगरेजी में मालवीय जी ने लिखी। इस पुस्तक में प्रामाणिक आधारों की सहायता से बहुत ही तर्कपूर्ण शैली में यह दिखाया गया कि अदालतों में नागरी का प्रवेश न होने से जनता को कैसे-कैसे कष्ट होते हैं। संवत् १९५५ में एक डेपुटेशन लाट साहब से मिला और नागरी का मेमोरियल समर्पित किया। यह डेपुटेशन कितना प्रभावशाली था यह इसी से समझा जा सकता है कि इसमें अयोध्या-नरेश महाराज प्रतापनारायणसिंह, माँडा नरेश रामप्रसादसिंह, राजा बलवन्तसिंह, डाक्टर सुन्दरलाल, पूज्य मालवीय जी ऐसे गण्यमान्य तथा प्रतिष्ठित सज्जन सम्मिलित थे। इन सब उद्योगों का यह फल हुआ कि संवत् १९५७ में कचहरियों में नागरी के प्रवेश की घोषणा हुई। इस प्रारम्भिक काल में गद्य-साहित्य की जो अवस्था थी उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन अब तक किया गया। कविता-क्षेत्र में इस प्रारम्भिक काल में कैसे प्रयत्न किए गए उनका उल्लेख आगे के प्रकरण में होगा। प्रारम्भिक काल में व्रजभाषा ही काव्य-भाषा रही। व्रजभाषा के कवियों का वर्णन व्रज-काव्य-धारा प्रकरण में हो ही चुका है। अतः अगले प्रकरण में कुछ प्रेरक प्रवृत्तियों का उल्लेख तथा प्रारम्भ के दो एक खड़ी बोली के कवियों का वर्णन ही किया जावेगा।

खड़ी बोली

प्रारंभिक काल

(संवत् १९२४–१९६०)

पद्य

आधुनिक काल के पहले तक हिंदी कविता का विषय मुख्यतः प्रेम रहा। इस प्रेम का आलंबन जब लौकिक होता था तो शृंगारी कविताओं की सृष्टि होती थी और जब लोकोत्तर आनंद का आश्रय ग्रहण किया जाता था तो भक्ति-काव्य की रचनाएँ होती थीं। इन दोनों प्रकार की रचनाओं में समान रूप से विस्तृत होनेवाली वृत्ति का यदि हम नामोल्लेख करना चाहें तो वह यही 'प्रेम वृत्ति' है। वीर रस के काव्यों की सृष्टि भी हिंदी साहित्य में इसी लौकिक प्रेम की प्रेरणा से हुई। प्रायः वीर रस के काव्यों मे क्रोध, द्वेष, यु आदि की प्रवृत्तियों की स्थापना के पीछे किसी न किसी प्रेम-कथा का योग अवश्य रहता था। शुद्ध वीर रस के काव्य हिंदी में कुछ ही मिलेंगे। इन कविताओं की धारा प्रवाहित होते-होते आधुनिक काल तक पहुँची थी। बहुत लंबे काल तक एक ही विषय पर लिखते-लिखते कवियों की उक्तियों में बासीपन आ गया था। वही नायक नायिका की कथा, वही राधाकृष्ण की चर्चा। इस छोटे से संकुचित क्षेत्र में कल्पना की उड़ान जहाँ तक हो सकती थी वहाँ तक हुई। फिर उन्हीं बातों की आवृत्ति, पुनरावृत्ति प्रारंभ हुई। पद्माकर के बाद सैकड़ों कवि हुए, परंतु कोई भी इस कोटि का नहीं हुआ जिसकी रचनाओं को हिंदी-भाषा-भाषियों के घर-घर में फैलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। साहित्य की यही शिथिलता थी जब देश की नवीन परिस्थियों ने हमारी विचारधारा को ही बदल दिया। अँगरेज अथवा विदेशी दूर रह कर राज्य करनेवाले विजेताओं के रूप में ही केवल यहाँ न आए; उन्होंने अपनी धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक संस्कृतियों का झंडा भी हमारे यहाँ—हमारे घरों के बहुत पास—गाड़ दिया। हमारे बालक

स्कूलों कॉलेजों में जा-जाकर नवीन भावनाओं से प्रभावित होने लगे। इनमें कुछ बुरी थीं, अनेक अच्छी भी थीं। हमें यह मानने में संकोच नहीं करना चाहिए कि अँगरेजी साहित्य एक समुन्नत साहित्य है। जीवन को जिस विराट् रूप में अँगरेजों ने देखा है उस रूप में हम पिछले काल के भारतीयों ने कहाँ देखा था? हमारी दृष्टि पनघट तथा करील-कुंजों ही तक जाती थी। अँगरेजी-कवियों के काव्यों में उन सार्वभौमिक भावनाओं के चित्रण मिलते हैं जो देश तथा काल के बंधनों को पार कर सब देशों तथा सब कालों के मनुष्यों की अनुभूति की सीमा तक पहुँचते हैं। उनके मनमें अपने देश के प्रति एक अनोखा गौरव है। अँगरेजों की तथा योरोप देश के और लोगों की भौगोलिक परिस्थितियाँ ही ऐसी हैं जो उनमें एकत्व की भावना की सृष्टि करती हैं। भिन्न-भिन्न लोगों में व्याप्त होनेवाली भिन्नता, देश की सामान्य भूमि पर आकर एकत्व का अनुभव करती है।

संदेह नहीं। पर इसका अस्तित्त्व था और अब भी है। सौभाग्यवश यह संकुचित मनोवृत्ति युक्तप्रांत के हिंदी-भाषा-भाषियों के पास नहीं आ पाई। इसका कारण यही था कि इस प्रांत का कोई वास्तविक नाम ही नहीं था जो यहाँ के लोगों को प्रभावित कर किसी एकत्व की ओर उन्मुख करता। आधुनिक काल में हमारे साहित्य में देशभक्ति भी नवीन विषय हुआ। प्रारंभिक कवियों की रचनाओं में देशभक्ति की भावनाएँ आने तो लगीं, पर उनके विषय में एक बात जान लेना आवश्यक है। इतने दिनों के अव्यवस्थित शासन के बाद हमने एक ऐसा शासन पाया था जिसमें हम स्वतंत्रता से घूम-फिर सकते थे, सोच-विचार सकते थे। कम-से-कम धर्म के नाते जजिया ऐसे करों का नाम तो उठ ही गया था। इस नवीन शासन की सुव्यवस्थाओं ने लोगों के हृदयों में इसके प्रति अनुराग की सृष्टि की। अब इतने दिन बीत जाने के बाद जब हमारा देश बहुत कुछ राजनीतिक प्रगति कर चुका है, हमारे लिए उस समय की प्रारंभिक भावनाओं का समझना कुछ कठिन है। वे लोग देश की उन्नति अवश्य चाहते थे, पर उस समय के शासन से अवश्य संतुष्ट थे। उनकी देशभक्ति-संबंधिनी भावनाएँ कुछ इस प्रकार की रहती थीं:—

'अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥"

इस देशभक्ति की भावना के विषय में एक बात और। जब कोई नवीन विषय बुद्धि-क्षेत्र से आगे बढ़ कर भाव-क्षेत्र में पहुँचता है तो वह काव्योपयोगिता को प्राप्त होता है। जब तक विषय विचारात्मक तथा उपदेशात्मक रहता है तब तक वह काव्य के अनुकूल नहीं पड़ता। काव्य की प्रणालियों में अन्य प्रणालियों से कुछ भेद है। काव्य अपने अनुकूल कुछ प्रतीक प्रस्तुत करता है फिर भावों को उद्दीप्त करने की ओर आगे बढ़ता है। मान लीजिए किसी कवि को देशभक्ति का उपदेश देना है। वह इस बात को सीधे ढंग से न कहेगा। वह किसी देशभक्त का गौरव-पूर्ण चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करेगा और हमारे हृदय में स्थित राग-विराग के भावों से क्रीड़ा करता हुआ अपने उद्देश्य को पूर्ण करेगा।

हरिश्चंद्र काल में जो देशभक्ति की कविताएँ हुईं, उनके विषय में यह समझ लेना चाहिए कि उनमें भावनाओं की प्रतीकात्मकता उतनी प्राप्त न हो सकी। वे केवल विचार प्रधान ही रहीं। देश के पश्चात् लोगों का ध्यान इस बात की ओर भी गया कि हमारी आधुनिक अवनति का वास्तविक कारण क्या है? लोग स्वाभाविकतः इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हमारी सामाजिक कुरीतियाँ, बालविवाह, विधवाओं की दुरवस्था तथा शिक्षा का अभाव ही बहुत कुछ हमारी अवस्था के लिए उत्तरदायी है। ये नवीन समाज-सुधार के विचार हमारे काव्य के नवीन विषय हुए। हास्य रस के विधान के लिए भी नवीन आलंबन आने लगे। प्राचीन रूढ़ियों पर आँख बंद कर चलनेवाले अपरिवर्त्तनवादी, अपनी स्थिति को न समझकर विदेशियों का अनुकरण करनेवाले, कुछ चंदा देकर देश-भक्त कहलानेवाले रईस आदि हास्य रस के नवीन विषय हुए। प्राचीन विषयों में भी परिमार्जन की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह परिमार्जन श्रृंगार रस की कविताओं में ही हुआ। भक्ति-रस की कविताओं के अनुकूल न यह समय था न सच्चे भक्तों को सिखाने के लिए नवीन लोगों के पास कोई अनोखी वस्तु थी। श्रृंगार रस की वेदनात्मक व्यंजना उर्दू-साहित्य के संपर्क से प्राप्त हुई। अँगरेजी-साहित्य की मूर्त्तिमत्ता नई वस्तु थी। परंतु इसकी ओर प्रारम्भ में लोगों का ध्यान न जा सका। वेदनात्मक श्रृंगारी रचनाओं में सर्व प्रथम बाबू हरिश्चंद्र ने योग दिया। उस समय के कवियों में पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० अंबिका-दत्त व्यास, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह, राधाकृष्णदास इत्यादि के नाम लिए जा सकते हैं। परंतु इनकी कविताओं की भाषा व्रजभाषा ही रही। इन सब की विशेषताओं का दिग्दर्शन व्रज-काव्य धारा के अंतर्गत हो चुका है। इसके पश्चात् खड़ी बोली के लिए आंदोलन प्रारंभ हुआ। यह आंदोलन पहले तो साधारण ही रहा, पर मध्यकाल में पहुँचकर इसने बहुत ही उग्र रूप धारण किया। इस आंदोलन का कुछ वर्णन यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

इस आंदोलन का परिचय प्राप्त करने के पहले हमें यह जान लेना

चाहिए कि खड़ी बोली को यद्यपि प्राचीन समय में विस्तृत साहित्यिक महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ था, तथापि इसकी रचनाओं का पता हमें उस समय से मिल जाता है जिस समय 'कबीर' हुए थे। ये सब बातें खड़ी बोली की प्रस्तावना में आ चुकी हैं। इंशा अल्ला खाँ की 'कहानी' में जो गाने दिए गए हैं वे खड़ी बोली में ही हैं। एक उदाहरण दिया जाता है:—

"रानी को बहुत सी बेकली थी। कब सूझती कुछ बुरी भली थी।
चुपके चुपके कराहती थी। जीना अपना न चाहती थी॥
कहती थी कभी मदनबान। है आठ पहर मुझे वही ध्यान॥
यों प्यास किसे किसे भला भूख। देखूँ वही फिर हरे हरे रूख॥

इंशा से ४० वर्ष पहिले प्रसिद्ध भावुक मुसलमान कवि नज़ीर अकबराबादी ने कृष्णभक्ति संबंधी कुछ रचनाएँ खड़ी बोली में की थीं:—

याँ कृष्ण मदनमोहन ने जब सब ग्वालों से यह बात कही।
औ आपी से झट गेंद डँडा उस कालीदह में फेंक दई॥
यह लीला है उस नंद ललन मनमोहन जसुमति-दैया की।
रख ध्यान सुनो दंडवत करो, जय बोलो कृष्ण कन्हैया की॥

यद्यपि इस भाषा में साहित्यिक रचनाएँ अधिक परिमाण में नहीं हुई तथापि ग्राम्य-गीतों की परंपरा अवश्य चली आती होगी। मेरठ के आस-पास के गाँवो में स्त्रियाँ घरों में गाने के लिए कुछ न कुछ रचनाएँ अवश्य करती रही होंगी। ऐसे गीतों को आज भी कोई पथिक खड़ी बोली के प्रान्त के किसी ग्राम्य में सुन सकता है। वे गीत कुछ इस प्रकार के होते हैं:—

मुनि कहते जनकपुर होते चलो।
जनकपुरी में धनुष धरा है जरा उसको भी अजमाए चलो। मुनि०।
जनकपुरी में राजा आए जरा उनका भी मान नवाए चलो। मुनि०।
जनकपुरी में सीता रानी जरा उनको भी ब्याहे चलो। मुनि०।

साहित्य में खड़ी बोली के लिए जो आंदोलन प्रारंभ हुआ वह इन ग्राम्य-गीतों की परंपरा से भिन्न प्रकार का था। मुजफ्फरपुर के वा-

अयोध्याप्रसाद खत्री ने संवत् १९४५ में "खड़ी बोली आंदोलन" नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में उन्होंने बड़ी गंभीरता के साथ यह सम्मति प्रकट की कि ब्रजभाषा तथा अवधी की रचनाएं हिन्दी की नहीं हैं। वे भाषाविज्ञान के पंडित नहीं थे अतः उनका यह भ्रम क्षम्य ही है। वे जहाँ जाते थे लोगों से इस पवित्र अनुष्ठान में योग देने को कहते थे। उनके लेखों तथा व्याख्यानों से पंडित प्रतापनारायण मिश्र बहुत खिन्न हो गए और बहुत दिनों तक खड़ी बोली के विरोध में लेख लिखते रहे। उन्होंने 'ब्राह्मण' के लेख में एक बार लिखा था: "जो लालित्य, जो माधुर्य्य, जो लावण्य कवियों की उस स्वतंत्र भाषा में है जो ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी, बैसवारी और अपने ढंग पर लाई गई संस्कृत व फ़ारसी से बन गई है, जिसे चंद्र से लेकर हरिश्चंद्र तक प्रायः सब कवियों ने आदर दिया है, उसका सा अमृतमय चित्तचालक रस खड़ी और बैठी बोलियों में ला सके, यह किसी कवि के बाप की मजाल नहीं।" पर आगे चलकर मिश्र जी के विरोध का यह उग्र रूप न रहा। अपने ब्राह्मण पत्र में ही उन्होंने अंतिम दिनों में अपनी यह सम्मति प्रकट की कि खड़ी बोली में सत्काव्य की रचना हो सकती है।

कानपुर के राय देवीप्रसाद पूर्ण भी खड़ी बोली के विरोधियों में हुए पर हर्ष का विषय है कि आगे चलकर उन्होंने इस बोली में भी सुंदर कविताएँ कीं। एक बार तो उन्होंने लिखा था—"जब तक हिंदी में श्री तुलसी, सूर, केशव आदि कवियों की कविता का आदर है तब तक, और जब तक खड़ी बोली में, उनकी कविता के समान सरस, सुंदर और सर्व-मान्य बृहत्काव्य-कलाप प्रस्तुत होकर जगत् प्रचलित नहीं होता, तब तक पद्य भाषा का न मान घटेगा न खड़ी बोली पद्य में बैठने पावेगी।" आगे चलकर अपने प्रसिद्ध नाटक 'चन्द्रकला भानुकुमार' की भूमिका में अपनी इस सम्मति को कुछ नम्र कर दिया था "मेरा अभिप्राय कदापि नहीं है कि खड़ी बोली में उत्तम कविता हो ही नहीं सकती। जब अँगरेज़ी, फ़ारसी आदि संसार भर की भाषाओं में कवि की शक्ति के अनुसार उत्तम कविता हो सकती है, तो खड़ी हिंदी में भी हो सकती है। किन्तु

अभिप्राय केवल इतना है कि यदि साहित्य-सेवियों का "रैडिकल" दल पद्य-भाषा को पदच्युत करने का साहस न करेगा तो उसकी मातृभाषा पर बड़ी कृपा होगी।"

भाषाओं का यह द्वंद चलता ही रहा। कुछ लोग विरोधी हुए कुछ पक्ष-समर्थक। खड़ी बोली के काव्य-क्षेत्र में स्वीकृत होने की सम्भावना उस समय से बढ़ने लगी जिस समय से ब्रजभाषा के कवियों ने भी इसमें रचना करना प्रारंभ किया। एक प्रश्न छंदों के चुनाव का था। अभी तक ब्रजभाषा कविता में कवित्त, सवैया आदि छंद ही प्रयुक्त होते आते थे। पर इन छंदों के ढाँचे में खड़ी बोली की क्रियाएँ इस विषय में विशेष बाधा उपस्थित करती थीं। दो-दो तीन-तीन शब्दों के प्रयोग से क्रियाएँ बनती हैं, जैसे—जाता है, होकर रहता है आदि। तद्भव शब्दों से 'चलते हैं', 'खाते हैं,' आदि रूप बन सकते हैं परंतु तत्सम शब्दों में करना क्रिया के योग से कार्य चलाना पड़ता है। 'दर्शाते हैं' आदि प्रयोग खड़ी बोली में ग्राह्य नहीं थे। ऐसी और भी अनेक कठिनाइयाँ थी। अब लोगों के सामने केवल दो मार्ग थे; या तो संस्कृत के उन छंदों को अपनाना जिनमें खड़ी बोली की रचनाएँ की जा सकती थीं अथवा लावनी आदि की तर्ज पर गेय गीतों की रचना करना। उर्दू-कविता में खड़ी बोली पहले से मजती चली आती थी। उर्दूवाले फारसी के छंदों का प्रायः उपयोग करते थे। फारसी के छंदों को हिंदी में अपनाना प्रायः लोगों ने उचित नहीं समझा। ऊपर कही हुई तीनों प्रणालियों का प्रयोग प्रायः कवियों ने किया। कुछ लोगों ने उर्दू छंदों में भी रचनाएँ कीं। उन सब का विशेष विवरण आगे के अध्यायों में आवेगा। यहाँ पर केवल उन दो-एक कवियों की चर्चा कर देनी है जो प्रारंभ में ब्रजभाषा में कविता करते थे परन्तु बाद में खड़ी बोली में रचनाएँ करने लगे। ऐसे कवियों में भी एक-आध का वर्णन यहाँ नहीं हो सकता क्योंकि उनकी प्रतिभा का पूर्ण विकास द्विवेदी काल में ही हुआ। यहाँ केवल तीन कवियों के विषय में कहना है। वे पं० श्रीधर पाठक, पं० नाथूराम शंकर शर्मा तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण हैं।

पं० श्रीधर पाठक ने संवत् १९४३ में लावनी की शैली पर 'एकांतवासी योगी' की रचना खड़ी बोली में की। सर्व प्रथम रचना होने पर भी इसकी भाषा बहुत ही मजे हुए रूप में सामने आइ। इसमें ब्रजभाषा का-सा माधुर्य्य है और शब्द भी नित्य के व्यवहार के प्रयुक्त हुए हैं। एक उदाहरणः—

दूर एक जंगल में जिसका नहीं जगत को कुछ भी ध्यान।
बाल्य वयस से बसा हुआ था वृद्ध एक योगी सुज्ञान॥
घास पात था बिस्तर उसका, दीन गुफा सुखवासस्थान।
कंदमूल स्वादिष्ट मिष्टफल, विमल कूपजल भोजन पान॥
जग से अलग अचिंतित निसदिन करे मगन ईश्वर का ध्यान।
एक भजन ही काम उसे, आनंद, सदन, भगवत गुनगान॥

इसके पश्चात् गोल्डस्मिथ के ट्रैवलर (Traveller) का अनुवाद रोला छंद में 'श्रांतपथिक' नाम से निकला। इससे खड़ी बोली को और भी प्रौढ़ता प्राप्त हुई। संस्कृत के शब्दों का प्रयोग इसमें अधिक किया गया है। भाषा नित्य के व्यवहार से कुछ ऊपर उठी हुई है। एक उदाहरणः—

जिस स्वतंत्रता को ब्रिटेनजन इतना लाड़ लड़ाते हैं।
सामाजिक संबंध उसी से खंडित अपने पाते हैं॥
आवेगा एक समय जब कि सौभाग्य-शून्य होकर यह देश।
[illegible] सिकुड़ेगा निज विद्वानों का आवास अशेष॥
मन-तृष्णा का तुच्छ एक सामान्य कुंड बन जावेगा।
शक्ति, धन विज्ञान आदि गौरव भी मान नहीं पावेगा॥
[illegible] हो सकता है यह सब से बढ़कर उद्देश।
[illegible] भार शासन का शक्ति अनुसार अशेष॥

इन पुस्तकों के अतिरिक्त फुटकर रचनाएँ भी पाठक जी ने बहुत सी की हैं। इनके हृदय में प्रकृति के प्रति अनुराग था। प्रकृति-वर्णन की रचनाएँ खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा दोनों की सुंदर हुई हैं। एक उदाहरण:—

विन्ध्य के वन्य, विभाग में एक,
सरोवर स्वच्छ सुहावना है।
कमलों से भरा, भ्रमरों से घिरा,
विटपों से सजा, मन भावना है॥

इन विषयों के अतिरिक्त समाज-सुधार, मातृभाषा, देशभक्ति इत्यादि विषयों पर भी ये रचनाएँ करते थे। ऐसे छंदों में भी रचनाएँ की हैं जिनमें एक वाक्य कई पंक्तियों में समाप्त होता है। एक उदाहरण:—

स्थान-उत्थान के साथ ही चन्द्र मुख
भी समुज्ज्वल लगै था अधिकतर भला।
उस बिमल बिम्ब से अनति ही दूर, उस
समय एक व्योम में विन्दु सा लख पड़ा॥

इनकी भाषा व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध खड़ी बोली नहीं हो पाई। 'दिखाय', 'पावै', 'बिलखै', 'हरसै', 'जावै' इत्यादि प्रयोग इन्होंने बराबर किए हैं। ब्रजभाषा के 'त्यों', 'पै', 'लौं' 'तिहुँ,' 'सों' इत्यादि प्रयोग भी इनकी खड़ी बोली में दर्शन देते रहे। ब्रजभाषा के कुछ प्रयोगों की मिठास तथा उपयोगिता ऐसी है कि खड़ी बोली के कविगण उनके प्रयोग के मोह का संवरण नहीं कर पाते। खड़ी बोली के अनन्य उपासक श्री मैथिलीशरण गुप्त को भी 'साकेत' में ऐसे प्रयोगों का उपयोग करना ही पड़ा।

पं० नाथूरामशंकर शर्मा (संवत् १९१६–१९८८)–ये खड़ी बोली की घोषणा होते ही ब्रजभाषा का मोह छोड़ मैदान में आ डटे। इनके पास शक्ति तथा प्रतिभा दोनों थीं। जैसे बाजीगर के हाथों में लोहे के गोले चक्कर खाते हैं वैसे ही ये शब्दों को उँगली के संकेत से नचाना जानते थे। आर्यसमाजी होने के कारण समाज-सुधार के ये कट्टर पक्षपाती थे। इनकी खड़ी बोली की प्रायः कविताएँ उपदेशात्मक हुई हैं। कविता में प्रत्यक्ष उपदेश देना भाव-क्षेत्र से बाहर जाना है। काव्य में कवि उपदेशक बन के नहीं आ सकता। उपदेश लेने के लिए पाठक कवियों के पास नहीं जाते। यह बात दूसरी है कि पाठक को कुछ

भावों में मग्न कर अप्रत्यक्ष रूप से कुछ शिक्षा दी जाय। शंकर जी की कविताओं में हम उन्हें प्रायः उपदेशक के ही रूप में पाते हैं। जब उपदेश देना छोड़ कर वे साधारण भावुक कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं तो हमें उनकी रचनाओं में बहुत कुछ सरसता मिलती है। इनकी भाषा में एक प्रकार का अक्खड़पन मिलता है। 'भबके' (भभकता है), 'लगे' (लगने पर), 'घूमे' (घूमता है), वहे (बहता है) इत्यादि प्रयोग उनकी कविता में प्रायः मिलते हैं। कुछ लोग ऐसे प्रयोगों को अशुद्ध मानते हैं। परंतु खड़ी बोली की जन्मभूमि में ऐसे रूप प्रायः व्यवहृत होते हैं। ऐसी अवस्था में इन्हें स्थान देने में कोई दोष नहीं प्रतीत होता। नीचे की पंक्तियों में ऐसे ही रूपों का प्रयोग इन्होंने किया है:—

दीपक-ज्योति जहाँ जगती है।
चमक चंचला-सी लगती है॥
व्याकुल हम न वहाँ जाते हैं।
जाकर क्या कुछ कर पाते हैं॥
ग्राम ग्राम प्रत्येक नगर में।
घूमे घोर ताप घर-घर में॥
रुद्र-रोष दिनकर के मारे।
तड़प रहे नारी नर सारे॥

कुछ प्रांतीय शब्दों का प्रयोग भी इन्होंने किया है। अप्रचलित प्रांतीय शब्दों के प्रयोग से भाषा में एक प्रकार की अस्पष्टता-सी आ जाती है। शंकर जी ने इसका विचार नहीं किया। उदाहरण के लिए इनके बिजार (साँड) आदि शब्द हैं। इनकी शृंगारी कविताएँ इस प्रकार की होती थीं:—

तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मंगल मयंक मंद मंद पड़ जायँगे।
मीन बिन मारे मर जायँगे सरोवर में,
डूब डूब 'संकर' सरोज सड़ जायँगे॥

चौंक चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायँगे।
बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायँगे॥

* * *

आँख से न आँख लड़ जाय इसी कारण से,
भिन्नता की भीत करतार ने लगाई है।
नाक में निवास करने को कुटी शंकर की,
छबि ने छपाकर की छाती पै छवाई है॥
कौन मान लेगा कीर तुण्ड की कठोरता में,
कोमलता तिल के प्रसून की समाई है।
सैकड़ों नकीले कवि खोज खोज हारे पर,
ऐसी नासिका की और उपमा न पाई है॥

इनकी अतिशयोक्तियाँ भी आकाश-पाताल एक करनेवाली होती थीं। विषय के मार्मिक पक्ष को ग्रहण करने की ओर इनका उतना ध्यान ही न रहता था। इसी लिए इनकी रचनाओं में करामाती बातें अधिक मिलती हैं। एक अतिशयोक्ति देखिए :—

'शंकर' नदी नद नदीसन के नीरन की,
भाप बन अंबर ते ऊँची चढ़ जायगी।
दोनों ध्रुव छोरन लौं पल में पिघल कर,
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी।
झारेंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति,
जारेंगे खमंडल में आग मढ़ जायगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचेगी नाहिं,
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायगी॥

राय देवीप्रसाद पूर्ण—इनके विषय वे ही थे जो इनकी ब्रजभाषा की रचनाओं में रहे; अर्थात् भक्ति, वेदांत, देशभक्ति स्वदेशी, मातृभाषा, राजभक्ति, प्रकृति-वर्णन इत्यादि। इनकी प्रकृति-वर्णन की रचनाओं में से दो उदाहरण :—

हिलते थे वृक्षों के पल्लव रुचिर अधीर,
लगती थी आगत सरीर में सुखद समीर।
मानो करके कर सहस्र निज, सेवा आतुर चातुर बाग,
व्यजन क्रिया से मनरंजन कर व्यंजन करता था अनुराग।

* * *

तरु शाखाएँ फल फूलों का पाकर भार,
झुक झुक भूमि छुए लेती थीं बारंबार।
मानो उस उपवन के किंकर समझ अतिथि सेवा की नीति,
रखते थे फल-फूल सामने निज पवित्र उपहार सप्रीति।

देश के उद्धार के लिए भी ये चिन्तित रहते थे। इसके लिए स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार आवश्यक समझते थे। इनकी दृष्टि इन विषयों को बहुत दूर तक देखती थी। उन दिनों में भी स्वदेशी के महत्व को बहुत दूर तक इन्होंने समझा था। स्वदेशी वस्त्र के व्यवहार के लिए ये सदा उद्योगशील रहे। देखिए:—

गाढ़ा झीना जो मिलै उसकी ही पोशाक,
कीजै अंगीकार तो रहै देश की नाक।
रहै देश की नाक स्वदेशी कपड़े पहने,
हैं ऐसे ही लोग देश के सच्चे गहने।
जिन्हैं नहीं दरकार चिकन योरप का काढ़ा,
तन ढकने से काम गजी होवै या गाढ़ा।

देशोद्धार के साथ-साथ राजभक्ति भी ये आवश्यक समझते थे। इसका वर्णन इन्होंने स्वदेशी कुंडल की इन पंक्तियों में किया है:—

परमेश्वर की भक्ति है मुख्य मनुज का धर्म;
राजभक्ति भी चाहिए सच्ची सहित सुकर्म।
सच्ची सहित सुकर्म देश की भक्ति चाहिए;
पूर्ण भक्ति के लिए पूर्ण आसक्ति चाहिए।
नहिं जो पूर्णासक्ति वृथा है शोर चढ़े स्वर,
है जो पूर्णासक्ति सहायक है परमेश्वर।

खड़ी बोली

मध्य-काल

(संवत् १९६०-१९७५)

गद्य

भारतेंदु काल को साहित्यिक प्रवृत्तियाँ क्रमशः अपना काम करती रहीं। धीरे-धीरे भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के प्रभाव से हमारे साहित्य में परिवर्तन होने लगे। प्रारंभ में लेखकों का उद्देश्य हिंदी-साहित्य का स्वतंत्र अस्तित्व प्रतिपादन करना तथा बहुसंख्यक जनता को अपने साहित्य की ओर उन्मुख करना ही था। उन प्रारंभिक लेखकों के हाथों से भाषा की अभिव्यंजन शक्ति की उन्नति हुई। परंतु उस समय प्रायः लेखकों में प्रांतीय प्रयोगों का आधिक्य तथा व्याकरण के अनुशासन के प्रति उपेक्षा लक्षित होती थी। शांत चित्त होकर सोचने-विचारने का वह समय ही नहीं था, वह उत्साह का समय था। उमंग में भरे हुए लेखक अपनी प्रतिभा के बल साहित्य-रचना में योग दे रहे थे। समाचारपत्रों के प्रकाशन ने भाषा में कुछ-कुछ एकरूपता भी आने लगी थी।

इसके पश्चात् कुछ परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हुईं जो यदि अबाध गति से अपना काम करने पातीं तो भाषा के स्वरूप ही को छिन्न भिन्न कर देतीं। अँगरेजी का अध्ययन करनेवाले धीरे-धीरे मातृभाषा की ओर आ रहे थे। ये लोग अपनी भाषा की प्रकृति से परिचित नहीं थे। ऐसी अवस्था में इनकी भाषा में विदेशीपन अधिक रहता था। एक भाषा के मुहावरों तथा लाक्षणिक प्रयोगों का अनुवाद दूसरी भाषा में अक्षरशः नहीं किया जा सकता। परंतु इन नवीन लोगों का ध्यान इस बात की ओर कम रहता था; और ये अँगरेजी आदि भाषाओं के प्रयोगों का अनुवाद अक्षरशः कर दिया करते थे। दूसरी ओर बँगला आदि भाषाओं से अनुवाद करनेवालों की ओर से भी कुछ ऐसे ही आशंका-जनक प्रयत्न हो रहे थे। बँगला आदि

भाषाएँ हमारी भाषा से बहुत कुछ मिलती जुलती अवश्य हैं परंतु फिर प्रत्येक भाषा की अपनी निजी विशेषता होती ही है। बँगला के प्रयोगों को भी लोग अपनी भाषा की विशेषता का ध्यान बिना रखे हुए लाने लगे थे। बंग-साहित्य के परिचय से एक लाभ भी हुआ। संस्कृत की कोमल-कांत-पदावली का व्यवहार हमारी भाषा में बंग-साहित्य के परिचय से ही प्रारंभ हुआ। यह तो शब्दों तथा मुहावरों के प्रयोग की बात हुई।

वाक्यों की शिथिलता तथा व्याकरण की उपेक्षा पहले ही से चली आ रही थी और इन नवीन लेखकों के कारण इस उपेक्षा में और भी वृद्धि हुई। भाषा की प्रकृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए इसका नियंत्रण करना अत्यन्त आवश्यक था। यह कार्य पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने संपादित किया। काशी नागरीप्रचारिणी की संरक्षता में 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन संवत् १९५६ में प्रारंभ हुआ। प्रारंभ में बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० किशोरीलाल गोस्वामी आदि इसका संपादन करते थे। संवत् १९६० से यह कार्य द्विवेदी जी के हाथों में आया। उन्होंने भाषा की 'अनस्थिरता' दूर करने के लिए घोर प्रयत्न किया। बहुत से लेखक उनसे अप्रसन्न भी हुए और कुछ दिनों तक अनेक पत्रों में इस विषय पर विवाद चलता रहा।

इसी के साथ-साथ विभक्तियों के प्रयोग का प्रश्न उठा। सबसे पहले पंडित सखाराम गणेश देउस्कर ने विभक्ति का प्रश्न उठाया। इसी संबंध में हितवार्ता पत्रिका में पंडित गोविंदनारायण मिश्र जी ने एक पांडित्य-पूर्ण लेखमाला निकाली। यही संग्रहीत होकर विभक्ति-विचार नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। मिश्र जी ने अपना यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि हिंदी की विभक्तियों को संस्कृत के अनुसार शब्दों के साथ लिखना चाहिए। द्विवेदी जी इसके पक्ष में नहीं थे। इस विषय पर भी बहुत दिनों तक पत्र-पत्रिकाओं में विवाद चलता रहा। हिंदी-साहित्य-सेवी दो दलों में विभक्त हो गए। कलकत्ते के पत्र-संपादकों पर मिश्र जी का प्रभाव पड़ा। अन्य लोग द्विवेदी जी के अनुसार विभक्तियों को शब्दों

से अलग ही लिखते रहे। परंतु इस विरोध के कारण द्विवेदी जी तथा मिश्र जी के बीच कोई मनोमालिन्य उत्पन्न न हुआ। जब द्विवेदी जी के ऊपर आत्माराम नाम से बाबू बालमुकुंद गुप्त ने आक्षेप किए तो पंडित गोविंदनारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टेंटें' नामक लेख में उन आक्षेपों का उत्तर बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से दिया। इस प्रकार भाषा का नियंत्रण प्रारंभ हो गया। नवीन लेखकों को अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। विषयों की दृष्टि से भी भाषा का विकास हो चला। गंभीर तथा सूक्ष्म भावों को प्रकट करनेवाली तथा भिन्न-भिन्न भावों का चित्रण करनेवाली अभिव्यञ्जन शक्ति भी भाषा में आने लगी। इस काल के गद्य-साहित्य का विवेचन चार भागों में करने से अधिक सुविधा होगी।

सबसे प्रथम हम निबंधों को लेते हैं। निबंधों की विषयों के अनुसार अनेक प्रणालियाँ हो सकती हैं। कुछ में विचारों का बाहुल्य तथा तथ्यातथ्य विवेचन का आधिक्य रहता है। ऐसे निबंधों को हम विचारात्मक कह सकते हैं। कुछ निबंधों में लेखक का लक्ष्य भावोद्रेक करना तथा रस-संचार करना होता है। ऐसे निबंधों को हम भावात्मक कह सकते हैं। पर यह बात नहीं कि विचारात्मक निबधों में भाव आते ही नहीं अथवा भावात्मक निबंधों में विचार-शृंखला का अभाव रहता है। भावों तथा विचारों में से किसी एक का आधिक्य होने से हम लेख को भावात्मक अथवा विचारात्मक कह लेते हैं पर वास्तव में बुद्धि तथा हृदय दोनों की सहायता से लेखों की सृष्टि होती है और उनमें भाव तथा विचार दोनों ही रहते हैं। इन दोनों भेदों के अतिरिक्त निबंधों का एक और भेद कुछ लोग भी मानते हैं। इसका नाम वर्णनात्मक निबंध दिया जाता है। जब लेखक का उद्देश्य न तो विचारों को प्रभावित करना रहता है और न भावोद्रेक करना तब इस प्रकार के लेखों की सृष्टि होती है। यात्रा इत्यादि के वर्णन इसी तीसरे भेद के अंतर्गत आ सकते हैं। ये तीन भेद विषयों के अनुसार हुए। इनके अतिरिक्त विचारों तथा भावों को प्रकट करने की भिन्न-भिन्न शैलियों के अनुसार भी अनेक

भेदोपभेद किए जा सकते हैं। निबंधों की जो परंपरा भारतेंदु जी के समय से चली उसमें भावात्मक लेखों का ही आधिक्य रहा। ज्ञान-वृद्धि के लिए ऊँचे-ऊँचे विषयों पर निबंध लिखने की प्रणाली सरस्वती पत्रिका के साथ ही प्रारंभ हुई। इस समय के मुख्य-मुख्य निबंध-लेखकों की विशेषताओं का वर्णन यहाँ प्रासंगिक ही होगा।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी—इनके लिए उच्च कोटि के साहित्य प्रस्तुत करने का अवसर न था। इनका काम अपने पाठकों को नवीन-नवीन विषयों से परिचित कराना था। अँगरेजी-साहित्य के विद्वानों में सरलतापूर्वक किसी विषय का प्रतिपादित कराना सम्मान का कार्य समझा जाता है। भाषा को अनावश्यक जटिल बनाना तथा बात को घुमा-फिरा कर कहना बहुत प्रशंसनीय नहीं समझा जाता। द्विवेदी जी में हम यही विशेषता पाते हैं। वे जिस विषय को लेते थे उसको ऐसी सुंदर प्रणाली में अपने पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते थे कि उस विषय का हृदयंगम करना प्रायः सुलभ तथा सुकर हो जाता था। ऐसा करने में उनको शब्दों के अनावश्यक विस्तार तथा पुनरुक्ति आदि की शरण नहीं लेनी पड़ती थी। जिस प्रकार किसी विषय का प्रकांड पंडित सूक्ष्म तथा गंभीर बातों को थोड़े से सरल शब्दों में समझा देता है उसी प्रकार द्विवेदी जी करते थे। इनकी भाषा को पढ़ते समय कभी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि इन्हें शब्दों की कमी पड़ी हो अथवा प्रदर्शन की अभिलाषा की पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्दों का प्रयोग हुआ हो। वे लिखते समय बड़े आत्म-संयम से काम लेते थे और भाषा उनके संकेतों पर भावों को व्यक्त करती हुई चलती है। इसमें संदेह नहीं कि इनके अधिक निबंध विचारात्मक कोटि ही में आवेंगे; पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि भावात्मक निबंध इन्होंने लिखे ही नहीं। भावात्मक निबंधों से यदि गद्य-काव्य का तात्पर्य हो तो यह अवश्य कहना होगा कि इनके लेख भावात्मक नहीं, पर यदि भावों से तात्पर्य वही हो जो साधारणतः समझा जाता है तो भावात्मक कोटि के निबंध भी द्विवेदी जी के द्वारा बहुत बड़ी संख्या में लिखे गए। वे न तो कठोर तत्समता की ओर झुकते थे न विदेशी शब्दों के पूर्ण

बहिष्कार की ओर। जो शब्द हमारी भाषा में पहले से प्रयुक्त होते आते थे उनका बहिष्कार करना इन्होंने उचित नहीं समझा। गंभीर विषयों पर लिखते समय इनकी भाषा संस्कृत की तत्समता की ओर कुछ अधिक झुकती हुई प्रतीत होती थी। इसका कारण यह था कि गंभीर तथा सूक्ष्म विषयों का प्रतिपादन साधारणतः लोक में प्रसिद्ध भाषा के द्वारा हो ही नहीं सकता। इन गंभीर विषयों पर लिखते समय भी इनकी भाषा में प्रायः छोटे-छोटे वाक्यों का ही प्रयोग होता था। इस प्रकार की भाषा का एक उदाहरण—

"जीवन और मृत्यु के संबंध की पर्वोक्त बातें जड़-विज्ञानियों की ही कहीं हुई हैं। माता, पिता से जन्म लेकर आहार आदि के द्वारा शरीर को पुष्ट करना और अंत में अपने जीवन का प्रवाह अपनी संतान की देह में डालकर मर जाना उद्भिद् और अन्यान्य प्राणियों के जीवन का लक्ष्य हो सकता है। पर मनुष्य जीवन का वह लक्ष्य नहीं। मनुष्य बहुत बड़ी बुद्धि का अधिकारी होकर जन्म लेता है। उसको वंश की रक्षा का प्रयोजन बहुत कम है। इस दशा में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रकृति देवी ने अपने हाथ से जो शक्ति मनुष्य के शरीर में निहित की है उसका उपयोग अन्यान्य प्रयोजनों की सिद्धि के लिए आवश्यक है। जो हो, इस कठिन दार्शनिक विचार की आलोचना करना इस लेख के लेखक की शक्ति के बाहर का काम है। हमारा आलोच्य विषय यहाँ 'मृत्यु' है। मृत्यु की तरह कठोर सत्य, मालूम होता है, संसार मे दूसरा नहीं।"

सर्वसाधारण से संबंध रखनेवाले विषयों पर लिखते समय वे संस्कृत के शब्दों का प्रयोग कुछ कम करते थे। फिर भी प्रायः संस्कृत की ओर उनका कुछ झुकाव रहता ही था। वाक्य यहाँ भी छोटे-छोटे ही होते हैं। उनकी इस प्रकार की भाषा का एक उदाहरण:—

"इलियड नामक महाकाव्य का कर्ता होमर ग्रीस देश का निवासी था। उस समय ग्रीस अनेक छोटी-छोटी रियासतों में बँटा हुआ था। होमर बेचारा अंधा था। वह अपने काव्य के पद गा गा कर सभी रियासतों म भीख माँगता फिरता था। उस समय तो उसकी कदर न हुई। पर जब वह मर गया और उसके काव्य का महत्त्व लोगों ने समझा, तब एक ही साथ कितनी ही रियासतें उसकी जन्म-भूमि

होने का दावा करने लगीं। प्रमाण माँगा गया तो सभी ने उत्तर दिया—"क्या तुम नहीं जानते, होमर ने इसी रियासत में अपनी कविता गाई थी ?" तब तो उसे किसी ने न अपनाया। बेचारा होमर माँगता-खाता ही मर गया।"

द्विवेदी जी का महत्त्व एक शैलीकार के रूप में उतना नहीं है जितना शुद्ध भाषा प्रणाली की स्थापना करने में। अपने समय के सब लेखकों पर उनका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। व्याकरण के अनुशासन को मानती हुई भाषा का प्रवाह जो आज तक चल रहा है उसका श्रेय द्विवेदी जी को ही है। सरस्वती पत्रिका के द्वारा उन्होंने मातृभाषा की अपूर्व सेवा की। अनेक लेखकों को उत्साहित कर साहित्य-क्षेत्र में कुछ कर दिखाने योग्य बनाया। स्वयं पांडित्य-प्रदर्शन की रुचि से प्रभावित होकर उन्होंने कभी कुछ नहीं लिखा। हिंदी भाषा-भाषियों की ज्ञानवृद्धि के लिए ही वे सदा प्रयत्नशील रहे।

पंडित गोविंदनारायण मिश्र—ये शैली की दृष्टि से द्विवेदी जी से एक दम विपरीत प्रकार के लेखक थे। संस्कृत साहित्य के उच्चकोटि के पंडित थे और पांडित्य-प्रदर्शन के लोभ का संवरण करना आवश्यक नहीं समझते थे। उच्चकोटि के विषयों का प्रतिपादन करते समय भाषा साधारण सतह से स्वयं कुछ ऊपर उठ जाती है। मिश्र जी साधारण विषयों को भी उच्चकोटि की भाषा के द्वारा अभिव्यंजित करना उचित समझते थे। अपने भावों को प्रकट कर देना मात्र उनका लक्ष्य न था। वे भाषा को एक कला के रूप में ग्रहण करनेवालों में थे। थोड़े से स्पष्ट शब्दों के द्वारा व्यक्त की जानेवाली बातें भी उनके द्वारा शब्द-जाल की भूलभुलैया में डाल दी जाती थीं और उन तक पहुँचने के प्रयत्न में पाठक अपने को भी खो बैठता है। शब्दमैत्री के विचार से परस्पर ध्वनि का अनुकरण करते हुए एक के बाद दूसरे शब्द पाठक के सामने आते जाते हैं। पाठक इतना चमत्कृत हो जाता है कि वह प्रतिपाद्य विषय की ओर देख नहीं सकता। ऐसे लेखकों का उद्देश्य ही अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना मात्र ही होता है। इनकी इस प्रकार की भाषा का प्रयोग इनके कवि और चित्रकार नामक निबंध में हुआ है। एक उदाहरण:—

"इस लिए ही बंधमोक्ष भुक्ति मुक्तिके विधाता परम चंचलचूड़ामन मनके अति सूक्ष्म विमल विशद विस्तृत विचित्र कोमल से कोमल अछूते अदृश्य अनंत आधार फलक पर ही अनेक वर्णविन्यासके सुहाती जब बिचारो उचारो तब ही सब नव नव नित अगनित अभिनव अनूठे भाव रसरंग संग संग दरशाती रँगराती, चुहचुहाती, फबते अलंकारों से नखसिख सुहाती सुधासे सरस रस रसीली, साज सुंदर सुभाव सजीली एक से एक अधिक रँगोली रूप गरबीली अनुपम सलोनी उस माधुरी रूप छबिको कवि, सुरसिक प्रवीन विज्ञ रसज्ञोंके विशेष रसज्ञ मर्मज्ञ मनसे संयोग होते ही बातकी बात वा आनन फाननमें अकथनीय कमनीयता चातुरी अलौकिक हस्त-लघुता निपुणता और अप्रतिम प्रतिभासे सदा अमिट चित्र विचित्र वर्णविन्यास रंगीले चटकीले स्थायी रूपसे सांगोपांग सर्वांग सुंदर विचित्र कर दिया करते हैं।"

संभवतः ऐसा गद्य लिखते समय बाण और दण्डी का आदर्श इनके सम्मुख रहता था। संस्कृत-साहित्य में व्यवहारोपयोगी गद्य का विकास कभी नहीं हुआ। दशकुमारचरित्र, कादम्बरी इत्यादि का गद्य, पद्य-सा ही हो गया है। इन पुस्तकों में भी शब्दों के प्रयोगों का कुछ स्थानीय महत्त्व अवश्य है। यो ही एक के बाद दूसरे शब्द को भिड़ाते हुए बाणभट्ट नहीं चले गए। मिश्र जी ने यदि संस्कृत के अनुकरण पर भी गद्य लिखा होता तो इस प्रकार की निरर्थक पदावली हम उनकी भाषा में न पाते। परंतु अपनी सब पुस्तकों में उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं किया है। जब वे तथ्यातथ्य विवेचन करने के लिए लिखते थे तो उनकी भाषा में इस प्रकार का शब्दाडंबर उतना नहीं मिलता था। संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य वहाँ भी रहता था। विभक्ति-विचार इत्यादि पुस्तकों में उनकी भाषा बहुत कुछ व्यवहारोपयोगी हो गई है। उनकी इस प्रकार की भाषा का एक उदाहरण 'आत्माराम की टेंटें' नामक निबंध से दिया जाता है:—

"जब तक इस श्रेणीके मनुष्य मौनावलम्बन पूर्वक शान्त चित्तसे विशेषज्ञोंको विचार में प्रवृत्त होनेका कृपापूर्वक अवसर न दें अथवा जब तक उपयुक्त चिकित्सासे इनका मुख स्तंभन न किया जाय तब तक परिणाम अच्छा नहीं दीखता

है। यथार्थ अधिकारी अभिज्ञ, मर्म्मज्ञ और हिन्दीके विशेषज्ञ ही हिन्दी व्याकरण का विचार करने में समर्थ हैं। हिन्दी भाषाका संरक्षण और व्याकरणादिकी त्रुटिका छिद्र सर्वथा उनके अधिकारमें ही छोड़ देना उचित है। अवश्य इस ओर इनके चित्ताकर्षण करनेका अधिकार सबको समभावसे है।"

अपनी इस प्रकार की भाषा में भी वे परिचित की जगह सुपरिचित, आरंभ की जगह प्रारंभ लिखना ही अधिक उचित समझते थे। ऐसी भाषा जनसाधारण के लाभ के लिए लिखे गए विषयों के उपयुक्त कदापि नहीं हो सकती और न यह हिंदी की स्वतंत्र शैली कहलाने योग्य हो सकती है; क्योंकि इसके लेखक के लिए सदा इस बात की आवश्यकता रहती है कि वह अपना पोषण संस्कृत के कोशों से करता चले।

बाबू बालमुकुंद गुप्त—ये उर्दू-साहित्य से परिचित थे। केवल परिचित ही नहीं, उर्दू-साहित्य में सुलेखक के नाम से भी प्रसिद्ध हो चुके थे। यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि उर्दू में गद्य-शैली का बहुत ही परिष्कृत तथा चमत्कारपूर्ण विकास हो चुका था। इसका कारण यही था कि उर्दू-भाषा उस समय के शिष्ट समाज की भाषा रह चुकी थी। गद्य की भाषा के लिए यह परम आवश्यक है कि उसे कोई ऐसा क्षेत्र मिले जहाँ वह सम्भाषण मे व्यवहृत हो। इसी कारण उर्दू में स्वाभाविकता मिलती है। हिंदी के प्रायः गद्य-लेखक ऐसी भाषा में लिखने बैठते थे जो उसी रूप में कहीं भी प्रयुक्त नहीं होती थी। इसी कारण उस समय के उर्दू-साहित्य से अपरिचित कुछ हिंदी लेखकों में कृत्रिमता-सी मिलती है। जो जो लेखक उर्दू-साहित्य की ओर से हिंदी क्षेत्र की ओर आए उनकी भाषा में हम एक सलक्ष्य विशेषता पाते हैं। गुप्त जी ऐसे ही लेखकों में हैं। इनकी भाषा में एक संयत चुलबुलापन मिलता है। परिहास का पुट भी साथ मिला रहता है। पर यह परिहास शिष्टता की सीमा से कभी बाहर नहीं जाता। एक मीठी-सी चुटकी का आनंद उसमें मिलता है। गुप्त जी सामयिक विषयों पर कलकत्ता के 'भारतमित्र' में लिखा करते थे। ये लेख 'शिवशंभु' के कल्पित नाम से निकला करते थे। एक-आध लेख 'नवाब साइस्ता खाँ'

के नाम से निकले थे। लार्ड कर्जन के कर्यकलापों की भारतीय ढंग से बहुत ही सुंदर समालोचना आपने की। इनकी भाषा का एक उदाहरण दिया जाता है:—

"नारंगी के रस में जाफरानी, बसन्ती बूटी छान कर शिवशंभू शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनंद ले रहे थे। खयाली घोड़ों की बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानें जकन्दें भर रहा था। हाथ पावों को भी स्वाधीनता दी गई थी। वह खटिया के तूल अरज की सीमा उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्मा जी का शरीर खटिया पर था और खयाल दूसरी दुनिया में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया। कन-रसिया शिवशंभू खटिया पर उठ बैठे। कान लगाकर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बराबर अमृत ढालने लगा।"

पंडित माधवप्रसाद मिश्र—ये सुदर्शन पत्र के संपादक थे। इन्होंने भी एक परिष्कृत गद्य की प्रस्तावना की थी। इनके लेख इसी पत्र में निकला करते थे। इनके अतिरिक्त स्वामी विशुद्धानंद का जीवन चरित्र भी 'विशुद्ध-चरितावली' नाम से इन्होंने लिखा था। इनकी भाषा बहुत ही गंभीर तथा शांत थी। विषय-प्रतिपादन में समर्थ होने-वाली समुचित पदावली का प्रयोग करना आपकी विशेपता थी। भाषा की सांकेतिक शक्ति को आप अच्छी तरह पहचानते थे। आप जिन-जिन भावों का उद्रेक करना चाहते थे उन्हीं के उपयुक्त भाषा का प्रयोग करते थे। उर्दू का आश्रय न ग्रहण कर स्वतंत्र ढंग से उस चमत्कृत-शैली की स्थापना करनेवाले थे जिसका चमत्कार पाठकों की केवल छिछली मनोवृत्तियों को तुष्ट नहीं करता किंतु उनके अंतस्तल में निहित भावधाराओं को स्पर्श कर उनमें एक आंदोलन उत्पन्न कर देता है। दुःख है कि ऐसी सुंदर भाषा लिखनेवाले मिश्र जी हमारी भाषा का कार्य बहुत दिनों तक न कर सके। इनकी भाषा के दो उदाहरण दिए जाते हैं:—

"महावीर शिवाजी की जन्मभूमि वह परिश्रम लब्ध स्वतंत्रता और स्वाधीन सुख को 'जलांजली' दे रही थी और एक आंखवाले वीर के भरोसे वेद प्रसिद्ध पंचनद देश की पुण्यभूमि, काबुल कन्दहार स्थित म्लेच्छों के पाषाण हृदय पर

लोह लेखनी से अपना अंतिम विजय पत्र लिख रही थी। दक्षिण के वीर जिनसे सब अभयदान की प्रार्थना किया करते अब समय के फेर से विदेशियों से प्राण भिक्षा मांग रहे थे और हमारे प्रतापी अंग्रेज बहादुर, सिक्खों की सहायता से दुराचारी अकबरखाँ के अत्याचार का स्मरण कर काबुल में अफगानों का दर्प दलन कर रहे थे।"

यह वही स्थान है, जहाँ सर्व प्रथम कविता का जन्म हुआ था, यहीं हिन्दुओं के, नहीं नहीं—संपूर्ण जगत् के परमोत्तम काव्य रामायण की उत्पत्ति हुई थी। यह वही स्थल है, जहां एक दिन महर्षि मनु ने आर्यावर्त की पवित्र सीमा निर्धारित की थी। इसी स्थल पर रोती हुई अन्तःसत्वा पतिप्राणा जनकनन्दिनी को दासरथी की आज्ञा से लक्ष्मण छोड़कर गए थे। यहीं के वृक्ष एक दिन लौकुश के समान जनक दुलारी के द्वारा पालित और परिवर्द्धित हुए थे।"

पंडित रामचंद्र शुक्ल—ये हिंदी के उन पुराने लेखकों में थे जो जीवन-पर्यंत साहित्य-सेवा करते रहे हैं। मिर्जापुर से 'प्रेमघनजी' के संपादकत्व में आनंदकादंबिनी नाम की जो पत्रिका निकलती थी उसमें आपके प्रारंभिक लेख देखे जा सकते हैं। क्रमशः आपकी शैली में गंभीरता तथा प्रौढ़ता आती गई। प्रारंभिक लेख भी आपकी शैली के अनुरूप ही होते थे। आप उर्दू, अँगरेजी इत्यादि साहित्यों का विस्तृत परिचय रखते हुए भी हिंदी की स्वतंत्र भाषा-व्यंजन शक्ति के पक्षपाती थे और उसी के अनुरूप आपकी भाषा है। संस्कृत-पदावली की ओर अधिक झुकाव है जो गंभीर विषयों का प्रतिपादन करते समय और अधिक हो जाता है। परंतु कभी भी पांडित्य-प्रदर्शन की वृत्ति से प्रेरित होकर नहीं लिखा। भाषा में जब-जब गंभीरता आती है तो प्रतिपाद्य विषय की अनिवार्य आवश्यकता की दृष्टि में रखकर ही। चमत्कार-प्रदर्शन की छिछली रुचि इनकी शैली में नहीं मिलती। शब्दों का प्रयोग बहुत ही नपा-तुला होता है। एक शब्द भी आवश्यकता के बिना नहीं आने पाता। मुहावरों इत्यादि का प्रयोग भी इन्होंने बहुत किया है। अँगरेजी में एक प्रकार की लाक्षणिकता होती है जो शब्दों के प्रयोग पर निर्भर न रहकर संपूर्ण वाक्य के संगठन पर आश्रित रहती है। इस लाक्षणिकता का प्रयोग वाच्यार्थ में सहायता देने के लिए नहीं होता

किंतु भावों को एक विशेष वक्रता से प्रकट करने में इसका उपयोग होता है। इस प्रणाली की अनेक शैलियाँ अँगरेजी-साहित्य में प्रचलित हैं। संस्कृत की विपरीत लक्षणा भी इसके अंतर्गत आ जाती है। इस प्रकार की लाक्षणिकता का प्रयोग शुक्ल जी की भाषा में प्रायः मिलता है। इन सब नवीनताओं की योजना करने से हमारी भाषा की शक्ति बढ़ रही है। भाव-क्षेत्र में असंबद्ध रूप से छितराई हुई बातों का एक सूत्र-रूप केन्द्र स्थापित कर इतर भावों को एक लड़ी में पिरोने की कला शुक्ल जी की विशेषता है। इनके निबंधों में हम कभी-कभी देखते हैं कि प्रारंभिक वाक्यों में भाव केन्द्र की स्थापना होने के बाद उसकी विस्तृत व्याख्या की जाती है। शुक्ल जी में संपूर्ण प्रतिपाद्य विषय का निचोड़ कुछ ठोस बातों में कह देने की कला अद्भुत है। जटिल से जटिल विषयों का प्रतिपादन करते समय भी वाक्यों तथा उपवाक्यों का गठन इतना व्यवस्थित तथा व्याकरणानुकूल होता है कि विचारधारा विच्छृंखलित नहीं होने पाती। जैसे निर्मल जल के सोते में नीचे का पृथ्वीतल स्पष्ट झलकता हुआ दिखाई पड़ता है वैसे ही इनकी भाषा में इनका हृदय स्पष्ट लक्षित होता है। जिन-जिन भावों में अपने पाठकों को मग्न करने का लक्ष्य होता है उनमें मग्न करने में पूरी तरह सफल होते हैं। यह भापा के प्रयोग की परम सार्थकता है। इन्होंने गंभीर से गंभीर विपयों के प्रवाह के अंतर्गत शुष्कता अथवा जटिल अस्पष्टता नहीं आने दी। बीच-बीच में शिष्ट तथा मार्मिक परिहास का योग करते चले हैं जिससे पाठक यद्यपि खुलकर लिख नहीं उठता पर उसका संपूर्ण अंतस्तल एक स्निग्ध गुदगुदी का अनुभव करने लगता है। ऐसे स्थानों पर इन्होंने फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग किया है। व्यंग का भी आपने अच्छा योग किया है। इस व्यंग का जो आलंबन होता है उस पर आप इतनी जोर से प्रहार करते हैं कि उसका 'खटाका' पाठकों को स्पष्ट सुनाई पड़ता है। आपकी भाषा में वैयक्तिकता है। वह स्पष्ट पुकार कर कह देती है कि मैं शुक्ल जी की हूँ। अँगरजी में शब्दों को विशिष्टता लाने के लिए कभी-कभी वक्र (Twist) कर देते हैं। ऐसा करने

से भाषा में एक सौष्ठव आ जाता है। यह विशेषता शुक्ल जी की भाषा में भी मिलती है। सूक्ष्म मनोभावों से संबंध रखनेवाले विषयों पर निबंध लिखने की प्रणाली शुक्ल जी ने ही चलाई। परंतु यह प्रणाली ऐसी नहीं है जिसका अनुकरण सब लोग यों ही कर लें। आलोचना के उपयुक्त पदावली के प्रचार करने का श्रेय भी शुक्ल जी को ही प्राप्त है। आजकल के प्रायः आलोचनात्मक निबंधों में शुक्ल जी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। शुक्ल जी उन उच्चकोटि के लेखकों में थे जिनके हाथों में पड़ भाषा गौरवान्वित होती है। साधारण विषयों पर लिखते समय शुक्ल जी की भाषा लोक में प्रचलित पदावली को लेती हुई चलती है। प्राचीन पारस के संक्षिप्त इतिहास में आपने ऐसी सरल सुपरिचित भाषा का प्रयोग किया है:—

"क्रूस के छिन जाने पर ईसाइयों में बड़ी खलबली मची, रोमन सम्राट हिराक्लियस पराजय की लज्जा दूर करने और बदला लेने के लिए काकेशस पहाड़ से बड़ी धूमधाम से चढ़ा और इस्फहान के पास तक आ पहुँचा। रोमनों की यह तैयारी देख खुसरो परवेज भाग खड़ा हुआ। पर पारस लड़ने को तैयार था। इससे रोमन सम्राट ने भी भागने में ही कुशल समझी। उसका उद्देश्य तो केवल लज्जा निवारण था। खुसरो परवेज अपने अत्याचारों के कारण छोटे बड़े सबको अप्रिय हो गया। उसका भागना देख लोगों को उससे और भी घृणा हो गई।"

आपकी गुदगुदी उत्पन्न करनेवाली भाषा का एक उदाहरण 'लोभ और प्रीति' वाले लेख से दिया जाता है:—

"इनमें से प्रथम प्रतिषेधात्मक होने के कारण प्रायः विरोधग्रस्त होती है इससे उस पर समाज का ध्यान अधिक रहता है। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगती है; लगा करे, दूसरों को इससे क्या? पर जब हम उस वस्तु की ओर हाथ बढ़ाएँगे या औरों को उसकी ओर हाथ बढ़ाने न देंगे तब बहुत से लोगों का ध्यान हमारे इस कृत्य पर जायगा जिनमें से कुछ हाथ थामने वाले और मुँह लटकाने वाले भी निकल सकते हैं। हमारे लोभ की शिकायत ऐसे ही लोग अधिक करते पाए जायँगे। दूसरों के लोभ की निंदा जैसी अच्छी लोभी कर सकते हैं वैसी और लोग नहीं। माँगने पर न पाने वाले और न देने वाले दोनों इसमें प्रवृत्त होते हैं। एक कहता है 'वह बड़ा लोभी है, देता नहीं' दूसरा कहता है 'वह बड़ा लोभी है, बराबर माँगा करता है"

बाबू श्यामसुंदरदास—'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' की प्रारंभिक प्रतियों को यदि हम उठाकर देखें तो पावेंगे कि बाबू साहब ने अपने लिए एक विशेष क्षेत्र पहले ही से चुन लिया था। भाषा-विज्ञान इत्यादि विषयों पर आप बहुत पहले से लिखते आते हैं। आपके विषय गंभीर हैं। भाषा को भी विषयों के अनुकूल बनाना पड़ता है। आप की भाषा में कहीं भी सजाव शृंगार की प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती। मुहावरों, लोकोक्तियों इत्यादि का प्रयोग आपने प्रायः नहीं किया है। विषय को स्पष्टता तथा प्रौढ़ता से प्रतिपादित करने के लिए रूपक इत्यादि अलंकारों का आश्रय ग्रहण किया है। आपकी पदावली संस्कृतमय होती है। तद्भव शब्दों को भी आप तत्सम-रूप में ही लिखते हैं। गम्भीर विषयों पर लिखते समय लेखक संक्षेप, लाघव आदि की चिंता में नहीं पड़ सकता। ऐसे लेखकों को विषय को स्पष्ट करने के लिए बात को दोहरा कर भी कहना पड़ता है। जिन विषयों को आपने अपनाया उन पर हमारी भाषा में पहले से कुछ भी साहित्य न था। इन विषयों के आप एक प्रकार से प्रवर्तक ही हैं। विषयों की नवीनता होते हुए भी आपकी भाषा में कहीं भी शिथिलता नहीं आने पाई। पांडित्यपूर्ण ओज सर्वत्र लक्षित होता है। आपने विचारात्मक तथा भावात्मक दोनों प्रकार के निबंध प्रस्तुत किए हैं। आपकी शैली विचारात्मक विवेचन के अधिक उपयुक्त पड़ती है। आप की भाषा में आपकी परिमार्जित विचार-शृंखला की विशेषताएँ सदा सन्निविष्ट रहती हैं। आपके वर्णनात्मक निबंधों में चित्रोपमता भी रहती है। आज से पचीसों वर्ष पहले भी आपकी भाषा में ऐसी प्रौढ़ता रहती थी जो आप के पांडित्य की साक्षी देती थी। संवत् १६५७ की सरस्वती से 'आलोक चित्रण' नामक लेख का एक अंश दिया जाता है:—

"और यह फोटोग्राफी ही की महिमा है कि इसकी सहायता से हमलोग सभी पार्थिव पदार्थ के दुष्प्राप्य और अमूल्य प्रतिरूप को प्रत्यक्ष की भाँति अवलोकन करते हैं। यदि इस अद्भुत विद्या का प्रादुर्भाव न हुआ होता तो आज दिन हम लोग घर बैठे ही उत्ताल-तरंगमाला-संकुल-महासागर, उत्तुंग शिखिर श्रेणी, दुर्भेद्य

दुर्ग, दुरारोह पार्वतीय पथ, दुर्गम अरण्य समूह, दुस्तर नदी-प्रवाह, श्रीक्षेत्र वाराणसी आदि तीर्थ स्थान, चित्तौर, इन्द्रप्रस्थ आदि ऐतिहासिक लीला निकेतन, वृंदावन आदि के पुनीत देवालय और कौशांबी आदि के बौद्धीय तथा अन्यान्य स्तूप एवं शिला लेख क्योंकर अपनी आँखों के सामने प्रत्यक्ष की भाँति देखते।"

संस्कृत शब्दों के प्रयोगों का जितना बाहुल्य उपर्युक्त उद्धरण में है उतना आपकी भाषा में सर्वत्र नहीं मिलता। आप जीवनियाँ आदि लिखते समय बहुत परिचित पदावली का प्रयोग करते हैं तथा वाक्य भी छोटे-छोटे लिखते हैं। ऐसी भाषा का एक उदाहरणः—

"किसी लेखक का कहना है कि यूरोप के लोग पहले व्यापार का झंडा लेकर आगे बढ़ते हैं। उसके पीछे धर्म का झंडा खड़ा किया जाता है और अन्त में सभ्यता का अजेय दुर्ग खड़ा होकर विजितों को अपना अस्तित्व भुला कर उसी की महत्ता स्वीकृत करने के लिए बाध्य करता है। भारतवर्ष में भी क्रमशः ये ही घटनाएँ हुईं। जब अंग्रेजों के पैर यहाँ जम गए तब उन्हें अपने शासन को सुचारु रूप से चलाने की चिंता हुई। उन्होंने भारतवर्ष को भारतीय सिपाहियों की सहायता से जीता था।"

पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी—इन्होंने भी अपने लिए कुछ विशेष विषयों को चुन लिया था। भाषा को सजाने-बनाने की प्रवृत्ति न बाबू साहब में है न गुलेरी जी में थी। बाबू साहब की भाषा में पांडित्यपूर्ण गौरव सदा रहता है। गुलेरी जी पंडित होते हुए भी साधारण लोगों की-सी भाषा लिखना उपयुक्त समझते थे। भाषा, पुरातत्व, भाषा विज्ञान इत्यादि विषयों पर आपने बहुत कुछ लिखा है। जहाँ जहाँ वर्णन करने की आवश्यकता पड़ी है आपकी भाषा में अत्यन्त शक्ति लक्षित होती है। गुप्त काल की किसी मूर्ति का जब वर्णन करने लगते थे तो जो काम मूर्तिकार ने प्रस्तर खंड को काट-छाँट कर दिया है वही काम आप थोड़े से इने-गिने शब्दों की सहायता से कर लेते थे। नीचे के उद्धरण में एक प्रतिमा का वर्णन कैसी सजीव भाषा में आपने किया है। पाठक चाहे तो नेत्र बंद कर उस मूर्ति के दर्शन भी कर सकता हैः—

"यह प्रतिमा बहुत ही सुंदर है तो भी इसका आगा जितना अच्छा बना है पीछा तथा बगल उतनी रमणीय नहीं। नीचे के भाग पर धोती की तरह एक ही

वस्त्र पहनाया गया है। उसे सामने घनी चुनावट में समेटकर एक लंबी लांग के रूप में पैरों तक गिराया गया है। नितंब पर उसकी सलवट तथा जंघाओं पर उसकी भोड़ बहुत फबती है। बाएँ नितंब पर एक मोरी है जिसमें होकर वस्त्र का एक छोर पीठ पर से टेढ़ा जाकर दाहिनी कुहनी पर टिककर बल खाता हुआ नीचे की ओर गिरा है। ऊपर का भाग नंगा है। दाहिने हाथ में चँवर बड़ी धज से लिया हुआ है। भूषणों में एक पाँच लड़ की मेखला है। लड़ियाँ पीछे को छितरी हुई हैं किंतु आगे एक ही जगह सिमट गई हैं और दो घटी के से छल्लों में निकल कर लटकती लांग के नीचे आ गई हैं।"

बाबू गोपालराम गहमरी—ये उपन्यास-लेखक के रूप में ही प्रसिद्ध थे, पर इन्होंने उच्चकोटि के निबंध भी प्रस्तुत किए हैं जो समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहते थे। इनके निबध भावात्मक होते हैं। इनकी भाषा विषय के अनुरूप बदलती है। ये अपने पाठकों को भिन्न-भिन्न भावों में मग्न करना खूब जानते हैं। कुछ-कुछ चमत्कार की प्रवृत्ति भी इनमें थी पर इतनी नहीं कि पाठक का हृदय मुख्य विपय से भटक जाय। इनकी भाषा का एक उदाहरण:—

"जो हिन्दी पहली दशाब्दि में भारत-भर के माननीय, देश-भर के सम्मान-भाजन बाबू हरिश्चद्र की प्रभुता से पुष्ट और पूर्ण हो रही थी, वह हिन्दी स्कूल और पाठशालाओं के आँगन मे अठखेलियाँ करती हुई दूसरी दशाब्दि मे सुविस्तृत भारतप्रांगण में समुन्नत होकर सर्वाधिकार भोगने को चल पड़ी। हिन्दी सुलेखकों की संख्या बढ़ने लगी। वह लोग अपनी भाषा को उन्नत करने के लिए कमर कसकर मैदान में उतर पड़े। हिन्दी-समाचार-पत्रों की संख्या वृद्धि होने लगी। कलकत्ता हिन्दी का केन्द्र बन रहा है, यह देखकर बंगवासी के बाबू योगेन्द्र घोष ने 'हिन्दी बंगबासी' नामक एक बड़े आकार का साप्ताहिक निकालना आरंभ किया।

बाबू व्रजनंदन सहाय—ये उस समय के प्रसिद्ध लेखकों में हैं। जब लेखक के हृदय में किसी भाव की स्वयं अनुभूति होती है तो उसकी वाणी में सजीवता तथा सत्यता आ जाती है। यही बात सहाय जी की भाषा में मिलती है। जो प्रभविष्णुता वक्ता की वाणी में रहती है वही

इनकी शैली में प्राप्त है। लेखक अपनी कला से पाठकों को इतना वशीभूत कर लेता है कि वह उसके संकेतों पर एक भाव-तरंग से दूसरी भाव-तरंग पर डूबता उतारता फिरता है। आपके श्मशान वाले लेख से एक उदाहरण दिया जाता है:—

"यह संसार एक महाश्मशान है। जो चिताग्नि यहाँ धधक रही है, उसमें जो न जले, ऐसी चीज ही दुनिया मे नहीं है। जड़ प्रकृति किसी का मुँह नहीं देखती। जो सामने आता है, उसीको जलाती हुई, पहिले की तरह धधकती हुई हँसती और किलकारती हुई चली आती है। यह जो नक्षत्रों का समूह अल्पांधकार में झिलमिला रहा है, वह इस विश्वव्यापी महावह्नि की चिनगारियाँ हैं। इस संसार में अग्नि कहाँ नहीं है? निर्मल चन्द्रिका में, प्रफुल्ल मल्लिका में, कोकिल की काकली में, कुसुम की सौरभ में, मृदुल पवन में, पक्षियों के कूजन में, रमणी के मुखड़े में पुरुष के हृदय में—कहाँ आग नहीं धधक रही है? किस आग में आदमी नहीं जलता?"

पं० पद्मसिंह शर्मा—ये उस समय के उत्कृष्ट गद्य लेखकों में थे। जितने लेखक उर्दू-साहित्य की ओर से हिंदी को प्राप्त हुए उनमें हम सदा एक विशेषता पाते हैं। वृद्धों की-सी गंभीरता अथवा निराशावादियों की सी निर्जीव शांति उनकी भाषा में नहीं मिलती। वे जीवन को महत्त्व देते हैं, जीवन की रमणीयता पर मुग्ध होते हैं। फलतः उनकी भाषा में एक स्निग्ध सजीवता, किशोरावस्था की-सी अस्फुट मुसकान तथा चंचल मार्मिकता मिलती है। शर्मा जी की भाषा की ये ही विशेषताएँ हैं। वे स्वयं हँसते हैं और पाठकों को भी हँसाते हैं। पर यह हँसी दूसरों के दुःखों की उपेक्षा करनेवाली हँसी नहीं है। जब वे लोक में कहीं अमंगल देखते हैं, पीड़ा पाते हैं, वेदना की कराह सुनते हैं तो उनके मुख की हँसी देखते-देखते न जाने कहाँ चली जाती है। वे गंभीर हो जाते हैं; उनकी आँखों में आँसू झलक पड़ते हैं। पर इस वेदना में भी वेदांतियों की-सी शुष्क बात से न स्वयं शांत होते हैं न अपने पाठकों को शांत करना चाहते हैं। लोक के महत्त्व को समझनेवाले की अपने प्रिय के वियोग में जैसी विकलता होती है वैसी ही हम शर्मा जी के

करुण दृश्यों के चित्रण में पाते हैं। उन्होंने अपने कुटुंब की सीमा का विस्तार कर लिया था। संपूर्ण सारस्वत संप्रदाय ही उनका अपना कुटुंब था। किस कवि के वियोग में उन्होंने आँसू नहीं बहाए। उन आँसुओं में कैसी सच्ची पीड़ा, कैसा ममत्व, कैसा अपनापन रहता था। लेखकों, कवियों, विद्वानों की जीवनियाँ जितनी सजीवता से, जितनी सहानुभूति से, जितने अनुराग से आपने लिखी हैं वैसी हिंदी का और कौन लेखक लिख सका? हास्यविनोद संबंधी लेख भी आप के ऐसे होते थे जिनकी प्रत्येक पंक्ति में मसखरापन, चुटकी तथा गुदगुदी सिली रहती थी। इनके लेखों में मूर्त्तिमत्ता थी, पर यह मूर्त्तिमत्ता ठोस पदार्थों के दृश्य पाठकों के सामने नहीं उपस्थित करती थी। आपकी मूर्त्तिमत्ता का महत्त्व सूक्ष्म दृश्य भावों को गोचर तथा मूर्त्तिमान बनाने में था। आपके बहुत से लेखों का संग्रह 'पद्मपराग' नामक पुस्तक में हुआ है। 'बिहारी' पर भी आपने अच्छा साहित्य प्रस्तुत किया है। 'सतसई-संहार' की भाषा को लेकर आप पर आक्षेप करना आपके प्रति अन्याय करना है। 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ।' नामक निबंध से एक अंश नीचे दिया जाता है:—

"और लीजिए, दूसरे मित्र विश्वनाथ हैं। यह बाल बच्चोंवाले आदमी हैं, और रात दिन इन्हीं की चिंता में रहते हैं। जब कभी मिलने आते हैं तो तीसरे पहर के करीब आते हैं, जब मैं काम से निबट चुकता हूँ। पर इस कदर थका हुआ होता हूँ कि जी यही चाहता है कि एक घंटे आराम कुरसी पर चुपचाप पड़ा रहूँ। पर विश्वनाथ आये हैं, उनसे मिलना जरूरी है, उनके पास बातें करने के लिए सिवा अपनी स्त्री और बच्चों की बीमारी के और कोई मजमून ही नहीं। मैं कितनी ही कोशिश करूँ, पर वह उस विषय से बाहर नहीं निकलते। यदि मैं मौसम का जिक्र करता हूँ तो वह कहते हैं, हाँ बड़ा खराब मौसम है। मेरे छोटे बच्चे को बुखार आ गया, मझली लड़की खाँसी से पीड़ित है। यदि पोलिटिक्स या साहित्य-सबंधी चर्चा प्रारंभ करता हूँ तो वह (विश्वनाथजी) फौरन फरमाते हैं कि भाई आज-कल घरभर बीमार है मुझे इतनी फुर्सत कहाँ कि अखबार पढ़ूँ।"

अध्यापक पूर्णसिंह—इनके तीन चार निबंध सरस्वती पत्रिका में निकले थे। लेखक का महत्त्व अधिक लिखने पर उतना निर्भर नहीं है

जितना अच्छा लिखने पर "कितना ?" यह प्रश्न निरर्थक है, "कैसा ?" यह प्रश्न महत्त्व का है। दो चार ही निबंधों में अध्यापक जी ने एक विशेष प्रणाली की ओर संकेत किया। आप में विषय को मूर्त्तिमत्ता के साथ प्रतिपादित करने की विशेषता अद्भुत थी। आप के गद्य-लेख काव्य की विशेषताओं से भूषित थे। आप पाठकों के हृदय की रागात्मक वृत्ति को स्पंदित करना खूब जानते थे। पर इसके लिए आपको चेष्टा नहीं करनी पड़ती थी। आप की कला प्रयत्न में नहीं थी, स्वाभाविकता में थी। अपने विषय में आप इतने तल्लीन हो जाते थे कि कृत्रिमता तथा बनावट को स्थान नहीं रहता था। प्रस्तुत विषय के बहिरंग तथा अंतरंग दोनो चित्र सजीव और स्पष्ट रहते थे। गोचर दृश्यों की विशेषताओं तथा हृदय की भाव-तरंगों को सामने उपस्थित करने में आप सफल चित्रकार थे। आपकी भाषा का एक उदाहरण:—

"गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है, साथ ही साथ वह अपने दुःख पर रोती है—दिन को खाना न मिला। रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी, तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है तब वह ठहर जाती है। सुई हाथ में लिए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमें बादल बरस कर अभी अभी बिखर गए हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरान्त "हे राम" कहकर उसने फ़िर सीना शुरू कर दिया। इस माता और इस बहन की सिली हुई कमीज मेरे लिये मेरे शरीर का नहीं—मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थयात्रा है। इस कमीज में विधवा के सुख-दुख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवन-रूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है।"

बाबू गुलाबराय एम० ए०—आपने भी उच्चकोटि के निबंध लिखे हैं। आपने भावात्मक तथा विचारात्मक दोनों प्रकार के निबंध प्रस्तुत किए हैं। आपके विचारात्मक निबंधों में सूक्ष्म दृष्टि-विस्तार तथा गंभीर विषयों को ग्रहण करने की प्रतिभा स्पष्ट लक्षित होती है। एक उदाहरण:—

"समाज में प्रत्येक मनुष्य अपनी विशेष स्थिति रखता है। जिस प्रकार किसी

मशीन में हर एक पुर्जा मशीन के चलने में योग देता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को स्वस्थानोचित क्रिया करके संसार के निर्विघ्न संचालन में, योग देना आवश्यक है। जैसे एक पुर्जे के खराब होने से सारी मशीन खराब होती है वैसे ही एक व्यक्ति के धर्मच्युत होने में सारा समाज भ्रष्ट हो जाता है। धर्मच्युत होने से यदि केवल व्यक्ति ही की हानि होती, तो शायद धर्म का पालन न करना इतना दोष-पूर्ण न होता। किंतु जब एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है, तब व्यक्ति का धर्म-परायण रहना परमावश्यक हो जाता है और व्यक्ति का उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है कि स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।' यदि अर्जुन ने उस समय क्षत्रिय-धर्म को छोड़कर सन्यास ग्रहण कर लेता तो वह समाज में अधर्म फैलानेवाला बन जाता।"

इस समय के अन्य गद्य-लेखक बाबू केशवप्रसादसिंह, बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री, बाबू कार्तिक प्रसाद तथा पं० किशोरीलाल जी आदि थे।

उच्चकोटि के गंभीर तथा मार्मिक निबंध केवल पं० रामचंद्र शुक्ल जी की लेखनी से निकले। अन्य लेखकों के द्वारा इतना कार्य अवश्य हुआ कि गद्य-शैली को भिन्न-भिन्न प्रणालियों की प्रतिष्ठा हो गई तथा योग्य लेखकों के हाथों में पड़कर भाषा मँज गई। गंभीर विषयों के अतिरिक्त हास्य रस पर भी पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने कुछ लिखा।

निबंधों के अतिरिक्त साहित्यिक महत्त्व के कई जीवनचरित्र भी इस समय लिखे गए। जिनमें पंडितमाधवप्रसाद मिश्र की विशुद्ध चरितावली, बाबू शिवनंदन सहाय के बाबू हरिश्चंद्र-चरित्र और गोस्वामी तुलसीदास जी का जीवनचरित्र, पं० किशोरीलाल गोस्वामी के राजा लक्ष्मणसिंह, राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद और बाबू राधाकृष्णदास का हरिश्चन्द्र जी का जीवनचरित्र आदि मुख्य हैं।

उपन्यास

हरिश्चन्द्र काल में इस क्षेत्र में अधिक कार्य न हो पाया था। परीक्षा-गुरु इत्यादि एक-आध उपन्यास ही नाम गिनाने को हैं। द्विवेदी काल में गद्य में व्यावहारिकता तथा प्रौढ़ता आ चुकी थी। बँगला से पहले ही

कुछ उपन्यासों के अनुवाद हो चुके थे। बाबू गदाधरसिंह और बाबू रामकृष्ण वर्मा ने कुछ उपन्यासों के अनुवाद पहले प्रस्तुत किए। ठग वृत्तांतमाला, पुलिस वृत्तांतमाला, चित्तौर चातकी इत्यादि अनुवाद बहुत ही पहले निकल चुके थे। बाबू कार्तिकप्रसाद जी ने भी इला, प्रमीला, जया और मधुमालती इत्यादि के अनुवाद किए। बाबू गोपालराम गहमरी ने बँगला के गार्हस्थ्य उपन्यासों के अनुवाद प्रस्तुत किए। इन्होंने चतुर चंचला, भानमती, नए बाबू आदि के अनुवाद पाँच छ वर्ष पूर्व ही किए थे। बड़ा भाई, देवरानी जेठानी, दो बहिन इत्यादि अनुवाद पीछे प्रस्तुत किए गए। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने संवत् १९४५ में ही 'वेनिस का बाँका' निकाला था। इस काल के पिछले दिनों में पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा बाबू रामचंद्र वर्मा और पंडित रूपनारायण पांडे ने भी बहुत से अनुवाद प्रस्तुत किए। वर्मा जी ने मराठी से 'छत्रसाल' का भी अनुवाद किया था। यह उच्चकोटि का ऐतिहासिक उपन्यास है। इसका हिंदी में बहुत प्रचार हुआ।

अनुवादों का यह कार्य अब तक धूम-धाम से चला जा रहा है। आरंभ में अनुवादों से स्वतंत्र रचना को कुछ उत्तेजन अवश्य मिला। परन्तु अनुवादों की अनावश्यक वृद्धि स्वतंत्र मौलिक साहित्य के लिए कुछ बाधक भी होती है। दूसरों की उन श्रेष्ठ रचनाओं के अनुवाद तो अवश्य प्रस्तुत किए जाने चाहिए जिनमें कुछ नवीनता तथा भव्यता है और जो हमारे दृष्टिकोण को किसी वांछनीय दिशा की ओर मोड़ती हों। मौलिक उपन्यास-लेखकों में सबसे अधिक पाठकों में प्रचार पाने का सौभाग्य बाबू देवकीनंदन खत्रीको प्राप्त हुआ। किसी उच्च आदर्शकी प्रतिष्ठा करनेको अथवा चित्तवृत्तियों के विश्लेषण करने की दृष्टि से इनके उपन्यास नहीं लिखे गए। न इनके उपन्यासों में ऐसे चरित्र उपस्थित किए गए जिनसे हम स्थायी प्रेम अथवा घृणा कर सकें। मनुष्य-स्वभाव में कथा सुनने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसी प्रवृत्ति की तुष्टि इन उपन्यासों से हुई। मनुष्य-स्वभाव की इस विशेषता से लाभ उठाकर उनके सम्मुख एक श्रेष्ठ जगत् का आभास उपस्थित करने का कार्य भी किया जा सकता है। परन्तु ये सब कार्य 'चंद्र-

कांता' के लेखक ने नहीं किये। चंद्रकांता के अतिरिक्त काजर की कोठरी, कुसुमकुमारी, गुप्तगोदना, नरेंद्रमोहिनी, वीरेंद्रवीर इत्यादि अनेक उपन्यास इन्होंने लिखे। ये सब उपन्यास 'ऐयारी' ढंग के हुए। इनमें लेखक बैठा-बैठा ताली ऐंठता रहता है और पात्र भिन्न-भिन्न घटनाओं के घात-प्रतिघात की ठोकरें खाते हुए मारे-मारे फिरते रहते हैं। 'अब क्या होगा ?' की लालसा पाठक के हृदय में सदा जगी रहती है। यह अवश्य मानना पड़ेगा कि उच्च साहित्य की दृष्टि से इन उपन्यासों का अधिक महत्त्व नहीं पर देवकीनंदन जी ने अपने क्षेत्र में जो काम किया वह अद्वितीय है। इस प्रकार के उपन्यास लिखने के लिए भी एक प्रतिभा अपेक्षित है। यह इनमें पूर्ण मात्रा में थी। 'चंद्रकांता' उपन्यास ने लोगों को हिंदी के अक्षरों का ज्ञान कराने में बड़ी सहायता दी। न जाने कितने लोगों ने 'तेजसिंह' के झोले की करामात से आकर्षित होकर हिंदी सिखी। यहीं तक नहीं, हमारे पड़ोसियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। उर्दू पढ़े-लिखे लोगों ने भी चंद्रकांता पढ़ने के लिए हिंदी के अक्षरों के सीखने का कष्ट उठाया। फिर तो उर्दू-भाषा में इसका अनुवाद हो गया। भारत की और कई भाषाओं में भी इसके अनुवाद किए गए। अंगरेजी में भी इसके कुछ भागों का अनुवाद किया गया। चंद्रकांता उपन्यास से तिलस्मी उपन्यासों का जो भूत चढ़ा वह भूतनाथ' बना हुआ अनेक लोगों के सिर पर अब भी खेलता है। इनके उपन्यासों की भाषा बहुत चलती हुई तथा व्यावहारिक है। इसे हम हिंदुस्तानी कह सकते हैं।

दूसरे मौलिक उपन्यास-लेखक पं० किशोरीलाल जी गोस्वामी थे। इन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक, जासूसी, ऐयारी सब प्रकार के उपन्यास लिखे है। इनके उपन्यासों की संख्या ६५ तक पहुँचती है। इनमें माधवी-माधव, अंगूठी का नगीना, लखनऊ की कब्र, चपला, तारा, मल्लिका देवी, राजकुमारी, प्रणयिनी परिणय आदि मुख्य हैं। इनके ऐतिहासिक उपन्यासों में गवेषणापूर्ण दृष्टि से काम नहीं लिया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक त्रुटियाँ की हैं। इनके प्रायः ऐतिहासिक उपन्यास मुसलमानी समय के चित्र अंकित करने के लिए लिखे गए हैं। अपने उप-

न्यासों में इन्होंने कई प्रकार की भाषा शैलियों का उपयोग किया है। मुसलिम काल के उपन्यासों में उर्दू-मिश्रित भाषा का प्रयोग किया गया है। मल्लिका देवी आदि उपन्यासों में संस्कृत बहुला भाषा लिखी गई है। राजकुमारी, माधवीमाधव इत्यादि उपन्यासों में व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया गया है। गोस्वामी जी संस्कृत मिश्रित बहुत ही प्रौढ़ भाषा लिख सकते थे। भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रयोग संभवतः बहुलता प्रदर्शन की रुचि से प्रेरित होकर ही किया गया। सरस्वती के प्रारंभिक काल में जब आप उसके संपादकों में भी थे आपने बहुत सुंदर प्रांजल भाषा में 'लंका का आविष्कार' 'मैक्समूलर' इत्यादि अनेक लेख लिखे। वह भाषा कैसी सुंदर होती थी यह नीचे के उद्धरण से देखा जा सकता है:—

"पठित समाज की आबाल-वृद्ध-वनिताएँ इस बात को मुक्त कंठ से स्वीकार करेंगी कि आज दिन जिसकी मुद्रित वैदिक पुस्तक को पाकर भारतवर्षीय विद्वान् अपने को धन्य और गौरवान्वित समझते हैं, आज दिन जिस व्यक्ति ने घर-घर वैदिक ग्रंथ की प्रतिष्ठा के लिए उसका जीर्णोद्धार करके प्राचीनतम महर्षि वेदव्यास के समय का दृश्य झलका दिया है, आज दिन जिसके पूर्ण परिश्रम, अशेष अध्यवसाय, गुरुतर गवेषणा और दुर्दमनीय दृढ़व्रत ने प्राचीन संस्कृत ग्रंथों का जीर्णोद्धार और भारतवर्षियों का महोपकार करके योरोपीय विद्वानों की दृष्टि आकर्षित की है और आज दिन जिस श्रद्धेय महात्मा ने विजातीय और विभिन्न धर्मावलम्बीय अंग्रेजों को संस्कृत की डूबती हुई जीर्ण नौका का कर्णधार बनाया है, उस महात्मा—मैक्समूलर महात्मा-का पवित्र नाम स्मरणीय, कीर्तनीय, आदरणीय और अहर्निश पूजनीय है।"

बाबू गोपालराम गहमरी ने जासूसी उपन्यासों का 'जासूस' नामक जो पत्र उस समय निकाला था वह अबतक चला जा रहा है। इस पत्र में गहमरी जी के जासूसी उपन्यास धारावाहिक रूप से निकलते रहे हैं। गहमरी जी में इस विषय की प्रतिभा बहुत अधिक थी। आप को इन उपन्यासों में कहीं न कहीं कोई लाश पड़ी हुई मिल जावेगी। पुलिस तथा जासूसों ने खून तथा चोरी का पता कैसे लगाया इन्हीं बातों के कौतूहल-पूर्ण वर्णन पाठकों का मनोरंजन करते रहते हैं।

इसी काल में पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय के दो उपन्यास 'ठेठ

हिंदी का ठाट' और 'अधखिला फूल' लिखे गए। ये सरल भाषा के नमूने के रूप में लिखे गए थे। इनका औपन्यासिक महत्त्व संभवतः अधिक नहीं है। पंडित लज्जाराम मेहता ने धूर्त रसिकलाल, आदर्श हिंदू, बिगड़े का सुधार, आदर्श दंपति उपन्यास प्रस्तुत किए। बिहार के बाबू ब्रजनंदन सहाय बी० ए० ने राजेन्द्रमालती, अद्भुत-प्रायश्चित, सौंदर्योपासक, आदर्श मित्र ये चार उपन्यास प्रस्तुत किए।

संख्या की दृष्टि से तो उपन्यासों की इस काल में बहुत वृद्धि हुई। परंतु ये उपन्यास, उपन्यास नहीं थे। बड़ी-बड़ी कहानियाँ मात्र थीं। वास्तविक उपन्यासों की रचना का युग अभी आने का था।

नाटक

यह युग जैसा उपन्यासों में वैसा ही नाटकों में अनुवादों का था। संस्कृत, अँग्रेजी, बँगला इत्यादि से कई नाटक हिंदी में अनूदित हुए। संस्कृत से अनुवाद करने का कार्य पं० सत्यनारायण कविरत्न तथा राय बहादुर लाला सीताराम जी बी० ए० ने किया। भवभूति के उत्तररामचरित्र तथा मालतीमाधव के अनुवाद कविरत्न जी की कृतियाँ हैं। पद्यों के अनुवाद ब्रजभाषा में प्रस्तुत किए गए हैं। जिनमें कहीं-कहीं क्लिष्टता आ गई है। लाला सीताराम जी बी० ए० ने नागानंद मृच्छकटिक, महावीरचरित, उत्तररामचरित मालती माधव, मालविकाग्निमित्र इत्यादि अनुवाद संस्कृत से किए। इन्होंने मूल के भावों की रक्षा करने के प्रयत्न में भाषा में अस्पष्टता तथा जटिलता नहीं आने दी। लाला जी ने अँगरेजी से शेक्सपियर के भी कई नाटकों से अनुवाद किए हैं। पुरोहित गोपीनाथ जी ने भी 'रोमियों जूलिएट' तथा 'एज़ यू लाइक इट्' इन दो नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए। बाबू रामकृष्ण वर्मा तथा गोपालराम गहमरी ने बँगला से कई नाटकों के अनुवाद किए थे। इस काल के अंतिम दिनों मे बाबू रामचन्द्र वर्मा तथा पं० रूपनारायण पांडेय ने बँगला से स्वर्गीय द्विजेंद्रलालराय तथा गिरीशचंद्र घोष के कई नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए, जिनमें वर्मा जी का 'मेवाड़पतन' तथा पांडेय जी का

'दुर्गादास' मुख्य हैं। राय देवीप्रसाद पूर्ण जी ने मौलिक नाटक चंद्र-कला भानुकुमार नामक लिखा। चरित्र-चित्रण इत्यादि की दृष्टि से इस नाटक का कोई महत्त्व नहीं है। भानुकुमार और प्रतापकुमार के चरित्रों में तथा चंद्रकला और चंद्रावली के चरित्रों में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। पदार्थ विद्या के आधुनिक सिद्धान्तों का समावेश भी खटकता है। काव्य की दृष्टि से यह नाटक अच्छा हुआ है। ऋतुओं के वर्णन बहुत ही कवित्वपूर्ण हुए हैं। अभिनय की दृष्टि से नाटक त्रुटिपूर्ण है। इस काल के अंतिम दिनों में पं० नारायणप्रसाद बेताब ने महाभारत नाटक लिखकर जनता की रुचि को उर्दू-प्रधान पारसी नाटकों की ओर से हिंदी की ओर कुछ-कुछ मोड़ा। पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने जो नाटक लिखे थे उनका नाटकत्व केवल नाम ही में था।

समालोचना

हमारे यहाँ प्राचीन काल में जब कुछ दिनों तक काव्य-रचना हो चुकी तो वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर रीति-ग्रंथों की परिपाटी चली। रसों और अलंकारों का संक्षेप में प्रारंभिक विवेचन अग्निपुराण में व्यास जी ने कर दिया। इस काम को नाट्याचार्य भरत मुनि ने और आगे बढ़ाया। फिर तो ऐसे आचार्यों की परंपरा ही चल निकली। इन आचार्यों के द्वारा काव्य के बहिरंग तथा अंतरंग स्वरूपों का बहुत ही सुंदर विवेचन हुआ। प्रचलित ग्रंथों का अध्ययन करने के पश्चात् बहुत विवेचन करने से रस परिपाटी की प्रतिष्ठा हुई। इसी प्रकार अलंकारों का नामकरण तथा व्याख्याएँ हुईं। काव्य का विवेचन करने के लिए तथा काव्य-रचना में सहायता देने के लिए इन रीति-ग्रन्थों से बहुत काम चला। किसी भी काव्य के गुण दोष परखने के लिए एक प्रकार की साहित्यिक कसौटियाँ प्रस्तुत हो गई थीं। कोई भी नया काव्य इन कसौटियों पर कस लिया जाता था और उसके गुण-अवगुण का विवेचन थोड़े से बचे हुए शब्दों में कर दिया जाता था। कोई आचार्य जब नवीन रीति-ग्रंथ की रचना करता था तो उन पद्यों को जिन्हें वह श्रेष्ठ समझता था

गुणों के उदाहरणों में रख देता था और जिन्हें वह नीची श्रेणी का समझता था दोषों के उदाहरणों में। आगे आनेवाले आचार्य भी अपनी रुचि तथा अपने सिद्धांतों के अनुसार ऐसा ही करते थे। इसी प्रकार की आलोचना-प्रणाली संस्कृत-साहित्य में प्रचलित रही। यह बँधी हुई रूढ़ि के अनुसार, एक निर्दिष्ट मार्ग पर चलती थी। किसी कवि के संपूर्ण ग्रंथों को लेकर उसकी प्रवृत्तियों के अन्वेषण का प्रयत्न करनेवाली समालोचना का संस्कृत-साहित्य में अभाव हो रहा। इसका कारण यही था कि आलोचना के आधार-भूत सिद्धांतों की एक बँधे रूप में प्रतिष्ठा हो जाने से स्वतंत्र विवेचन के लिए क्षेत्र न रहा। अमुक कवि की उत्प्रेक्षाएँ अच्छी होती है, अमुक उपमा-अलंकार में बहुत ही रमणीय अप्रस्तुत विधान करता है, अमुक करुण रस चित्रण में बहुत प्रवीण है, बस, इसी प्रकार की आलोचनाएँ संस्कृत के विद्वानों में प्रचलित रहीं।

योरप की अवस्था हमारे यहाँ की अवस्था से ठीक विपरीत थी। रीति-ग्रंथो के ढंग का कुछ प्रयत्न यूनान देश में बहुत प्राचीन काल में हुआ था। यवनाचार्य अरस्तू ने साहित्य के सिद्धांतों का कुछ विवेचन किया था। परंतु उसके सिद्धांतों में इतनी व्यापकता नहीं थी कि उनके आधार पर सब काव्यों की गंभीर विवेचना की जा सके। फिर भी एक बार उसके सिद्धांतों का प्रचार संपूर्ण योरोप में हुआ। फ्रांस देश में नव-जागर्ति (Renaissance) के पश्चात् कलाओं का बहुत ही भव्य तथा सजीव रूप में प्रचार हुआ। काव्यकला के विवेचन मे भी फ्रांसीसी विद्वानों ने बड़ी सहृदयता तथा सुकुमारता से काम लिया। उन सिद्धांतों का प्रचार इंग्लैंड इत्यादि देशों में भी हुआ। इंग्लैंड के कुछ विद्वानों ने समालोचना-साहित्य में कुछ नवीन उद्भावनाएँ भी कीं। आलोचना के इस नवीन सिद्धांतों का परिचय अँगरेजी भाषा के अध्ययन के द्वारा भारतीयों को भी प्राप्त हुआ। यह आलोचन-शैली बहुत ही आकर्षक थी। इसकी देखादेखी बंगाल में आलोचना-साहित्य का विकास होने लगा। बंग-साहित्य में रीति-ग्रंथों का विकास वैसा नहीं हुआ था जैसा हिंदी भाषा में। इसलिए बंगालियों को योरोपीय सिद्धांत अपनाने में विलंब

अथवा आगा-पीछा नहीं करना पड़ा। हिंदीवालों ने सैकड़ों वर्ष रसों और अलंकारों के ग्रंथ प्रस्तुत करने में लगाए थे। उनकी समझ में रसों और अलंकारों की बँधी हुई लकीर के बाहर जाने की आवश्यकता ही नहीं थी। नवीन लोगों को रस और अलंकारों के नाम से वैसे ही घृणा हो चली थी जैसी अपनी प्राचीन भारतीय संस्कृति से उस समय लोगों की समझ में न आया कि विदेशी सिद्धांत हमारे साहित्य के गुणों और दोषों का विवेचन करते समय किस प्रकार काम में लाए जा सकते हैं। अपने प्राचीन सिद्धांतों का नवीन रूप में दिखलाने की क्षमता उस समय किसी में न थी। आलोचना का प्रारंभ तो उस समय अवश्य हुआ परंतु वह वास्तविक आलोचना न थी। उसे चाहें तो आलोचनाभास कह लें।

आधुनिक काल में संभवतः सर्व प्रथम पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने लाला श्रीनिवासदास की पुस्तक संयोगिता-स्वयंवर की आलोचना की थी। यह आलोचना केवल दोषों के दिखाने की दृष्टि से की गई थी। इस प्रकार निंदात्मक तथा प्रशंसात्मक लेख कभी-कभी निकल जाया करते थे। पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने 'हिंदी कालिदास की आलोचना' नामक पुस्तक निकाली। रायबहादुर लाला सीताराम जी बी० ए० ने कालीदास के अनेक ग्रन्थों के अनुवाद प्रस्तुत किए थे। अनुवादक की आलोचना केवल भाषा के गुण दोष विवेचन तक ही जा सकती थी। भावों के लिए अनुवादक की न प्रशंसा की जा सकती थी न दोषों के लिए उसे दोष दिया जा सकता था। मूल के भावों की रक्षा करने में अनुवादक कहाँ तक सफल अथवा असफल हुआ है यहीं तक ऐसी आलोचनाओं की सीमा है। इसके पश्चात् द्विवेदी जी ने 'विक्रमांक-देव-चरित चर्चा' और 'नैषधचरित चर्चा' नाम की पुस्तकें प्रस्तुत कीं। ये पुस्तकें संस्कृत कवियों से संबंध रखती थीं इनका हिंदी-साहित्य से कोई प्रत्यक्ष संबंध न था। परंतु इनके द्वारा संस्कृत-साहित्य में प्रचलित विवेचन-प्रणाली का परिचय हिंदीवालों को अवश्य प्राप्त हुआ।

मिश्रबंधुओं ने बड़े परिश्रम से 'हिंदी नवरत्न' नामक पुस्तक लिखी। इसमें हिंदी के चंद से लेकर हरिश्चंद्र तक, नौ कवियों का विवेचन किया

गया। मिश्रबंधुओं के सम्मुख आलोचना के कुछ सिद्धांत प्रस्तुत न थे। फिर भी बड़ी सहृदयता से कवियों की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया गया है। कुछ लोगों की सम्मति है कि 'देव' के प्रति लेखकों का कुछ अधिक पक्षपात है। यदि 'देव' को ऊँचा बनाने के फेर में 'बिहारी' को नीचे गिराने का असफल प्रयत्न न किया गया होता तो यह पक्षपात उतना न खटकता। इस पुस्तक के द्वारा कवियों की विशेषताओं के विवेचन की परिपाटी चली। मिश्रबंधुओं के द्वारा यह बहुत ही उपकार का कार्य संपादित हुआ। 'देव' के प्रश्न को लेकर हिंदी-साहित्य में कुछ दिनों तक दलबंदी भी हुई। लाला भगवानदीन जी 'बिहारी' के समर्थक थे तथा मिश्रबंधु 'देव' के। इस झगड़े के फलस्वरूप हिंदी में दो पुस्तकें प्रस्तुत हुईं। पंडित कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक लिखी। इसमें आलोचना की कोई कसौटी अपने सम्मुख नहीं रखी। प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए संभवतः उन्हें रसवाटिका नामक पुस्तक ही मिली। आपकी इन दोनों कवियों के विषय में क्या सम्मति है इसका ठीक ठीक पता आपकी पुस्तक को पढ़ने से नहीं चलता। इतनी नम्रता भी जिससे प्रतिपाद्य विषय में अस्पष्टता आ जावे संभवतः अधिक अभि-प्रेत नहीं होती। इसके उत्तर में लाला भगवानदीन जी ने 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में लाला जी ने 'सच्ची समालोचना' का दावा किया था। लाला जी कैसी सच्ची समालोचना करते थे यह हिंदीवालों को विदित ही है।

इसके पश्चात् मिश्रबंधुओं ने मिश्रबंधुविनोद नाम की गवेषणापूर्ण पुस्तक तीन भागों में निकाली। आप लोगों ने नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज के विवरण का उपयोग करने के साथ ही साथ अपने व्यक्तिगत परिश्रम तथा खोज का उपयोग भी इस पुस्तक में किया। आप लोगों ने इस पुस्तक में कवियों की आलोचनाएँ भी बड़ी मार्मिकता से कीं। यह पुस्तक हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखनेवालों की सदा पथप्रदर्शक रही और रहेगी। जितनी सामग्री इस एक पुस्तक में एकत्र की गई है उतनी हिंदी की कम पुस्तकों में मिलेगी। आप लोगों ने वर्षों के प्रयत्न से और

सहस्रों के व्यय से यह महान् साहित्यिक अनुष्ठान पूर्ण किया। यदि प्रस्तावनाओं और बीच-बीच में आए हुए विवेचनों को संग्रह रूप में प्रस्तुत कर लिया जाय तो हिंदी-साहित्य का एक सुंदर इतिहास प्रस्तुत हो सकता है। आप लोगों ने इस प्रकार की आलोचना-प्रणाली की बड़ी भव्य प्रस्तावना की। इसके पश्चात् पंडित पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी' पर आलोचनात्मक पुस्तक निकली। शर्मा जी ने इस पुस्तक में 'आर्या-सप्तशती' और 'गाथासप्तशती' के पद्यों के साथ बिहारी के दोहों की तुलना की और सब स्थानों पर वकीलों की सी बहस के साथ बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध किया। बिहारी के प्रति शर्मा जी का कुछ पक्षपात-सा लक्षित होता है; और पक्षपात में अपने प्रिय के दोषों की अवहेलना अथवा उपेक्षा और प्रतिपक्षी के दोषों को बढ़ाकर देखने की प्रवृत्ति अथवा दोष न होने पर भी दोषों की स्थापना करने की रुचि होना स्वाभाविक है। शर्मा जी की आलोचना में भी ये दोष आ गए हैं ऐसा कहना संभवतः किसी को बुरा न लगेगा। इस पुस्तक के कारण अनेक लोगों ने यह धारणा बना ली कि तुलना करना ही समालोचना है। जब समालोचना इतना सरल व्यवसाय हो गया तो आए दिन बड़े-बड़े बहादुर समालोचक पत्र-पत्रिकाओं में दर्शन देने लगे। इस प्रकार की समालोचना की धूम हिंदी-साहित्य में बहुत दिनों तक रही। वास्तविक समालोचना का प्रारंभ अभी होने को ही था। इसके दर्शन नवीन काल में जाकर हुए।

खड़ी बोली

मध्य काल

(संवत् १९६०—१९७५)

पद्य

पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के सरस्वती-संपादक रूप में आने के पूर्व ही खड़ी बोली पद्य-क्षेत्र में ग्रहण कर ली गई थी और अनेक श्रेष्ठ कवियों ने उसमें रचनाएँ भी करना प्रारंभ कर दिया था। इस काल के अनेक कवियों पर द्विवेदी जी का प्रभाव पड़ा तथा अनेक कविगण इस प्रभाव से अलग रह कर अपने स्वतंत्र मार्ग पर अग्रसर होते हुए मातृभाषा की सेवा करते रहे।

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—भारतेंदु काल के उत्तरार्द्ध में ही हमें उपाध्याय जी के दर्शन हुए थे। पहले ये व्रजभाषा की कविता किया करते थे। अब भी उस प्रकार की रचनाओं का क्रम चलता ही रहता है। आपकी व्रजभाषा की रचनाएं बहुत उच्चकोटि की होती थी। उस क्षेत्र में भी आपका प्रमुख स्थान है। खड़ी बोली में भी आप बहुत वर्षों से रचनाएं करते आते हैं। हिंदी-काव्य की दो प्रमुख भाषाओं—व्रज तथा खड़ी—पर आपका समान अधिकार था। ऐसा अधिकार आज-कल के किसी कवि का नहीं है। पं० श्रीधर पाठक तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण ने भी खड़ी बोली में कविताएँ कीं परंतु वह बात न आने पाई। खड़ी बोली में मुक्तक तथा प्रबंधकाव्य के क्षेत्रों में आपका समान अधिकार था। आपने संवत् १९७१ में 'प्रियप्रवास' नामक एक बड़ा प्रबंधकाव्य लिखा। रामचरितमानस के पश्चात् आपके इस काव्य का बहुत ही महत्त्व का स्थान है। खड़ी बोली में भी अनेक प्रबंधकाव्य लिखे गए—कुछ लोगों की सम्मति से महाकाव्य—परंतु किसी में भी वह बात न आने पाई जो प्रियप्रवास में है। जिस ऊँची उठान से ग्रंथ

का प्रारंभ किया है उसी का निर्वाह करते हुए आप अंत तक ले गए है। रामचरितमानस में भी किष्किधा इत्यादि अनेक कांडों में शिथिलता आ गई है परंतु प्रियप्रवास में ऐसा कहीं नहीं हुआ है।

इस काव्य में भगवान कृष्णचंद्र के लोक-पावन चरित्र का वर्णन किया गया है। हिंदी कवियों के द्वारा कृष्णचरित्र को बहुत विकृत कर दिया गया था। उस कलंक का परिमार्जन कर आपने कृष्ण को उस निखरे हुए रूप में चित्रित किया है जिसमें चित्रित करना पुराणों का ध्येय था। कृष्ण का ईश्वरत्व यदि कभी हाथ से निकल गया तो आपने उसकी इतनी चिंता नहीं की पर पुरुषोत्तम के आसन से आपने उन्हें कभी नीचे नहीं गिराया। व्रजभूमि के निवासियों के हृदयों की रागात्मक वृत्ति के कृष्ण केंद्रीय आलंबन थे। उन पर केवल गोप-कुमारिकाएँ ही नहीं मुग्ध होती थीं किंतु वे आबाल-वृद्ध-वनिता सबके लाड़िले थे, अपने थे, अपने से भी अधिक थे। सबके प्रेम को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए कृष्ण में कौन सी विशेषता थी? प्रेम के आकर्षण के लिए सुंदर स्वरूप तथा सद्गुणों की प्रतिष्ठा आवश्यक है। इन दोनों में से एक-एक से भी काम चल जाता है पर ऐसा आलंबन आदर्श नहीं होता। जिस आलंबन में बाह्य तथा आंतरिक दोनों सौंदर्यों की प्रतिष्ठा हो वही आदर्श हो सकता है कृष्ण पर लोग मुग्ध थे उनके स्वरूप के लिए भी, उनके शुद्ध चरित्र के लिए भी। उनका स्वरूप ही लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने को पर्याप्त था। कुछ आभा देख लेना ही उचित होगाः—

अति समुत्तम अंग समूह था।
मुकुर-मंजुल औ मनभावा॥
सतत थी जिसमें सुकुमारता।
सरसता प्रतिबिंबित हो रही॥
मकर-केतन के कल-केतु से।
लसित थे वर-कुंडल कान में॥
घिर रही जिनके सब ओर थी।
विविध-भावमयी अलकावली॥

मधुरिमा-मय था मृदु बोलना।
अमिय-सिंचित सी मुसकान थी॥
समद थी जन-मानस मोहती।
कमल-लोचन की कमनीयता॥

इस मनोहर स्वरूप से भी अधिक आकर्षक उनकी सुखद लीलाएँ थीं जिनके कारण व्रजभूमि में मंगल की स्थापना तथा प्रतिष्ठा होती थी। एक वृद्ध स्वयं कह रहा है कि व्रज के अनुराग का कारण कृष्णचंद्र के गुण थे। देखिए :—

विचित्र ऐसे गुण हैं व्रजेन्द्र में।
स्वभाव ऐसा उनका अपूर्व है॥
निबद्ध सी है जिनमें नितान्त ही।
व्रजानुराग जन की विमुग्धता॥

अब, हम उन गुणों को भी देख लें जिनके कारण सब लोग उन पर मुग्ध थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि व्रजमंडल में जब जहाँ किसी पर विपत्ति पड़ती थी तो कृष्ण वहाँ उपस्थित ही मिलते थे। देखिए:—

ऐसा निकेत व्रज में न मुझे दिखाया।
कोई जहाँ दुखित हो, पर वे न होवें॥

जब सात दिन तक व्रजभूमि में वृष्टि होती रही और लोग अत्यन्त दुखी हुए तो कृष्ण दिन-रात लोक-रक्षा के कार्यों में तत्पर, इधर से उधर फिरते हुए दिखाई पड़ते थे। देखिए:—

भ्रमण ही करते सबने उन्हें।
सकल काल लखा सप्रसन्नता॥
रजनि भी उनकी कटती रही।
स-विधि रक्षण में व्रजलोक के॥

तथा

यदि व्रजाधिप के प्रिय लाडले।
पतित का कर ये गहते नहीं॥

उदक में घुस तो करते रहे।
वह कहीं जल बाहर श्रम को ॥

ये ही सब बातें थीं जिनके कारण कृष्ण के मथुरा जाने के संवाद से वैसा ही कष्ट हुआ जैसा अपने किसी प्रिय के बिछुड़ने की संभावना से हो सकता था। देखिए ब्रज का एक बूढ़ा आभीर कैसी वेदना से अक्रूर से कोई ऐसी युक्ति पूछ रहा है जिससे प्रियप्रवास टाला जा सकेः—

रोता होता विकल अति ही एक आभीर बूढ़ा।
दीनों के से वचन कहता पास अक्रूर आया ॥
बोला—कोई जतन जनको आप ऐसा बतावें।
मेरे प्यारे कुँवर मुझसे आज न्यारे न होवें ॥

कृष्ण के मुँह को हाथ से छूती हुई देखिए वह वृद्धा क्या कह रही है :—

आई प्यारे निकट श्रम से एक वृद्धा प्रवीणा।
हाथों से छू कमल-मुख को प्यार से ले बलायें ॥
पीछे बोल दुखित स्वर से तू कहीं जा न बेटा।
तेरी माता उधर कितनी बावली हो रही है ॥

राधा तथा कृष्ण बाल्यक्रीड़ा के साथी थे। वय के साथ-साथ उनका स्नेह भी बढ़ता गया: —

युगल का वय साथ सनेह भी।
निपट नीरवता संग था बढ़ा ॥
फिर यही वर-बाल सनेह ही।
प्रणय में परिवर्तित था हुआ ॥

परंतु यह पारस्परिक प्रेम लोक की उपेक्षा करनेवाला न था। जिस प्रेम के उन्माद में सारे कौटुंबिक तथा सामाजिक बंधनों को पैरों से कुचल कर प्रेमी अपना एक पृथक् जगत बना लेते हैं वैसा प्रेम राधा कृष्ण का न था। राधा वायु के द्वारा कृष्ण के पास कुछ संदेश भेज रही है परंतु देखिए इस समय भी उनके चरित्र में हम परदुख-कातरता पाते हैं:—

तेरे जैसी मृदु-पवन से सर्वथा शांतिकामी।
कोई रोगी पथिक पथ में जो कहीं भी पड़ा हो॥
तो तू मेरे सकल दुख को भूल के धीर होके।
खोना सारा कलुष उनका शान्त सर्वांग होना॥

अब यह देख लेना चाहिए कि इस प्रेम की व्यंजना कितनी गंभीर हुई है। स्नेह वृत्तिके अंतर्गत आनेवाले अनेक भावों की ओर उपाध्याय जी की दृष्टि गई है। राधा वायु के द्वारा कोई मौखिक समाचार भेजना नहीं चाहतीं। वे कहती हैं कि तू किसी सूखी लता को कृष्ण के पास जाकर डाल देना उन्हें मेरा स्मरण स्वयं हो जायगा। जब हृदय में प्रेम की सुकुमारता हो तो इतना संकेत पर्याप्त है:—

सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो।
तो तू पाँवों निकट उसको श्याम के ला गिराना॥
यों सीधे तू प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो।
मेरा होना अति मलिन और सूखते नित्य जाना॥

यदि यह कुछ भी करना संभव न हो तो राधा इतने पर भी संतोष करने को प्रस्तुत हैं कि वह वायु कृष्ण के चरण-कमलों का स्पर्श कर एक बार अपना ही आलिंगन उन्हें कर लेने दे। जिसे अपने उस प्रिय का—जिसका स्वयं प्राप्त होना कठिन है—स्पर्श कर लिया है उसके आलिंगन में कल्पना के द्वारा कैसी मिठास तथा शीतलता का अनुभव किया जा सकता है:—

पूरी होवें न यदि तुझसे अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरी विनय इतनी मान ले औ चली जा॥
छू के प्यारे कमलपग को प्यार के साथ आजा।
जी जाऊँगी हृदयतल में मैं तुझी को लगा के॥

जब वे ब्रज की उन कुंजों को देखती है जो कृष्ण के संपर्क से पावन तथा और भी मनोहर हो गई हैं तो उन्हें उनका ही स्मरण हो आता है—

ऐसी कुंजें ब्रज अवनि में हैं अनेकों जहाँ।
आ जाती है युगल दृग के सामने मूर्ति-प्यारी॥

नाना-लीला-ललित जसुदा-लाल ने की जहाँ हैं।
ऐसी ठौरों ललक दृग हैं आज भी लग्न होते ॥

इन पंक्तियों में प्रेमी-हृदय की अनुभूति से संबद्ध कैसी वेदनापूर्ण उक्ति है:

सब तज हमने एक पाया जिसे ही।
अयि अलि उसने है क्या हमें त्याग पाया ॥
हम मुख जिसका ही सर्वदा देखती हैं।
मम दिसि उसको क्यों देखना भी न आया ॥

प्रेम की इस गंभीरता तथा तन्मयता में भी वे लोक को नहीं भूलतीं। वे इतने से भी संतुष्ट हैं कि उनके प्रिय संसार में सुख से जीवित रहें तथा उनके द्वारा लोक का हित होता रहे। वास्तव में नीचे की पंक्ति में जितना त्याग भरा है उतना और कहाँ मिलेगा? इस त्याग का महत्त्व प्रेमी-हृदय ही जान सकते हैं:

"प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें"

आदर्श स्नेह में प्रेमी यह कभी नहीं चाहता कि उसके प्रिय का किसी प्रकार अनिष्ट हो। राधा तथा अन्य गोप-कन्याएँ नंदनंदन के दर्शन को अत्यन्त लालायित हो रही हैं परंतु वे यह कभी नहीं चाहतीं कि यदि किसी अनिष्ट की आशंका हो तो उनके कृष्ण व्रज में आवें:—

संभावना यदि किसी कुप्रपंच की हो।
तो श्याम-मूर्ति व्रज में न कदापि आवें ॥

प्रेमी यह भी चाहता है कि उसका प्रिय भी उससे प्रेम करे। वे उद्धव से पूछती हैं कि कृष्ण उन्हें कभी स्मरण भी करते हैं। उद्धव कहते हैं:—

मैंने देखा अधिकतर है श्याम को मुग्ध होते।
उच्छ्वासों से व्यथित-उर के नेत्र में वारि लाते ॥

भौंरों को लक्ष्य कर प्रेम के बड़े करुण उद्गार प्रकट किए गए हैं:—

कुछ पद उनसे, हैं चित्त मोद पाता।
छिति पर जिनकी हूँ श्यामली मूर्त्ति पाती ॥

वायु से संदेश कहते समय कालिदास के मेघदूत का अनुकरण किया गया है। परंतु इस अनुकरण में एक त्रुटि रह गई है। मेघदूत की विरहिणी के उद्गारों में प्रेम की एक स्निग्ध धारा सदा प्रवाहित होती रहती है। उपाध्याय जी ने इस प्रसंग का कुछ अनावश्यक विस्तार कर दिया है। मुख्य बात की ओर से पाठक का ध्यान कुछ हट-सा जाता है।

बाह्य दृष्टि से असंभव सी प्रतीत होती हुई पौराणिक गाथाओं का लौकिक दृष्टि म सामंजस्य भी किया गया है। यह आधुनिक युग के तर्कवाद की प्रेरणा से हुआ है। तृणावर्त्त, पूतना, बकासुर इत्यादि को मारने तथा उंगली पर गोवर्धन पर्वत को उठाने इत्यादि की कथाओं को ऐसे रूप से लिखा गया है कि वे आधुनिक युग के अनुकूल हो गई हैं। एक उदाहरण ले लेना पर्याप्त होगा। गोवर्धन धारण की कथा के विषय में लिखा गया है कि वास्तव में कृष्ण ने इधर-उधर दौड़ कर लोगों की रक्षा करने में इतनी तत्परता दिखाई कि लोग कहने लगे कि मानो कृष्ण ने इस पर्वत को उँगली पर ही उठा लिया हो:—

लख अपार—प्रसार—गिरीन्द्र में।
ब्रज-धराधिप के प्रिय-पुत्र का॥
सकल लोग लगे कहने, उसे।
रख लिया है उँगली पर श्याम ने॥

अभी तक प्रियप्रवास के भावपक्ष पर विचार होता आया है। अब उसके बाह्य दृश्य-चित्रण पर भी विचार कर लेना है। कवियों द्वारा बाह्य दृश्यों के जो चित्रण किए गए हैं उनको हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। कुछ कवि ऐसे हैं जो यह मान लेते हैं कि प्रकृति मनुष्यों के सुख-दुख से उदासीन है। दूसरे ऐसे कवि हैं जो प्रकृति के हृदय में मनुष्य समाज के प्रति करुणा, सहानुभूति इत्यादि भावों का अस्तित्व मानते हैं। उपाध्याय जी का भी यही सिद्धांत प्रतीत होता है। इनके पात्र जब दुखी रहते हैं तो प्रकृति भी दुखमग्न प्रतीत होती है और जब पात्र सुख में रहते हैं तो प्रकृति में चतुर्दिक आनंद छाया हुआ दिखाया

जाता है। पात्रों की दृष्टि से तो ऐसा होना स्वाभाविक ही है परन्तु कवि जब ऐसा वर्णन करता है तो हमें यह मानना पड़ेगा कि उसका यह सिद्धांत ही है। ऐसे वर्णन कभी तो हेतूत्प्रेक्षा अलंकार की सहायता से किए गए हैं और कभी आलंकारिक युक्तियों का आश्रय बिना ग्रहण किए हुए भी। देखिए:—

विकलता लखके व्रज-देवि की।
रजनि भी करती अनुताप थी॥
निपट नीरव ही मिस ओस के।
नयन से गिरता बहु-वारि था॥

स्वरूपों का चित्रण उपाध्याय जी उसी कला से करते हैं जो एक चित्रकार में होती है। कुछ रेखाओं के योग से चित्रपट पर चित्रकार स्वरूपों का अंकन करता है। कवि की सहायता के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्द उपस्थित रहते हैं। उसका कौशल इन शब्दों को एक कला से प्रयुक्त करने में है। उपाध्याय जी में यह कला सदा बनी रहती है। यशोदा के मंदिर में जलता हुआ एक निस्तब्ध दीपक रखा है। पाठक उसकी शिखा, उसके ऊपर का धूम इत्यादि सब देख सकते हैं:—

वदन से तजके मिस धूमके।
शयन-सूचक श्वास समूह को॥
झलमलाहट-हीन-शिखा लिए।
परम निद्रित सा गृह दीप था॥

और भी जितने प्राकृतिक दृश्यों को उपाध्याय जी ने लिया है उनका वर्णन बड़ी सफलता से किया है। कुछ स्थलों पर केशवदास जी का भी प्रभाव पड़ गया है। केशवदास जी वर्णन करते समय देश, काल आदि का विचार नहीं रखते थे। ऐसा ही इस वर्णन में हुआ है:—

जंबूअंब कदंब निंब फलसा जंबीर औ आँवला।
लीची दाड़िम नारिकेल इमिली औ शिंशपा इंगुदी॥
नारंगी अमरूत बिल्व बदरी सागौन शालादि भी।
श्रेणी-बद्ध तमाल ताल कदली औ शाल्मली ये खड़े॥

सौभाग्यवश ऐसा बहुत स्थलों पर नहीं हुआ है। प्रियप्रवास में वर्षा आदि ऋतुओं के वर्णन भी बहुत सुंदर हुए हैं। बिजली के चमकने, मेघों के गरजने इत्यादि के दृश्य तथा शब्द, सबकी ओर कवि का ध्यान है। नीचे की पंक्तियों में प्रचंड प्रभंजन का शब्द तथा बादल के गरजने की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है:—

मथित चालित ताड़ित हो महा।
अति प्रचंड-प्रभंजन-पुंज से ॥
जलद थे दल के दल आ रहे।
घुमड़ते घिरते व्रज-घेरते ॥

अलंकार-विधान में उपाध्याय जी की कला सदा संयत रही। चमत्कार के लिए इन्होंने अलंकारों का प्रयोग कभी नहीं किया। सादृश्य पर निर्भर रहनेवाले उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारों का ही प्रायः प्रयोग हुआ है। दूर-दूर से अनावश्यक अप्रस्तुतों को—उपमानों को—पकड़-पकड़ कर कभी नहीं लाया गया है। प्रकृति के रमणीय दृश्यों से ही वे अपना काम चला लेते है। ऐसा करने से काव्य में आलंकारिक कृत्रिमता नहीं आने पाती। नीचे के दृश्य में वक्र गति से लपकते हुए कौंधे का वर्णन कैसा सुंदर हुआ है:—

नव-प्रभा परमोज्ज्वल लीक सी।
गति अति कुटिला-फणिनी-समा ॥
दमकती दुरती घन-अंक में।
विपुल केलि-कला-खनि दामिनी ॥

रात्रि के समय में वायु के मंद होने के विषय में यह कल्पना कैसी सुंदर है:—

परम धीर समीर-प्रवाह था।
वह मनो कुछ निद्रित था हुआ ॥

अप्रस्तुत विधान करते समय प्रायः कवि लोग गोचर विधान की ओर भी दृष्टि रखते हैं। गोचर प्रस्तुतों के गोचर अप्रस्तुत तो लाते ही हैं, अदृश्य अगोचर प्रस्तुतों के दृश्य उपमान भी प्रस्तुत करते हैं परंतु ऐसा

करना नितान्त आवश्यक नहीं। कुछ अगोचर पदार्थों के अस्तित्त्व का अनुभव भी हम इतनी मूर्तिमत्ता के साथ करते आए हैं कि वे गोचर बाह्य पदार्थों के समान ही हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष से रहते हैं। देखिए, नीचे की पंक्तियों में गोचर जल का कैसा अगोचर प्रस्तुत विधान किया गया है:—

कहीं कहीं था विमलाम्बु भी भरा।
सज्जनों के उर-सा पियूष-सा॥

उपाध्याय जी के ऊपर प्रायः यह आक्षेप किया जाता था कि इनकी भाषा में संस्कृतपदावली का इतना अधिक प्रयोग होता है कि उसमें क्लिष्टता आ जाती है। अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए लोग प्रिय-प्रवास में से खोजकर उदाहरण भी दे देते हैं। परंतु वास्तव में उन उदाहरणों के द्वारा उनकी भाषा के विषय में कुछ निर्णय करना अपने को भ्रम में डालना है। विनय-पत्रिका के प्रारंभ में तुलसीदास जी ने जो भाषा लिखी है उसके आधार पर तुलसी के विषय में कोई निर्णय करना न्यायसंगत नहीं हो सकता। उसी प्रकार खोजकर प्रस्तुत किए हुए पद्यों के आधार पर क्लिष्टता का आरोप करना अन्याय ही है। हमारी भाषा में संस्कृत-पदावली सदा से ग्रहण होती आई है। ऐसा ही करके उपाध्याय जी ने कौन सी ऐसी बात की जो लोग नाक भौं सिकोड़ने लगे? उनकी भाषा का प्रवाह बड़ी मधुर ध्वनि से आगे अग्रसर होता है। संस्कृत के प्रवाह के साथ ही साथ व्रजभाषा का भी प्रभाव इनकी भाषा पर पड़ा है। क्रिया-पद तक व्रजभाषा के अनुसार रख दिए गए हैं। संस्कृत के व्याकरण का अनुशासन माननेवाली पूर्वकालिक क्रियाओं के प्रयोग भी हुए हैं। कहीं-कहीं पर विभक्तियों का लोप भी कर दिया गया है। एक कवि के लिए ऐसी कुछ सुविधाओं से लाभ उठाना आवश्यक ही होता है। बड़े-बड़े काव्य लिखते समय व्याकरण की 'नादिर-शाही' में रहने से कैसे काम चल सकता है? परंतु व्याकरण के ऐसे नियमों का उल्लंघन एक सीमा तक ही क्षम्य हो सकता है। उपाध्याय जी उस सीमा के आगे कभी नहीं बढ़े। प्रियप्रवास में मुहावरों

का प्रयोग बहुत कम हुआ है। इस कमी की पूर्त्ति इनकी आजकल की रचनाएँ कर रही हैं। अपने चौपदों में मुहावरों का बड़ा सुंदर प्रयोग किया है इनकी भाषा अत्यंत सरल तथा व्यवहारोपयोगी रखी गई हैं पर भाव बहुत ही गंभीर हैं। एक उदाहरण:—

है उसी एक की झलक सब में,
हम किसे कान कर खड़ा देखें।
तो गड़ेगा न आँख में कोई
हम अगर डीठ को गड़ा देखें।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती' के संपादन कार्य ग्रहण करने के पहले ही द्विवेदी जो ब्रजभाषा तथा खड़ो बोली दोनों में काव्य रचनाएं करते आते थे। बाद में आप खड़ी बोली के पूर्ण पक्षपाती हो गए। सरस्वती अपने समय की मुख्य साहित्यिक पत्रिका थी। अतः उसके संपादक के विचारों का प्रभाव साहित्य पर पड़ना अवश्यंभावी था। संभवतः आप का सिद्धांत सीधी भाषा में काव्यरचना करना रहा है। काव्य का उद्देश्य भाव संचार करना होता है। इस कार्य के लिए भाषा को भी एक विशेष रूप धारण करना पड़ता है। जो कवि इससे विपरीत सिद्धांत को लेकर चलते हैं उनमें कवित्व की मात्रा उतनी नहीं आने पाती। द्विवेदी जी की रचनाओं में भी भावों को जाग्रत करने वाली मार्मिकता नहीं मिलती। आप सहृदय तथा काव्य के मर्मज्ञ थे अतः स्वयं उच्चकोटि की रचना करने में समर्थ न होने पर भी काव्य जगत् में आप के द्वारा बहुत उपकार का कार्य किया गया। आपके प्रभाव से तथा उत्साह दिलाने से अनेक कवि काव्य रचना की ओर उन्मुख होते रहे। बाबू मैथिलीशरण गुप्त आदि तो आपके शिष्यों में ही हैं। पंडित रामचरित उपाध्याय, पंडित लोचन-प्रसाद पांडेय आदि पर भी आपका कम प्रभाव नहीं पड़ा है। आपके प्रत्यक्ष प्रभाव से अलग रहने पर भी इस काल के अनेक और कवियों पर भी अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता ही रहा। कम-से-कम काव्य-भाषा की शुद्धता की ओर आपका जो ध्यान रहता था उसके कारण प्रायः कवियों को सतर्क रहना पड़ता था। यह उपकार भी कम नहीं है।

आप अपनी कविताओं में दो प्रकार की भाषाओं का प्रयोग करते थे। एक में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य रहता था दूसरी में साधारण प्रचलित शब्दों का आधिक्य। दो उदाहरण देकर हम आगे बढ़ते हैं:—

मूल्यवान मंजुल शय्या पर पहले निशा बिताता था;
सुयश और मंगल गीतों से प्रात जगाया जाता था।
वही, आज, तू कुश-काशों से युक्त भूमि पर सोता है!
श्रुति-कर्कश शृगाल-शब्दों से हा हा! निद्रा खोता है!!

* * * *

तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज! महाराज!
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना दाना को महताज।
तुम्हें षण्ड कर देते हैं जो महानिर्दयीजन-सिरताज।
धिक उनको, उन पर हँसता है, बुरी तरह, यह सकल समाज।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त—द्विवेदी जी के संपादन-काल में गुप्त जी की रचनाएँ सरस्वती में निकला करती थीं। प्रारंभिक रचनाओं में वैसी विशेषता प्रतीत नहीं होती थी। क्रमशः आपकी प्रतिभा का विकास होता गया और श्रेष्ठ कवियों की गणना में आप आ गए। 'गुरुकुल' की भूमिका में आपने बड़े संकोच से यह आशंका प्रकट की कि समय की नवीन आकांक्षाओं की पूर्ति में योग न देने के कारण आप पिछड़ते जा रहे हैं। वास्तव में कभी-कभी ऐसी आशंका औरों को भी होने लगती है। उसी समय कोई न कोई श्रेष्ठ रचना लेकर आप प्रकट हो जाते हैं और हमें आश्चर्य में डाल देते हैं। प्रतिनिधि राष्ट्रीय कवि कहे जाने के आप पूर्ण अधिकारी हैं। आपके काव्य हिंदी-भाषा-भाषियों की आकांक्षाओं तथा विचारों के प्रतिनिधि होते हैं। सबसे पहले 'भारत-भारती' नामक काव्य लेकर आप सामने आए थे। इस काव्य में हमारी अतीत काल की गौरवपूर्ण अवस्था तथा वर्तमान काल की विपन्नावस्था पर आपने अच्छा प्रकाश डाला था और साथ ही उज्ज्वल भविष्य का भी संकेत किया था। यह पुस्तक विचारों पर गहरा प्रभाव डालनेवाली हुई। भावना-क्षेत्र में स्पंदन करनेवाली सामग्री का अभाव होते हुए भी इस पुस्तक का बड़े उत्साह

से स्वागत किया गया। जब विषय अपने अनुकूल होता है तो उच्चकोटि के काव्य की प्रतिष्ठा न होने पर भी ग्रंथ का स्वागत होता ही है। जिस उद्देश्य को लेकर इस ग्रंथ की रचना हुई थी उसी को दृष्टि में रख कर हिंदू नामक काव्य-ग्रंथ की रचना की गई। इस ग्रंथ की भूमिका में लेखक ने लिखा है कि उसके सम्मुख गीता का आदर्श था। जिस विषय को लेकर "हिंदू" लिखी गई उस विषय में अधिक कवित्व की आशा करना ही व्यर्थ है। फिर भी जब कभी हिंदुओं को अपने को एक सूत्र में बँधे देखने की अभिलाषा होगी तो यह पुस्तक बहुत बड़ा कार्य कर सकेगी।

क्रमशः गुप्तजी की रचनाओं में सरसता तथा मार्मिकता की मात्रा बढ़ती गई। 'जयद्रथ-वध' में वीर तथा करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है। इधर 'साकेत' नाम का एक बृहद् प्रबंधकाव्य प्रकाशित किया है। साकेत की भूमिका में आपने लिखा है "मैं चाहता था कि मेरे साहित्यिक जीवन के साथ ही 'साकेत' की समाप्ति हो" इस वाक्य ने हमें निराश कर दिया था परंतु कुछ ही दिनों के पश्चात् 'यशोधरा' प्रकाशित हुई। आप वृद्ध हो रहे हैं और इतने परिश्रम के पश्चात् शैथिल्य का अनुभव भी करते होंगे। परंतु स्वार्थ अंधा है। हम तो यही चाहते रहेंगे कि आप की रचनाओं का क्रम चलता ही रहे। कम-से-कम हसन-हुसेन के ऊपर जो प्रबंधकाव्य आप लिखने का विचार कर रहे थे वह तो पूरा ही हो जायगा ऐसी हमारी कामना है।

वैष्णव-संप्रदाय पर अनन्य आस्था रखते हुए भी आप अनुदार नहीं हैं। 'गुरुकुल' आदि पुस्तकों की रचना आप के हृदय की विशाल सहानुभूति का ही साक्षी देती है। भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध में भी आपने 'अनघ' तथा 'यशोधरा' ये दो पुस्तकें लिखी हैं। 'अनघ' में भगवान बुद्ध के पूर्व अवतारों में से एक का वर्णन है। मघ का चरित्र बहुत ही पावन है। वास्तव में मघ, अनघ ही थे। बड़े अनुराग से लेखक ने उनका चरित्र अंकित किया है। संभवतः मघ के चरित्र का प्रतिरूप लेखक को आज कल कहीं दृष्टिगोचर हुआ है।

साकेत—किसी भी काव्य के सब पात्रों को एक सा महत्त्व नहीं दिया जा सकता। जिस आदर्श को प्रतिष्ठा के लिए काव्य लिखा जाता है उसमें सहायता पहुँचानेवाले पात्रों को महत्त्व प्राप्त होता है। जो पात्र उस आदर्श की स्थापना में विघ्न उपस्थित करनेवाले होते हैं उनका पतन अंकित किया जाता है। इन दोनों मुख्य पात्रों के नायक प्रतिनायकों के-स्वरूप को पूर्णता देने के लिए तथा कथा के क्रम को आगे बढ़ाए रखने को अनेक उपपात्र भी आते हैं। इन उपपात्रों को अधिक महत्त्व दे देने से मुख्य आदर्श पर आघात पहुँचता है। इन उपपात्रों के स्वरूप तथा चरित्र कभी-कभी बहुत ही मनोहर होते हैं। फिर भी कवि बड़ी कठोरता से अपने मुख्य पात्रों पर दृष्टि रखता है तथा अन्य पात्रों की यदि कभी उपेक्षा भी हो जाती है तो उस पर उतना ध्यान नहीं देता।

रामायण के कथानक में उर्मिला का चरित्र बड़े त्याग का है। पर यदि उस चरित्र को रंगमंच पर आने दिया जाता तो पाठकों की दृष्टि अशोक-वाटिका में बैठी हुई सीता के आँसुओं की ओर उतनी न जा पाती। इसीलिए उर्मिला की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया। गुप्त जी उर्मिला के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी इस बात को समझते थे। अतः उन्होंने संपूर्ण रामायण न लिख कर कथा का वह अंश अलग कर लिया जिसके केंद्रीय स्थान में उर्मिला की प्रतिष्ठा थी। साकेत के प्रारंभिक सर्गों में ही उर्मिला तथा लक्ष्मण का प्रवेश हुआ है, इससे यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि कवि का ध्यान उर्मिला की ओर अधिक था। फिर कवि ने ग्रंथ का नाम साकेत क्यों रखा? इस नाम के चुनाव में भी कवि ने बड़ी भावुकता तथा सहृदयता से काम किया है। वे नहीं चाहते थे कि उर्मिला इतना बाहर चली आवे कि सीताराम के पावन चरित्र को भी अच्छादित कर ले। उर्मिला साकेत में भी उपेक्षिता ही रही पर कवि ने अपने श्रद्धाश्रु उसके चरणों पर अर्पित कर दिए।

अयोध्या का समाज दो भागों में विभक्त हो गया था। एक भाग वन में था एक भाग साकेत में। भगवान रामचंद्र के उपासक होते

हुए भी गुप्त जी उर्मिला से इतने प्रभावित हुए कि वे वनयात्रा में राम के साथ न जा सके। साकेत के समाज ही में वे विचरण करते रहे। जिस समय साकेत स्थित समाज चित्रकूट पर गया था उस समय कवि थोड़े समय के लिए वनयात्रा में रामचंद्र जी के साथ हो लेता है। इन दो खंडों में समाजों के विभक्त होने पर भी कथा के प्रवाह को खंडित नहीं किया गया है। वनयात्रा, राक्षसों के वध आदि की कथाएँ पाठकों को साकेत में ही सुनने को मिल जाती हैं। बहुत सा समाचार एक पथिक के द्वारा सुना जाता है। हनूमान जी जब संजीवनी लेने आते हैं तो बीच की कथा उनके द्वारा सुना दी जाती है। साकेत-निवासी जब भगवान रामचंद्र के ऊपर पड़ने वाली अनेक विपत्तियों के समाचार सुनते हैं तो वे सहायता देने के लिए लंका जाने को स्वयं प्रस्तुत होने लगते हैं। जब सब तैयारियाँ पूर्ण हो जाती हैं तो वहाँ पर वशिष्ठ आते हैं और योग दृष्टि से लंका में होनेवाली सब घटनाओं को अयोध्या के निवासियों को दिखा देते हैं:—

मंत्र-यष्टि सी जहाँ उन्होंने भुजा उठाई,
दूर दृष्टि-सी एक साथ ही सबने पाई।

लोग जब यह देख लेते हैं कि भगवान अब लौटने ही वाले हैं और शत्रुओं का संहार हो चुका है तो वे स्वागत करने के लिए प्रस्तुत होने लगते हैं।

प्रबंध कल्पना तथा चरित्र चित्रण में तुलसीदास जी से गुप्त जी बहुत अंशों में प्रभावित हुए हैं। कैकेयी-मंथरा के संवाद पर तुलसी की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। बहुत स्थानों पर वाल्मीकि-रामायण का भी प्रभाव पड़ा है। गुप्त जी की अनेक स्वतंत्र कल्पनाएँ भी हैं। उर्मिला के चरित्र के लिए पहले की रामायणों में केवल संकेत ही मिलता है। उस संकेत सूत्र की सहायता से बहुत ही भव्य चित्र अंकित किया गया है। लक्ष्मण का चरित्र अधिक उग्र हो गया है। इतनी उग्रता अयोध्या के उस राज-प्रासाद में शोभा नहीं देती। उग्रता के लिए गुरुवर्ग के प्रति उद्धत होना आवश्यक नहीं। तुलसी के लक्ष्मण जब कभी आवेश में होते थे तो उनके नियंत्रण के लिए रामचंद्र जी का एक संकेत ही पर्याप्त होता था।

परंतु साकेत में लक्ष्मण ने इन मर्यादाओं की ओर भी ध्यान नहीं दिया जिनकी रक्षा दूसरों के चरित्र की प्रतिष्ठा के लिए तथा इस कुटुंब को आदर्श कुटुंब सिद्ध करने के लिए भी, आवश्यक थी। जब भरत वन में पहुँचते हैं तो देखिए हम लक्ष्मण को क्या कहते हुए पाते हैं:—

उनको इस शर का लक्ष्य चुनूँगा क्षण में,
प्रतिषेध आप का भी न सुनूँगा रण में।

एक बार कैकेयी के ऊपर भी हम लक्ष्मण को क्रुद्ध होते देख चुके हैं। जब तक गुरुवर्ग के अपराधों का न्याय करना पुत्रों का अधिकार न माना जायगा तब तक लक्ष्मण के वे उग्र वचन जो उन्होंने कैकेयी से कहे थे लोगों को खलते रहेंगे। देखिए:—

अरे मातृत्व तू अब भी जताती,
ठसक किसको है भरत की बताती।
भरत को मार डालूँ और तुझको,
नरक में भी न रक्खूँ ठौर तुझको।
खड़ी है माँ बनी जो नागिन यह,
अनार्या की जनी, हत भागिनी यह।
अभी विषदन्त इसके तोड़ दूँगा,
न रोको तुम तभी मैं शांत हूँगा।

यहीं तक नहीं, एक बार भगवती सीता के सामने भी लक्ष्मण आपे से बाहर होने लगे थे। प्रसंग उस समय का है जब भगवान् रामचंद्र के मारीच-वध के लिए जाने पर, विपत्ति की आशंका से सीता ने लक्ष्मण से भी जाने को कहा था:—

उठा पिता के भी विरुद्ध मैं, किन्तु आर्य-भार्या हो तुम,
इससे तुम्हें क्षमा करता हूँ, अबला हो आर्या हो तुम।

लक्ष्मण के चरित्र की इस उग्रता के लिए वाल्मीकि रामायण में कुछ आधार अवश्य मिल जाता है परंतु हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त जी आदि कवि से भी आगे निकल गए। कम-से-कम उर्मिला का मुँह देख कर ही यदि लक्ष्मण पर दया की जाती तो अधिक उचित हुआ

होता। रणभूमि में लक्ष्मण के स्वरूप को हम एक वीर पुरुष के ही रूप में पाते हैं। घोर विपत्तियों के बीच में घिरे रहने पर भी क्षण भर को भी उनका उत्साह भंग नहीं होता। संजीवनी पाकर जब वे उठते हैं तो कैसे उत्साह से हम उन्हें इंद्रजीत को संबोधित करते पाते हैं—

जाग उठे सौमित्रि-सिंह यह कहते कहते,
"धन्य इन्द्रजीत! किन्तु सम्हल बारी अब मेरी"

कैकेयी के चरित्र का जो आकस्मिक पतन हम अयोध्या में देख चुके हैं उसको ऊपर उठाने का बहुत प्रयत्न गुप्त जी ने चित्रकूट के प्रसंग में किया। कैकेयी को राम से द्वेष न था। वास्तव में वह राम से अत्यंत स्नेह करती थी। चित्रकूट में उसने राम के बाल्यकाल की मधुर चर्चा स्वयं की है। राम कैकेयी से हिले हुए थे। स्वप्न में जब कैकेयी को देखते थे तो कौशल्या के पास लेटे रहने पर भी वे रोने लगते थे और तब तक शांत न होते थे जब तक मझली माँ के पास पहुँचा न दिए जाते थे। यही कहानी कैकेयी बड़ी वेदना से अपने राम से कह रही है:—

होने पर बहुधा अर्ध रात्रि अँधेरी
जीजी आकर करतीं पुकार थीं मेरी—
'लो कुहकिनी, अपना कुहुक, राम यह जागा,
निज मँझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा।'

जब मंथरा ने कैकेयी को क्रुद्ध करनेको अनेक बातें कहीं तो उसने कहा—

रोक कर कैकेयी ने रोष,
कहा—'देती है किसको दोष!
राम की माँ कल या आज,
कहेगा मुझे न लोक-समाज!"

किंतु जब कैकेयी को यह सुझाया जाता है कि भरत को जानबूझ कर मामा के यहाँ भेज दिया गया है तो वास्तव में वह क्षुब्ध हो उठती है:—

गई दासी, पर उसकी बात
दे गई मानो कुछ आघात—
भरत-से सुत पर भी सदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह!'

जब जो अनिष्ट होना था वह हो लेता है तो उसकी आँखें खुलती हैं। चित्रकूट में हम उसे पश्चात्ताप की मूर्ति-सी पाते हैं। तुलसी की रामायण में वह वहाँ भी मौन ही रहती है। परंतु गुप्त जी की करुणा कैकेयी को चित्रकूट में मौन न रख सकी। जब राम ने भरत को गले से लगाते हुए यह कहा कि:—

"उसके आशय की थाह मिलेगी किसको,
जन कर जननी ही जान न पाई जिसको?"

तो कैकेयी की विषाद भरी वाणी अचानक सुनाई पड़ती है:—

'यह सच है तो अब लौट चलो तुम घरको"
चौंके सब सुन कर अटल केकयी-स्वर को।
सबने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु-लेखा।
बैठी थी अचल तथापि असंख्यतरंगा,
वह सिंही अब थी हहा! गोमुखी गंगा—
हाँ, जन कर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें तुमने स्वयं अभी यह माना।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया।
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया।

कैकेयी की करनी से सके भरत भी—जिनके लिए उसने इतना बड़ा कलंक अपने ऊपर लिया—उससे छीने जा रहे थे। यही वेदना उसकी इन पंक्तियों से प्रकट होती है:—

थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके कहे क्यों चूके?
छीने न मातृपद किंतु भरत का मुझसे,
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे?

इन पंक्तियों से कैसी आत्मग्लानि प्रकट होती है:—

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।'

निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।'—

यह राम से इस प्रकार लौट चलने के लिए कहती है:—

मैंने इसके ही लिए तुम्हें वन भेजा।
घर चलो इसी के लिए, न रूठो अब यों,
कुछ और कहूँ तो उसे सुनेंगे सब क्यों?
मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,
मेरे दुगने प्रिय रहो न मुझसे न्यारे,

कैकेयी के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए चित्रकूट का यह प्रसंग अत्यंत आवश्यक था। भरत के चरित्र पर अत्यंत श्रद्धा रखने के कारण कैकेयी के चरित्र की इस स्थल पर रामचरितमानस में कुछ उपेक्षा कर दी गई है। परंतु इस उपेक्षा में सहानुभूति की कुछ कमी-सी प्रतीत होती है। कैकेयी कैसी भी थी, भरत की माँ थी। कम से कम इसी नाते उसके चरित्र को स्पष्ट कर देना आवश्यक था। गुप्त जी ने इस प्रसंग की योजना कर प्रबंधकाव्य के आदर्श की अच्छी रक्षा की है और स्वयं रामचंद्र जी के मुँह से निकले हुए इन शब्दों से कैकेयी का कलंक बहुत कुछ धुल सा गया है:—

"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।"

भरत का पावन चरित्र भी बड़ी कुशल लेखनी से अंकित किया गया है। उर्मिला के बाद यदि किसी पात्र पर गुप्त जी का अधिक ध्यान गया तो भरत पर ही। नीचे की पंक्तियों में भगवान की पादुकाओं के पास बैठे हुए पुजारी भरत के पावन दर्शन कर लें:—

केवल पादपीठ, उस पर हैं, पूजित युगल पादुकाएँ,
स्वयं प्रकाशित रत्न-दीप हैं दोनों के दायें बायें।
उटज-अजिर में पूज्य पुजारी उदासीन-सा बैठा है,
आप देव विग्रह मंदिर से निकल लीन-सा बैठा है,
मिले भरत में राम हमें तो, मिले भरत को राम सभी;
वही रूप है वही रंग है, वही जटाएँ, वही सभी!

उर्मिला के चरित्र के विषय में कुछ कहने से पहले हम भगवती सीता देवी के दर्शन वनमार्ग में एक बार कर लें। किसी स्त्री के द्वारा इन दोनों राजकुमारों तथा भगवती के पारस्परिक सबंध के विषय में प्रश्न किया गया है देखिए उत्तर की प्रणाली:—

गोरे देवर, श्याम उन्हीं के ज्येष्ट हैं।
वैदेही यह सरल भाव से कह गईं,
तब भी वे कुछ तरल हँसी हँस रह गईं॥

इसी भाव पर अयोध्याकांड में तुलसीदास जी ने भी लिखा है:—

बहुरि बदनुबिधु अंचल ढाँकी। पियतन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिनहिं सिय सयननि॥

नेत्रों को इस प्रकार से बाँका करना सीता जी के गंभीर स्वभाव के उतना अनुकूल नहीं पड़ा। संस्कृत के प्रसिद्ध श्लोक के अनुवाद करने की धुन में गोस्वामी जी कुछ ऐसा कह गए जैसा कहना संभवतः वे भी न चाहते रहे होंगे। "कुछ तरल हँसी हँस रह गईं" में कितनी गंभीरता तथा शील-संकोच है।

गुप्त जी की करुणा तथा सुकुमार कल्पना का सब से बड़ा भाग उर्मिला देवी को मिला। जब वन जाने का प्रसंग छिड़ा हुआ था तो लजीली उर्मिला की ओर दृष्टि कर सीता ने कहा था:—

"आज भाग्य है जो मेरा,
वह भी न हुआ हा! तेरा!"

उर्मिला सीता को वन में भी विस्मृत न हुई। एक बार सीता ने अपनी अनुजा की मूर्ति बनाई थी। इस मूर्ति को देखने से पाठक समझ सकेंगे कि सीता के उनके विषय में कैसे विचार थे:—

देवर के शर की अनी बनाकर टाँकी,
मैंने अनुजा की एक मूर्ति है आँकी।
आँसू नयनों में हसी बदन पर बाँकी।
काँटे समेटती, फूल, छींटती झाँकी।

वास्तव में अपनी तपश्चर्या तथा त्याग के द्वारा उर्मिला ने सीताराम

के मार्ग में फूल छींटने ही का काम किया था। अपने हृदय की वेदना हृदय में ही रखकर उसने मुँह पर की मुस्कराहट कभी हटने न दी। उर्मिला की माँ ने जब चित्रकूट में उससे कहा था कि बेटी न तो तुझे वन ही मिला न घर तो उन्होंने इस देवी को समझने मे भूल ही की थी:—

साल रहा सखि, माँ की
झाँकी वह चित्रकूट की मुझको,
बोलीं जब वे मुझसे—
'मिला न वन ही न गेह ही तुझको !'

यद्यपि उर्मिला को चौदह वर्ष का लंबा वियोग भोगना पड़ा फिर भी उसके संतोष के लिए कुछ न कुछ सामग्री उसके पास अवश्य थी। उसे इस बात का संतोष था कि उसके प्रियतम गौरवान्वित हो रहे हैं:—

प्रियतम के गौरव ने
लघुता दी है मुझे, रहें दिन भारी।
सखि, इस कटुता में भी
मधुर स्मृति की मिठास, मैं बलिहारी !

एक बार चित्त व्यवस्थित न रहने से जब वह स्वप्नावस्था-सी एक विशेष अवस्था में थी तो उसे यह भ्रम हुआ कि लक्ष्मण वन से लौट आए हैं। यदि केवल वियोग की ही प्रधानता रही होती तो प्रिय के मिलने की यह संभावना उसके आनंद का कारण हुई होता। परंतु ऐसा नहीं हुआ। उसे यह समझकर बड़ी वेदना हुई कि लक्ष्मण राम सीता को वन में ही छोड़कर चले आए हैं:—

च्युत हुए अहो नाथ, जो यथा,
धिक ! वृथा हुई उर्मिला-व्यथा।
समय है अभी, हा ! फिरो, फिरो,
तुम न यों यशः स्वर्ग से गिरो।
प्रभु दयालु हैं, लौट के मिलो,
न उनके कुटी-द्वार से हिलो।

उसका सिद्धांत वही था जो उसने कुछ इने-गिने शब्दों में लक्ष्मण को संबोधन कर कहा था:—

तुम व्रती रहो;
मैं सती रहूँ ।

उसे इस विचार से बड़ा आनंद प्राप्त होता था कि उसके लक्ष्मण कठोर कर्म का पालन करके अपने को श्रेष्ठ बना रहे हैं:—

तुम बड़े, बने और भी बड़े,
तदपि उर्मिला-भाग में पड़े।

इन उद्गारों से विपरीत प्रतीत होते हुए जो भाव हैं उन्हें हमें वियोग-जन्य वेदना का फल ही समझना चाहिए। आत्मविस्मृत होकर वह त्यागिनी ऐसी विनम्र प्रार्थनाएं भी किया करती थी:—

मन को यों मत जीतो,
बैठी है यह यहाँ मानिनी, सुध लो इसकी भी तो!

अपने ऊपर जब दुःख पड़ता है तो मन अपने-से दूसरे दुखियों को खोजा करता है क्योंकि वह जानता है कि उसी के समान दुखी जनों को उससे वास्तविक सहानुभूति हो सकती है। उर्मिला भी अपनी सखी से नगर में से प्रोषितपतिकाओं को लाने को कहती है:—

प्रोषितपतिकाएँ हों
जितनी भी सखी, उन्हें निमंत्रण दे आ,
समदुःखिनी मिलें तो
दुःख बँटे, जा, प्रणयपुरस्सर ले आ।

वह दिन भर स्वप्न में उनको देखने की आशा लगाए रहती है। पर कभी-कभी तो ऐसा होता है कि नींद ही नहीं आती और प्रिय के स्वप्न से भी वंचित रह जाती है। कभी उसे ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मण लौटकर आ गए हैं और ओट से खड़े उसकी ओर देख रहे हैं:—

विचारती हूँ सखि, मैं कभी कभी,
अरण्य से हैं प्रिय लौट आते।
छिपे छिपे आकर देखते सभी
कभी स्वयं भी कुछ दीखे जाते।

उर्मिला के प्रसंग में दो-चार स्थलों पर बड़ी अद्भुत अलंकार-योजना

की गई है। जब कोई वस्तु पानी में डूबती है तो चारो ओर छींटे उछलने लगते हैं। वियोगावस्था में प्रिय मानसरोवररूपी हृदय के गंभीरतम अंतस्तल में प्रविष्ट हो जाता है। नीचे की पंक्तियों में यही बात कही गई है। 'मानस' शब्द का श्लेष भी कैसा सुंदर हुआ है जो दोनों पक्षों की एक साथ रमणीयता संपादित करने में समर्थ हुआ है:—

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे;
छींटे वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे!

कुछ-कुछ इसी प्रकार के बाह्य साम्य पर निर्भर एक सुंदर सा अप्रस्तुत विधान और किया गया है। सूर्य के डूबने के पश्चात् तारागण आकाश को धीरे-धीरे आच्छादित करने लगते हैं। कवि कल्पना करता है कि सूर्य के समुद्र में डूबने से जो छींटे उड़े हैं वे ही ये तारे हैं:—

लिख कर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा!
व्योम-सिंधु सखि, देख, तारक—बुद्बुद दे रहा।

वन से लक्ष्मण के लौट आने पर दोनों के मिलने का प्रसंग भी बहुत ही सुंदर हुआ है। उर्मिला अपनी सखी से यह कह कर पुष्प लाने को कहती है कि वनवासी के लिए फूलों की भेंट ही अच्छी है। इतने ही में लक्ष्मण वहाँ आ जाते हैं और उर्मिला चौंक कर उनके पैरों पर गिरना चाहती है कि प्रिय के द्वारा बीच ही में हाथोंपर लेली जाती है:—

"टपक रही वह कुंज-शिला वाली शेफाली,
जा नीचे, दो चार फूल चुन, ले आ डाली।
वनवासी के लिए सुमन की भेंट भली वह।"
"किन्तु उसे तो कभी पा चुका प्रिये, अभी यह!"
देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने सखी किधर थी!
पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी!

दृश्यों का चित्रण करते समय साकेत में गुप्त जी ने बड़ी कुशलता से काम लिया है। काव्य में चित्र चित्रण जितनी सफलता से किया जा सकता है उतनी उन्हें मिली है। नीचे की पंक्तियों में मुद्राओं की स्पष्टता देखिए:—

तरु-तले विराजे हुए,—शिला के ऊपर,
कुछ टिके,—घ ।प की कोटि टेक कर भू पर,
निज लक्ष-सिद्धि-सी, तनिक घूमकर तिरछे,
जो सींच रही थी पर्णकुटी के बिरछे,

नीचे की पंक्तियों में मांडवी की गतिशील मुद्राओं का कैसा सुंदर और सटीक चित्रण हुआ है:—

तनिक ठिठक, कुछ मुड़कर दायें, देख अजिर में उनकी ओर,
शीश झुकाकर चली गई वह मंदिर में निज हृदय हिलोर।

मांडवी के मुख पर तेज विराज रहा था परंतु संपूर्ण कुटुंब मे फैले हुए विषाद का प्रभाव उसके हृदय में भी था। मुख की कांति के पीछे हृदय के विषाद की एक काली आभा अस्पष्ट प्रकार से दिखाई पड़ ही जाती थी:—

फिर भी एक विषाद बदन के तपस्तेज में पैठा था।
मानों लौह-तन्तु मोती को वेध उसी में बैठा था॥

कई स्थानों पर गुप्त जी की बड़ी सुंदर आलंकारिक सूझ है। दो एक उदाहरण:—

जान पड़ता है नेत्र देख बड़े बड़े
हीरकों में गोल नीलम हैं जड़े।

* * *

किसने मेरी स्मृति को,
बना दिया है निशीथ में मतवाला!
नीलम के प्याले में
बुद्बुद देकर उफन रही वह हाला!

* * *

जन प्राची जननी ने शशि शिशु को दिया डिठौना है।
उसको कलंक कहना, यह भी मानों कठोर टौना है।

* * *

उल्काएँ सब ओर प्रभासी पाट रही थीं
पी-पीकर पुर-तिमिर जीभ सी चाट रहीं थीं।

किसी शास्त्र विशेष में प्रचलित पारिभाषिक पदावली काव्य की बोधगम्यता पर आघात पहुँचाती है। लक्षणा व्यंजना इत्यादि शब्द रीति-शास्त्र में प्रचलित अवश्य हैं परंतु इनके क्रिया-कलापों पर काव्योक्तियों को स्थित करने से अप्रासादिकता आ जाती है। नीचे के उदाहरणों में कही हुई बात को कितने लोग समझ सकते हैं:—

बैठीं नाव-निहार लक्षणा व्यंजना,
'गंगा में गृह' वाक्य सहज वाचक बना।

किसी भी काव्य में कवि को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि वर्णित घटनाएँ जिस काल की हैं उसकी विशेषताओं का चित्रण उसी रूप में हो। जिस काल में कवि रचना करता है उसकी अधिक छाप यदि ऐसे काव्य पर पड़ जावेगी तो एक दोष ही होगा। राम जब वन को जाने लगते हैं तो अयोध्या की प्रजा 'विनत विद्रोह' या सत्याग्रह करने लगती है। लोग मार्ग में लेट जाते हैं और कहते हैं कि यदि आप जाना चाहें तो हमको रौंद कर चले जावें साथ ही वे लोकमत की दोहाई भी देते हैं। इस वर्णन पर आधुनिक राजनीतिक आंदोलन की तथा प्रजातन्त्र-शासन के विचारों की स्पष्ट छाप लक्षित होती है:—

राजा हमने राम तुम्हीं को है चुना;
करो न तुम यों हाय! लोकमत अनसुना।
ओ, यदि जा सको रौंद हमको यहाँ।"
यों कह पथ में लेट गये बहु जन वहाँ।

साम्यवाद, उपयोगितावाद आदि की छाप भी साकेत पर कहीं-कहीं पड़ी है जिसे बहुत लोग उचित न मानेंगे। बहुत स्थानों पर वर्णनों को अनावश्यक विस्तार दिया गया है। हनूमान संजीवनी बूटी लेने आये थे। उनको लक्ष्मण के प्राणों की चिंता थी। यथासाध्य शीघ्र ही उनके लिए लौट जाना उचित था। परंतु वे बहुत-सा समय रामकथा सुनाने में नष्ट करने लगते हैं। संक्षेप में कथा सुना देना आवश्यक था। परंतु जितना विस्तार किया गया है वह बताता है कि कवि का ध्यान लक्ष्मण की ओर से हट गया था। संजीवनी बूटी अयोध्या ही में प्रस्तुत करने की

कल्पना के द्वारा कवि ने अपने लिए थोड़ा समय निकाल लिया है, पर यह समय कथा के उतने लंबे विस्तार के लिए पर्याप्त नहीं है।

नवम सर्ग के प्रारम्भ में कवि ने बड़ी निराशा प्रकट की है। अंत में उसने इतने ही में संतोष माना है कि सरस काव्य की रचना न कर सकने पर भी उसका परिश्रम सुख ही सा रहा:—

विफल जीवन व्यर्थ बहा, बहा,
सरस दो पद भी न हुए हहा!
कठिन है कविते, तव भूमि ही।
पर यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा।

हम तो समझते हैं कि यह कवि की विनम्रता ही है। वास्तव में काव्य सब दृष्टियों से उच्चकोटि का हुआ है। मांडवी के स्वर में स्वर मिलाकर हम तो यही कहेंगे: —

खेतों के निकेत बनते हैं और निकेतों के फिर खेत।
वे प्रासाद रहें न रहें, पर, अमर तुम्हारा यह साकेत।

साकेत के पश्चात् गुप्त जी की दूसरी कृति 'यशोधरा' निकली है। गुप्त जी ने लिखा है कि यशोधरा की ओर उर्मिला देवी ने ही संकेत किया। दोनों के चरित्रों में बहुत कुछ साम्य है। भगवान् बुद्ध एक दिन आधी रात के समय उसे सोती छोड़कर चले गए। उर्मिला के लिए अवधि का सहारा था यशोधरा के लिए वह भी नहीं। उस बेचारी को त्याग का गौरव भी न मिलने पाया। वास्तव में यहाँ पर वह उर्मिला से भी अधिक उपेक्षिता रही। उसको रह रह कर इस बात की कसक उठती थी कि उसके प्रियतम उससे कह कर क्यों नहीं गए। वह कहती है कि भगवान् ने मुझे भली-भाँति नहीं पहचान पाया। जो क्षत्राणियाँ अपने पुत्रों तथा पतियों को प्रसन्नता से रणभूमि के लिए बिदा कर सकती हैं उनको सोते छोड़कर चले जाना एक प्रकार से उनका अपमान ही करना है। यह सब होने पर भी गौतम यशोधरा को पहले से भी अधिक प्रिय लगते थे। क्योंकि वह समझती थी कि वे एक पवित्र कार्य के अनुष्ठान के लिए गए हैं:—

जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालभ दूँ मैं किस मुख से ?
आज अधिक वे भाते !
सखि, वे मुझसे कहकर जाते ।

इसकी पीड़ा उसके मन में रह ही गई कि उसे इतना सौभाग्य भी न मिला कि वह वियोग का यह समझकर हँस के टाल देती कि मैंने ही तो स्वयं उन्हें जाने दिया है :–

मिला न हा ! इतना भी योग,
मैं हँस लेती तुझे वियोग !
देती उन्हें बिदा मैं गाकर,
भार झेलती गौरव पाकर ।
पहुँचाती मैं उन्हें सजाकर,
गये स्वयं वे मुझे लजाकर ।

वह बड़ा सुंदर मधुर मान करती है। यदि उसने बिदा दी होती तो वह भगवान के आने का समाचार सुनकर उनका स्वागत करने को भी जाती। पर यदि वह इतनी तुच्छ समझी गई कि उसे सोती छोड़ भगवान चले गये तो वह कौन सा मुँह लेकर उनका स्वागत कर सकेगी। वह कहती है:—

गये स्वयं वे मुझे लजाकर,
लूँगी कैसे ?—वाद्य बजाकर।
लेंगे जब उनको सब लोग ।
मिला न हा ! इतना भी योग।

उसका यह स्पृहणीय मान चरितार्थ होता है। भगवान स्वयं उसके प्रासाद में जाकर उसे दर्शन देते हैं। भगवान कहते हैं कि 'मार' के मायाजाल से यशोधरा का ध्यान ही उनकी रक्षा कर सका:—

आया जब मार मुझे मारने को बार-बार,
अप्सरा-अनीकिनी सजाये हेम-हीर से ।

तुम तो यहाँ थी, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ ,
जूझा, मुझे पीछे कर, पंच-शर वीर से ।

विरहिणी यशोधरा तथा कुमार राहुल का चरित्र बड़ी सफल लेखनी से अंकित किया गया है। सहृदय पाठक उस करुणासागर में मग्न हुए बिना नहीं रह सकते। छोटे-से बालक की भोली क्रीड़ाएँ, अटपटी बोली, माँ के साथ प्रश्नोत्तर इत्यादि बड़े ही करुणापूर्ण हैं। माँ, बालक को दिठौना दे रही है। बालक की समझ में यह नहीं आता कि वह दिठौना उसकी माँ के बदले में उसे क्यों दिया जाता है। 'दीठ' लगने से बचाने ही के लिए न यह दिठौना है। दीठ लगने से जो लक्षण हो जाते हैं वे सब तो उसकी माता ही में मिलते हैं। फिर दिठौना उसे क्यों ?:—

कैसी डीठ ? कहाँ का टौना ?
मान लिया आँखों में अंजन, माँ, किस लिए डिठौना ?
यही डीठ लगने के लच्छिन छूटे खाना-पीना ,
कभी काँपना, कभी पसीना, जैसे तैसे जीना ?
डीठ लगी तब स्वयं तुझे ही, तू है सुध बुध हीना ।
तू ही लगा डिठौना, जिसको काँटा बना बिछौना ।

बालक बार-बार 'अंब अंब' पुकारता है। माँ कहती है कि बेटा तू पिता-पिता क्यों नहीं पुकारता, जिनके बिना यह घर सूना पड़ा है। वह स्वयं पुकारना नहीं चाहती। जिनके बिना जगत् सूना मालूम पड़ता है उनका नाम लेने में भी बाधा ! कैसी वेदना है। यहाँ पर स्त्रियों के हृदय की बड़ी सूक्ष्म मनोवृत्ति का चित्रण किया गया है:—

आ, मेरे अवलंब बता क्यों 'अंब अंब' कहता है ?
'पिता' 'पिता' कह बेटा, जिनसे घर सूना रहता है।
दहता भी है, बहता भी है, यह जी सब सहता है ,
फिर भी तू पुकार, किस मुँह से हा ! मैं उन्हे पुकारूँ ?
इन दाँतों पर मोती वारूँ।

पलासी का युद्ध, मेघनाद वध, विरहिणी व्रजांगना, उमर खैयाम की रुबाइयाँ इत्यादि पुस्तकों का अनुवाद भी आपने किया है। प्रथम तीन

पुस्तकें बँगला से अनूदित हुई हैं। आपके अनुवादों की यह विशेषता होती है कि वे स्वतंत्र रचना से प्रतीत होते हैं। कभी-कभी मूल के भावों को आप कुछ परिवर्त्तित भी कर देते हैं। विरहिणी व्रजांगना में-से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैः—

पहुँचो जब हरि-निकट सुनाना उन्हें राधिका का रोना,
श्याम बिना गोकुल रोता है कह देना, साक्षी होना।
और नहीं कुछ कह सकती हूँ लज्जावश मैं हूँ नारी;
मधु कहता है व्रजबाले! मै कह दूँगा बातें सारी॥

आप वास्तव में इस समय के प्रतिनिधि कवि हैं। काव्य-जगत् की भिन्न-भिन्न आकांक्षाओं की पूर्ति आपने की है। वृद्धों तथा युवकों, प्राचीन विचारवालों तथा नवीन विचारवालों का आप एक साथ मनोरंजन करते हैं।

पं० रामचंद्र जी शुक्ल—आपकी व्रजभाषा की रचनाओं का उल्लेख पीछे हो चुका है। खड़ी बोली में भी आपने रचनाएँ की हैं। इन रचनाओं के विषय वे ही हैं जो व्रजभाषा कविता के हैं। आपकी प्रकृति-वर्णन की रचनाएँ बहुत सुंदर हुई हैं। भाषा बहुत ही गठी हुई तथा परिष्कृत रहती है। एक उदाहरणः—

भूरी हरी घास आसपास; फूली सरसों है,
पीली पीली बिंदियों का चारो ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल, सघन फिर, और आगे,
एकरंग मिला चला गया पीत-पारावार॥
गाढ़ी हरी श्यामता की तुंग राशि-रेखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर धार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभमंडल से,
धुँधली-सी नीली नगमाला उठी धुँआधार॥

पं० रामचरित उपाध्याय—ये संस्कृत के विद्वान् हैं। खड़ी बोली के प्रारंभिक कवियों में इनकी गणना है। फुटकर कविताओं के अतिरिक्त रामचरितचिंतामणि नामक एक प्रबंधकाव्य भी लिखा है।

इस प्रबंधकाव्य पर वाल्मीकि-रामायण का अच्छा प्रभाव पड़ा है। इस पुस्तक में मार्मिक स्थलों को बहुत संक्षिप्त कर दिया गया है। बीच की घटनाओं का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। रस-संचार के लिए इस बात की आवश्यकता होती है कि कवि किसी कथा के मार्मिक स्थलों को पहचाने। ऐसा न करने से भावोद्रेक में उतनी सहायता नहीं पहुँचती। दोनों राजकुमारों के सीता के साथ वनयात्रा करने का प्रसंग बहुत ही करुण है। इस स्थल पर भी उपाध्याय जी ने छलाँग मारने की कला से काम चला लिया है। चित्रकूट में जिस समय भरत राम से मिले थे उस प्रसंग का तुलसीदास ने बड़ी सहृदयता से वर्णन किया है। इस संपूर्ण स्थल को चिंतामणि में चार पंक्तियों में कह दिया गया है:—

फिर शान्त होने पर भरत ने बहुत समझाया सही ;
पर अवध का चलना तनिक रघुनाथ को भाया नहीं।
रघुनाथ-आज्ञा से भरत फिर घर गए होकर दुखी ;
हत भाग क्यों उद्योग करके स्वप्न में भी हो सुखी ?

इसी प्रसंग में भरत से मिलते समय राम ने कुछ प्रश्न किए हैं जो बहुत ही अनावश्यक हुए हैं। अभी भगवान को अयोध्या से आए बहुत दिन नहीं हुए थे। ऐसी अवस्था में उनका भरत से यह प्रश्न करना कि क्या तुमने कृषि-शिक्षा की उन्नति नहीं की व्यर्थ ही हो जाता है:—

क्या उन्नति तुम नहीं कर सके कृषि-शिक्षा की ?
क्या धारण की वृत्ति प्रजाओं ने भिक्षा की ?
क्या शामादिक राजनीति को भूल गए तुम ?
पाकर के साम्राज्य, भरत क्या फूल गए तुम ?

भरत से यह प्रश्न करना कि क्या तुम साम्राज्य पाकर फूल गए हो, कितना अनुचित हुआ है। इससे भरत के चरित्र पर आघात पहुँचता है। गुरुवर्ग का छोटों के चरित्र पर संदेह करना भी उनके चरित्र को नीचे गिराता है। कथा को संक्षिप्त करने का एक उदाहरण और। सुग्रीव के राम से मिलने, दोनों में परस्पर मित्रता होने इत्यादि की संपूर्ण कथा इन चार पंक्तियों में देख लीजिए:—

मिले परस्पर आत्म-कथा दोनों ने गाई।
दोनों में प्रण-सहित प्रेम से हुई मिताई।
फिर छिपकर मारा राम ने बाली को निज हाथ से,
मति किसकी है बदली नहीं हा जघन्य के साथ से!

काव्य के उद्देश्य में तथा इतिहास के उद्देश्य में बहुत भेद है। कवि को यह अधिकार तो अवश्य प्राप्त है कि वह अनावश्यक कथा-प्रसंग को संक्षिप्त करता चले परंतु कथा के मुख्य स्थलों को यों ही टाल देने से कवित्व को टिकने के लिए स्थान ही कहाँ रह जावेगा? लक्ष्मण के प्रारंभिक चरित्र पर वाल्मीकि-रामायण का प्रभाव पड़ा है। वहाँ राम के निर्वासन का समाचार सुनकर लक्ष्मण बहुत क्रुद्ध होते हैं। 'चिन्तामणि' के लक्ष्मण भी दशरथ तथा कैकेयी दोनों को मारने तक को प्रस्तुत हो जाते हैं:—

माता और पिता दोनों को इससे मारूँगा तत्काल;
आज्ञा मिले, देखिए सज्जित है मेरे कर में करवाल।

कैकेयी के कोप-प्रसंग में एक बड़ी भारी त्रुटि हो गई है। प्रारंभ में तुलसी कृत रामायण का अनुकरण किया गया है। तुलसी कृत रामायण में कैकेयी के क्रोध का कारण बहुत कुछ मंथरा का उपदेश था। परंतु चिंतामणि में एक बात वाल्मीकि-रामायण से ले ली गई है, जिसके कारण तुलसी की कैकेयी से 'चिंतामणि' की कैकेयी भिन्न हो जानी चाहिए थी। परंतु उपाध्याय जी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है। कैकेयी के पिता से दशरथ ने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारी कन्या से उत्पन्न पुत्र को राज्य दूँगा:—

क्या आपने मेरे पिता से प्रण किया था या नहीं?
दूँगा स्वय सोल्लास कैकेयी तनय को ही मही।

इस प्रतिज्ञा के आधार पर रामचरितमानस की कैकेयी का चरित्र स्थापित नहीं किया गया है। बाली के घायल होने पर उसकी जो बातचीत राम से हुई है उसमें उपाध्याय जी ने बहुत ही स्वाभाविकता रक्खी है। वास्तव में राम को निरुत्तर हो जाना पड़ता है। वह कहता है कि

आपके जिस कार्य को सुग्रीव ऐसा तुच्छ कर सकता है उसे क्या मैं न कर पाता ? नीचे की पंक्तियों में कैसा आक्षेप किया गया है:—

तुम्हें क्यों न हो राम सुग्रीव प्यारा,
उसी सा बुरा हाल है जो तुम्हारा।
मिलेगा कभी निर्बली क्या बली से ?
सदा प्रीति होगी छली की छली से।

राम कहते हैं कि हम शिकारी हैं। बाली उत्तर देता है कि शिकारी भी उसी पशु का शिकार करते हैं जिसका चमड़ा, मांस आदि काम आवे। परंतु बंदर तो किसी काम का नहीं होता, फिर आप क्या शिकारी बने फिरते हैं:—

हमारा कभी मांस कोई न खाता,
किसीके नहीं चाम भी काम आता।
मुझे मार के क्या शिकारी बने हो,
दुखारी बने हो भिखारी बने हो।

रामचरितमानस का चिंतामणि पर कैसा प्रभाव पड़ा है यह देखने के लिए मिलती हुई कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं:—

कोप भवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ॥
सुरपति बसइ बाहुबल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके॥
सो सुनि तियरिसि गयउ सुखाई। देखहु कामप्रताप बड़ाई॥

—रामचरितमानस

भुवन है डरता जिनसे अहो,
नृपति वे अबला-भय-भीत हो।
पग बढ़ा सकते नृप हैं नहीं;
मदन की महिमा हत है नहीं॥

देशभक्ति की भावना उपाध्याय जी में इतनी अधिक है कि उसके दर्शन चिंतामणि में भी हो जाते हैं। लोक-नीति आदि के चलते हुए सिद्धांतों को आप बड़ी कुशलता से पद्य-बद्ध करते हैं। आपकी कविता में उपदेशात्मक अंश बहुत हैं। इन उपदेशों को यदि काव्योचित ढंग

से रखा गया होता तो संभवतः और उचित हुआ होता। इन सब बातों के होते हुए भी पुस्तक अच्छी बन पड़ी है। परंतु राम-कथा पर लिखा गया कोई भी ग्रंथ रामचरितमानस के सामने नहीं ठहर पाता।

लाला भगवानदीन—आपकी खड़ी बोली की कविता का प्रधान विषय वीर रस ही रहा। ये अपने नाजुक शरीर में न जाने कहाँ विरोल्लास छिपाये रहते थे। 'वीर क्षत्राणी', 'वीर बालक', 'वीर माता', 'वीर पत्नी', 'वीर प्रताप', आदि आपकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। इन सब का संग्रह 'वीर पंचरत्न' नामक ग्रंथ में हुआ है। आपका उद्देश्य लोगों को अपने इतिहास के वीर व्यक्तियों का परिचय कराना था। आप यह नहीं चाहते थे कि थोड़े से विद्वान् लोग ही आपकी पुस्तक का आनंद लें:—

रस-वीर का कुछ आवै मज़ा दिल में उजागर।
आनंद लहैं पढ़ते ही ग्रामीण व नागर॥

इस पुस्तक का प्रचार भी वैसा ही हुआ जैसा लाला जी चाहते थे। आज कल के खड़ी बोली के जिन ग्रंथों को ग्रामों में पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है उनमें वीर पंचरत्न भी है। इस पुस्तक ने आल्हा का स्थान ले लिया है। आप हिंदी-भाषा-भाषी प्रान्तों के ग्रामों के बड़े-बड़े मेलों में कहीं भी चले जाइए, छोटे-छोटे डंडों से लोहे की कड़ियां को झंकारते हुए साधारण पुस्तक बेचनेवाले इस प्रकार की वीर दर्प-पूर्ण कविता गाते मिलेंगे:—

यह दुर्दशा देश की लख के नीला मनमें हुई अधीर।
क्रोध सहित पतिको ललकारा "नाहक बनता है तू वीर"॥
क्षत्री-रक्त नसों में तेरे तनक नहीं खाता है जोश।
सुनता नहीं यवन क्या करते, कहाँ गया है तेरा होश!॥
वीर-कुमारी वीर-वधूटी और वीर जननी की लाज।
जन्म-भूमि, कुलकी मर्यादा रखना है क्षत्री का काज॥
रजपूतों की कन्या, नारी, यवन लोग लेते हैं छीन।
इसे देख, लज्जा से तेरा मुखड़ा होता नहीं मलीन?।

लाला जी का हिंदी-साहित्य का अध्ययन बहुत विस्तृत था। इनकी कविता में इसी कारण बहुत से अप्रचलित शब्दों का प्रयोग हो गया है। अनेक हथियारों के नाम, तलवार के भिन्न-भिन्न हाथों (मारने के ढंग) इत्यादि के नाम आप की कविता में बहुत आए हैं। खड़ी बोली की शुद्धता के आदर्श के आप कायल नहीं थे। व्रजभाषा इत्यादि प्रान्तीय बोलियों के शब्द तथा प्रयोग आपने बेधड़क रखे हैं। मुसलमानों के प्रसंग में अरबी फारसी शब्दों का भी उपयोग किया है। एक उदाहरण:—

बहुत दिनों से इश्तियाक था कब हुजूर आ होय नियाज़।
बेनियाज़ने मक़सद मेरा पूरा किया, बड़ा एजाज़॥
सुनतो हूँ हुज़ूर को अज़हद गाना सुनने का है शौक़।
बन्दी भी इस अपने फ़न में रखती है औरों से फ़ौक़॥

लाला जी की फुटकर कविताओं का संग्रह 'नवीनबीन' या 'नदी में दीन' नामक पुस्तक में हुआ है। पुस्तक के इस नामकरण ही से आप की प्रवृत्ति का पता लगाया जा सकता है। आप काव्य में चमत्कार का महत्त्व माननेवालों मे-से थे। केशवदास आपके आदर्श कवि थे। इस संग्रह में वसन्त वर्णन, प्रेमकली, आँसू, ताजमहल, चाँदनी, मेंहदी, मसान इत्यादि कविताएँ अच्छी बन पड़ी हैं। बिहार के प्रसिद्ध लेखक बा० शिवपूजनसहाय को सेतुवा-पंचक कविता सब से अच्छी लगती है। मसान नामक कविता से कुछ पंक्तिया नीचे दी जाती हैं:—

खाक धूल में मिल जाती है हाँ महाराजों की शान।
बस गूँगे ही हो रहते हैं जहाँ बड़े बागीश सुजान॥
खाली हाथ हिलाते आते कोट्याधीश जहाँ धनवान।
पोथी पत्रा जहाँ नहीं कुछ रख सकते सुविज्ञ विद्वान॥
बकरी से सीधे हो जाते जहाँ पहुँचते ही बलवान।
'दीन' कहै क्या महिमा तेरी जग के अंतिम मित्र मसान॥

लाला जी ने प्राचीन कवियों के काव्य-ग्रंथों पर पाण्डित्यपूर्ण टीकाएँ प्रस्तुत कर साहित्य के अध्ययन-अध्यापन का कार्य बहुत सुकर कर दिया है। केशव की टीकाओं के द्वारा वास्तव में आप ने उस कवि

का जीर्णोद्धार ही किया। इन टीकाओं में पद्यों का अलंकार-निर्णय भी किया गया है जो परीक्षाओं के लिए ग्रंथ पढ़नेवालों के बहुत काम का है। आप हिंदी-भाषा तथा साहित्य के सफल और सुयोग्य अध्यापक थे। अपने विस्तृत ज्ञान का उपयोग आप ने सदा शिष्य प्रस्तुत करने में किया। आप की निरभिमान तथा विनोदपूर्ण प्रकृति के कारण विद्यार्थी निर्भय होकर अपनी त्रुटियों को आप के सम्मुख रखते थे और आप बड़ी उदारता तथा सहानुभूति से उनके प्रश्नों का उत्तर देते थे।

पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'—जिन दिनों आप सरकारी नौकरी करते थे उन दिनों आपकी उर्दू की रचनाएँ 'त्रिशूल' नाम से निकलती थीं। क्रमशः आप हिन्दी-साहित्य की ओर आए। ब्रजभाषा में भी आप रचना कर लेते हैं। आप की विशेष प्रसिद्धि खड़ी बोली की रचनाओं के कारण है। खड़ी बोली उर्दू-साहित्य में बहुत कुछ मज चुकी है। व्यावहारिक शब्दों, मुहावरों आदि का प्रयोग उर्दू-भाषा में बड़े फबते हुए ढंग से होता है। ये ही सनेही जी की भाषा की विशेषताएँ हैं। आप को मुहावरों का आग्रह नहीं है। परंतु जहाँ भी आप उनका प्रयोग करते हैं आपकी उस प्रकार की विशेष सूझ लक्षित होती है। नित्य की बोल-चाल में काम आनेवाले चलते हुए शब्दों से ही आप अपना काम चला लिया करते हैं। आप की कविता का मुख्य विषय प्रेम है। उर्दू कविता में वियोग-पक्ष को ही प्रधानता दी जाती है। इसका प्रभाव आपकी रचना पर भी पड़ा है। कभी-कभी रचनाओं में उर्दू वालों के 'खून' आदि भी आ जाते हैं। एक उदाहरण:—

खम आबरू में न तुम्हारे कभी आने पाये,
सितम पै सितम 'सनेही' उसे ढाने दो।
हारो या कि जीते रहो आस पर जीते रहो,
खूने दिल पीते रहो आँसू मत आने दो॥

प्रिय के वियोग की विकलता में भी आप फिर मिलने की आशा पर जीते रहते हैं। यदि वह 'नहीं' भी कर देता है तो आप उसका अर्थ 'हाँ' ही समझते हैं। बीजगणित के उस सिद्धांत का व्यावहारिक महत्त्व

जिसमें कहा गया है कि दो ऋण मिल कर धन हो जाते हैं प्रेमी हृदय ही समझते हैं। उनके लिए 'नहीं-नहीं' का अर्थ 'हाँ' ही हुआ करता है। देखिए:—

आँखों-आँखों में न मुसकाते कभी आते जाते,
छुटते ही लोचनों में जल भरते नहीं।
बनना न होता यदि उनको हृदय हार,
हँसते ही हँसते हृदय हरते नहीं।
सच्ची जो लगन नहीं मिलन असंभव तो,
आशावान प्रेमी हैं निराश मरते नहीं।
अंगीकार करना न उनको 'सनेही' होता,
नहीं कर देते 'नहीं-नहीं' करते नहीं॥

आप की प्रेयसी का चित्र अंकित करते समय चित्रकार स्वयं चित्र बन जाता है:—

तेरे स्वेद-बुन्द मकरंद से सुगंधित हो,
मंजुल गुलाब ही का इत्र बन जाते हैं।
आते चित्रकार जो बनाने कभी चित्र तेरा,
देख के विचित्र छवि चित्र बन जाते हैं॥

प्रिय के निष्ठुर होने पर भी आप गली-कूचों में उसकी शिकायत करते नहीं डोलते फिरते। विरह में भी मौन रहने में आप सुख मानते हैं:—

मौन पतंग प्राण देता है समझ प्रेम का मोल।
मौन विरह में मैं जलता हूँ रह कर अचल अबोल॥
प्रियतम निष्ठुर हैं, होने दे, तू मत जिह्वा खोल।
आग न लगा हृदय में मेरे अपना हृदय टटोल॥

इसी विषय की आपकी एक अतुकांत कविता नीचे दी जाती है:—

सुन सुन सखि! घनश्याम की गुणावली, उर-वाटिका में लालसा की लता लहकी।
एक दिन तरणि-तनूजा-तीर जाती थी; आगये अचानक वे आँखें चार हो गईं।
किन्तु क्या बताऊँ, दई मारी इन आँखों ने, होकर सजल जल-चादर सी तान दी।

रूप-सिंधु जी भर मुझे न देखने दिया; छिपके पलक में पुलक तन में भरी।
चाहती हूँ भूलूँ, पर भूल सकती नहीं; रह-रह छवि वह अंकित हो उठती।
एक अभिलाषा, एक कामना है आ बसी; उथल-पुथल एक मची है हृदय में!
पल भर जी से न उतरती है मूर्ति वह; देखी अनदेखी, अनदेखी हुई देखी सी।

केवल अपने प्रिय को लिए आप एकांत में बैठे ही नहीं रहते हैं। देश के सामाजिक प्रश्नों का ध्यान भी आपको सदा बना रहता है। जिस प्रकार प्रेम-क्षेत्र में आप आशावादी हैं उसी प्रकार इस क्षेत्र में भी। देखिये इन पंक्तियों में एक प्रबल आशावादी का कैसा उत्साह भरा हुआ है:—

घूमता कुलाल-चक्र कितनी ही तीव्रता से,
एक रेखा सुस्थिर, छिपी है चक्कफेरे में।
छिपी रहती है मंद मुस्कान-छवि छाया,
भाग्य-भामिनी के तीखे तेवर-तरेरे में।
आशा-द्वार खुलते भी लगती नहीं है देर,
डालती निराशा जब चित्त घोर घेरे में।
क्रान्ति मे 'सनेही' एक शाति का निवास छिपा,
प्रबल प्रकाश छिपा अधिक अँधेरे मे॥

जीवन-समर में अग्रसर होनेवाले योद्धा को आप आत्मनिर्भरता तथा ईश्वर पर विश्वास रखने का उपदेश देते हैं:—

जीवन समर में अमर वर दें अमर,
जीत ले विरोधियों को विश्व के विजेता! जा।
लाख भय-भ्रांति हो अशाति का न लेना नाम,
परम प्रशांत चित्त होके शाति चेता! जा।
वायु प्रतिकूल है, हुआ करे, न चिंता कर,
नाव नीति की तू निज बल पर खेता जा।
साथी वही जिसने कि हाथी के लगाया हाथ,
एक बस साहस 'सनेही' साथ लेता जा॥

आज कल आप कानपुर के 'सुकवि' पत्र का संपादन कर रहे हैं। इस पत्र का मुख्य विषय कविता ही है। इसमें समस्यापूर्तियों के द्वारा

भी कवियों को प्रोत्साहित किया जाता है। नवयुवक कवियों पर आप का अच्छा प्रभाव है।

पण्डित रामनरेश त्रिपाठी—आज-कल की उन मुख्य भावनाओं में जिनका नवयुवकोंपर अधिक प्रभाव है देश-भक्ति की भावना भी है। इस भावना में नवयुवकों के लिए स्वाभाविक कवित्व है। देशभक्ति की वे कविताएँ भी जिनमें वास्तविक कवित्व की मात्रा अधिक नहीं होती लोगों को रुचिकर लग रही हैं। त्रिपाठी जी ने इन विचारों को कवित्व का रूप देने का प्रयत्न किया है। काव्य के लिए गोचर पदार्थों की प्रतिष्ठा अधिक उपादेय होती है। कवि जब भावनाओं का चित्रण करना चाहते हैं तो वे कुछ ऐसे चरित्रों को सम्मुख रखना अधिक अनुकूल समझते हैं जिनसे हृदय में उन अभिप्रेत भावनाओं की प्रतिष्ठा हो। इसी उद्देश्य से त्रिपाठी जी ने देशभक्ति का उपदेश स्वयं न देकर अपने काव्यों में उसी रंग में रँगे हुए कुछ पात्रों का चित्रण किया है। उनकी तीनों प्रसिद्ध पुस्तकों का विषय यही है। ये पुस्तकें पथिक मिलन, तथा स्वप्न हैं। इन काव्यों के नायकों को कोई न कोई महात्मा देशभक्ति का उपदेश देने को मिल जाता है। 'स्वप्न' में सुमना देवी ही उपदेशिका का कार्य करती हैं। इन काव्यों में आए हुए पात्रों का चित्रण इस रूप में नहीं हुआ है कि वे अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की छाप हमारे हृदय पर डाल सकें। वे आधुनिक प्रचलित भावनाओं के प्रतीक स्वरूप ही आते हैं। उनमें व्यक्तित्व बस इतना ही है, जितना उन भावनाओं की प्रतिष्ठा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वे पात्र केवल छाया हैं। दीपक के प्रकाश में देखने से ये दिखाई ही नहीं पड़ेंगे। वसंत के चरित्र में पूर्वापर सामंजस्य का अभाव भी कुछ खटकता है। पहले तो वह दुखियों के दुःख से दुःखी होता प्रतीत होता है परंतु जब उसकी स्त्री रणभूमि में जाने को कहती है तो कायरों की-सी बातें करने लगता है। सुमना का चरित्र एक आदर्श राजपूत-नारी का-सा हुआ है। इन तीनों खंड-काव्यों का अंत संयोगान्त है। कवि के हृदय में अपनी मातृभूमि के भविष्य का जो उज्ज्वल स्वरूप अंकित है उसी की झलक हम इन काव्यों में देख सकते

है। त्रिपाठी जी के हृदय में प्रकृति के प्रति असीम अनुराग भरा हुआ है। पथिक में उन्होंने उन सुंदर दृश्यों का चित्रण किया है जो उन्हें अपनी रामेश्वर-यात्रा के समय देखने को मिले थे। काश्मीर की सुंदर दृश्यावली का प्रभाव स्वप्न काव्य पर स्पष्ट लक्षित होत हैं। प्रकृति-चित्रण में आप अपनी ओर से कुछ नहीं मिलाते है। जो दृश्य जैसा है वैसा ही अंकित कर देना मात्र आप की विशेषता है। इन पंक्तियो में इनकी यह विशेषता देखी जा सकती है:—

छिटक रही थी स्निग्ध चाँदनी पवन तान भरता था।
ज्योत्स्ना में पत्ते हिलते थे जल छप् छप् करता था।
बैठे हुए शिला पर तन आगे की ओर झुकाए।
पथिक अचेतन अचल एकटक क्षिति पर दृष्टि गड़ाए॥

'पथिक' की नीचे व्यक्त की हुई भावना में कवि की भावना भी मिश्रित है:—

प्रति क्षण नूतन वेष बनाकर रंग-बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूँ यही चाहता मन है।

व्यक्तियों की स्थिति की भिन्न-भिन्न मुद्राओं का अंकन भी आप अच्छा करते हैं। देखिए:—

बाहु-बद्ध कर पदस्तंभ को
चिन्ता-ग्रसित अधीर।
घुटनों मध्य चिबुक रख कंपित
थर थर अगल शरीर।

अपने विस्तृत निरीक्षण के बल पर अलंकारों की योजना भी आप कभी-कभी बहुत मार्मिक ढंग से करते हैं। एक उदाहरण:—

सिंधु विहंग तरंग पंख को फड़काकर प्रति क्षण में।
है निमग्न नित भूमि अंड के सेवन में रक्षण में।

नीचे की पंक्तियों में देवताओं के दीप, तारों के बुझने की कैसी

सुंदर कल्पना की गई है। सूर्योदय हो जाने पर दीपक की क्या आवश्यकता रह जाती है:—

अंशुराशि के शुभागमन की
वेला समझ समीप।
बन में बुझा चुके थे सुर भी
निज निज घर के दीप।

नीचे की पंक्तियों में रूपक-योजना में कैसी सुंदर कल्पना है:—

रात दिवस को बूँदों-द्वारा
तन-घट से परिमित यौवन जल,
है निकला जा रहा निरंतर
यह रुक सकता नहीं एक पल।

अप्रस्तुत-विधान में एक-आध स्थल पर दोष भी आ गए हैं। परंतु ऐसा बहुत नहीं हुआ है। फिर भी एक उदाहरण दिया जाता है। 'स्त्रियों के संकेत पर नाचना' कहावत का प्रायः प्रयोग होता है। परंतु यह कहने से कि अमुक पुरुष स्त्री के संकेत पर वैसे ही नाचता है जैसे मदारी के संकेत पर बन्दर, प्रेम-वृत्ति पर आघात पहुँचाता। नीचे की पंक्तियों में कुछ ऐसी बात हो गई है: —

तेरी मकरध्वज-धन्वा सी
वंक-भृकुटियों के इंगित पर।
मेरी सब गति विधि निर्भर है,
जैसे कीस मदारी के कर।

आप ने हिन्दी के प्राचीन तथा नवीन कवियों की मुख्य कविताओं के दो संग्रह जिनमें कवियों का परिचय भी दिया गया है 'कविता-कौमुदी नाम से निकाले हैं। बड़े परिश्रम से भिन्न-भिन्न प्रांतों के ग्राम-गीतों का संग्रह भी आप ने किया है जो 'ग्राम-गीत' नाम से निकल चुका है। बालकोपयोगी अनेक पुस्तकें भी आपने निकाली हैं जो हिंदी-प्रचार में बहुत सहायक हुई हैं और जिनका प्रचार मद्रास ऐसे दूरस्थ प्रान्तों में भी है। इन की फुटकर कविताएँ 'मानसी' नामक पुस्तक में हैं।

पं० रूपनारायण पांडेय—आपकी कविताओं में प्रसाद-गुण सदा बना रहता है। लोक में प्रचलित परिचित पदावली ही का आप प्रयोग करते हैं। अलंकारों इत्यादि के आडंबर में आप कम पड़ते हैं। आपकी प्रायः कविताओं के विषय सामयिक हैं। देशभक्ति, अछूतोद्धार, स्वदेशी वस्तु-व्यवहार इत्यादि आपकी कविता के मुख्य विषय हैं। भक्ति रस की भी कुछ कविताएँ आपने की हैं। परंतु आप वैसे भक्त नहीं हैं जो काम, क्रोध इत्यादि शत्रुओं की शिकायत ही भगवान से किया करते हैं। आप अपने देश की दुर्दशा प्रभु तक पहुँचाने में लगे रहते हैं। आपकी करुणावृत्ति का प्रसार पशु-पक्षियों तक है। देश की दुर्दशा से क्षुब्ध होते हुए भी आप आशावादी हैं। लाख बाधाएँ हों आप उनकी चिंता नहीं करते। इन पंक्तियों में आपकी संजीवनी आशा का स्वरूप देखिए:—

बाधाएँ हों लाख, मगर हम नहीं हटेंगे,
उमंग और उत्साह हमारे नहीं घटेंगे।
कष्ट कठिन हो, कृष्ण-कृपा से सभी कटेंगे।
अजी कभी तो मोह-द्रोह के हृदय फटेंगे,
हम सब होंगे कर्तव्य-रत, भव्य नव्य युग में कभी,
ये दोष न होंगे उस समय, जो कुछ हम में हैं अभी,

आपने कुछ कहानियाँ भी पद्य-बद्ध की हैं। लक्ष्मीबाई, वन-विहंगम पुत्र-प्राप्ति का परिणाम इत्यादि मुख्य हैं। इनमें कुछ कल्पित हैं, कुछ पौराणिक। वन-विहंगम नामक कविता में पक्षियों के एक जोड़े की बड़ी करुण कहानी अंकित की गई है। इस कथा की भाषा भी बड़े सुंदर प्रवाह से अग्रसर होती है। एक उदाहरण:—

दिन एक बड़ा ही मनोहर था, छवि छाई वसंत की कानन में;
सब ओर प्रसन्नता देख पड़ी जड़-चेतन के तन में, मन में।
निकले थे कपोत, कपोती कहीं, पड़े झुंड में घूम रहे वन में।
पहुँचा यहाँ घोंसले-पास शिकारी शिकार की ताक में निर्जन में।

'पुत्र प्राप्ति का परिणाम' नामक कविता में अंग्रेजी पढ़ कर खराब हुए एक पुत्र का बहुत ही सजीव चित्र अंकित किया गया है। प्रकृति-

वर्णन पर भी आपकी कई सुन्दर कविताएँ हैं। चाँदनीरात, ग्रीष्म इत्यादि उनमें मुख्य हैं। वैद्य नामक कविता में आजकल के टकहिया वैद्यों की चुटकी ली गई है। अछूतों के विषय में आपके क्या सिद्धांत हैं यह नीचे की पंक्तियों से देखा जा सकता है—

अपना ही अंग हैं ये अंत्यज असंख्य, इन्हें
गले न लगाया तो अवश्य पछताओगे;
ममता के मंत्र से विषमता का विष जो
उतारा नहीं, जाति को तो जीवित न पाओगे।
पक्षाघात-पीड़ित समाज जो रहेगा पगु
उन्नति की दौड़ में कहाँ से जीत जाओगे ?
साधना स्वराज्य की सफल कभी होगी नहीं;
अगर अछूतों को न आप अपनाओगे ?

आपकी कुछ कविताओं का विषय प्रेम भी है। इस प्रेम में लौकिकता की मात्रा कम ही रहती है। उपालंभ नामक कविता में प्रेमी-हृदय के उद्गार बड़े सुंदर ढंग से प्रकट किए गए हैं। देखिए:—

वह चचलता गई हुए वे दिन सपने-से;
अर्पण ही कर दिया हृदय अपना अपने से।
पतित कहो तो भले गले से नहीं लगाओ
चरण-चिह्न तो हृदय-बीच आकर कर जाओ।

आपकी कविताएँ 'पराग' नामक पुस्तक में संग्रहीत हैं।

पंडित लोचन प्रसाद पांडेय—मध्यप्रांत के साहित्य-सेवियों तथा कवियों में पांडेय जी का ऊँचा स्थान है। सरस्वती में इनकी रचनाएँ प्रायः निकलती रहती थी। सवैया इत्यादि छंदों में भी खड़ी बोली की रचना कर लेते है। आपकी भाषा बहुत सरल तथा व्यावहारिक होती है। आप एक भावुक कवि हैं। ऋतु-वर्णन इत्यादि की रचनाएँ भी आपकी अच्छी हुई हैं। आप मध्यप्रांत-हिंदी-साहित्य सम्मेलन के सभापति हो चुके हैं। उड़िया-साहित्य में भी आपकी रचनाओं ने बहुत प्रसिद्धि पाई है। आपकी रचनाओं के दो उदाहरण:—

(निदाघी मध्यान्ह से)

ग्रामों के प्रान्त में है तरुतल करते ढोर बैठे जुगाली।
बैठे हाँ ग्वाल-बाल ध्वनि मुदित करें बाँसुरी की निराली।
भूखा प्यासा अकेला पथिक तपन के ताप से क्लान्त होके।
छाया में वृक्ष की है गमन कर अहो बैठता श्रान्त होके॥

(वर्षा-ऋतु में ग्राम-दृश्य से)

कतहुँ भेड़ को झुंड-मुंड नीचे करि धावत।
एक चरत, सब चरत, एक लखि सबहि पगावत॥
कहुँ बैठे स्वच्छन्द ग्वाल मेंडन के ऊपर।
मुरली मधुर बजाय सुधा सींचत हृद-भू पर॥
कतहुँ फावरे धरे कृषक कोउ मेंड़ बनावत।
कहुँ श्रम सो अति थके कृषक निज चिलम चढ़ावत॥
कोउ विशेष जल देखि खेत खनि नीर निकारत।
कीच सने तनु कतहुँ नीर सों कृषक पखारत॥

पिछला उदाहरण ब्रजभाषा का है। इनकी विशेष प्रकार की चित्त-वृत्ति का परिचय प्राप्त करने के लिए दे दिया गया है।

इस काल के प्रारम्भ में कविगण भाषा पर अधिकार प्राप्त करने में ही लगे रहे। काव्य में प्रयुक्त होने के लिए भाषा में एक लाघव की आवश्यकता होती है। यह खड़ी बोली में प्रारंभ में न था। जो लोग पहले से ब्रजभाषा की रचना करने में निपुणता प्राप्त कर चुके थे उनको उतनी कठिनाई नहीं हुई। वे सरलतापूर्वक खड़ी बोली की ओर मुड़ने लगे। जिन लोगों ने सर्व प्रथम खड़ी बोली ही में रचना करना प्रारंभ किया उनको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वे भाषा पर ही अधिकार प्राप्त करने में लगे रहे। रस संचार की ओर ध्यान ही न दे पाए। सरस्वती पत्रिका की उन दिनों की प्रतियाँ यदि हम देखें तो हमें नीरस पद्यों का एक समूह मिलेगा। न उनकी भाषा में लाक्षणिकता है न उनके भावों में मूर्तिमत्ता तथा रसात्मकता। क्रमशः कवियों का अधि-

कार भाषा पर दृढ़ होता गया। खड़ी बोली में भी श्रेष्ठ कवियों के दर्शन होने लगे। इस काल के अनेक कवियों ने आगे चलकर अपनी शक्ति को बहुत विकसित कर लिया। किसी भी कवि की उन दिनों की रचनाओं को आज-कल की रचनाओं के समक्ष रखने से हम महान् अंतर पाते हैं। परंतु कवियों की कृतियों का अध्ययन खंडों में विभाजित करके करना उतना समीचीन न होता। अतः उन रचनाओं का समावेश भी इसी काल में कर दिया गया है जो बहुत बाद की हैं। उदाहरण के लिए बाबू मैथलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' है।

खड़ी बोली

नवीन काल

(संवत् १९७५—२०००)

प्रस्तावना

पूर्वपीठिका में यह कहा जा चुका है कि किसी भी समाज के साहित्य पर सामाजिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। यदि साहित्य पर इन सब का प्रभाव न हो तो समझ लेना चाहिए कि उस साहित्य में उतनी सजीवता नहीं तथा वह अपने समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता। आधुनिक काल के इतिहास के हमने तीन विभाग किए थे। प्रारंभिक काल में नई-नई भावनाएँ हमारे साहित्य पर अपना प्रभाव डालने लगी थीं। परंतु वह प्रभाव गंभीर नहीं हो पाया था तथा प्राचीन परंपरा से प्राप्त साहित्यिक संस्कार मैदान से हटने में कुछ विलंब कर रहे थे। प्राचीन और नवीन का द्वंद्व-युद्ध चल रहा था। वह संधि-काल था। उस समय के सबसे अधिक साहित्यिक प्रभाव डालनेवाले व्यक्ति का महत्त्व स्वीकार करते हुए हमने उस काल का नाम हरिश्चंद्र काल भी रखा। इस काल के समाप्त होते होते ब्रज-भाषा साहित्य के विस्तृत क्षेत्र से बहिष्कृत-सी होने लगी थी। कुछ अनन्य उपासक अपने अपने घरों ही में बैठे हुए एकांत में ब्रजवाणी की उपासना कर रहे थे। परंतु नवीन युग की आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं से प्रभावित नवयुवक उन पुराने ढंग के उपासकों की ओर उतना ध्यान नहीं देते थे। सरस्वती पत्रिका के प्रकाशन के साथ-साथ खड़ी बोली का प्रभुत्व विस्तृत होता गया। प्रारंभ में व्याकरण की दृष्टि से कुछ शिथिलता तथा अप्रौढ़ता रही। द्विवेदी जी ने बड़ी सतर्कता से उस 'अनस्थिरता' को नियंत्रित करना चाहा। उस प्रयास में वे सफल भी हुए। लोगों का ध्यान भाषा की शुद्धता पर अधिक रहने लगा। भावों की कुछ उपेक्षा हो चली।

एक कठिनाई और थी। यों तो खड़ी बोली पद्य के उदाहरण हम बहुत प्राचीन काल के भी प्रस्तुत कर सकते हैं परंतु वास्तव में अनेक लोगों के द्वारा साहित्यिक काव्य-भाषा रूप में यह इसी समय में ग्रहण की गई। गद्य तथा पद्य की भाषाओं में बहुत अंतर रहता है। पद्य में संस्कार, सौंदर्य आदि का अधिक ध्यान रखना पड़ता है। खड़ी बोली में अभी तक काव्योचित संस्कार न आने पाया था। इसके लिए भी उस काल के लेखकों को बहुत प्रयत्न करना पड़ा। इन सब कठिनाइयों के रहते हुए उस समय यह संभव न था कि कवियों की रचनाओं में वास्तविक कवित्व की स्थापना पर्याप्त परिमाण में हो सके। यह एक प्रकार से खड़ी बोली काव्य का प्रस्तावना काल था। लोग भाषा को काव्योचित बनाने में लगे रहे। इसके पश्चात् नवीन काल का प्रारंभ होता है। इस समय तक खड़ी बोली ने पद्यक्षेत्र में प्रौढ़ता प्राप्त कर ली थी। यह तो भाषा के बाह्य स्वरूप की बात हुई। भाव-क्षेत्र में कैसे-कैसे परिवर्तन हुए, उनका विवेचन तथा अध्ययन करने के पहले हमें उन परिस्थितियों का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए जिनसे हमारा साहित्य आजकल प्रभावित है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

जिस समय से मनुष्य-समाज सभ्य होकर किसी न किसी प्रकार के शासन को स्वीकार करने लगा उस समय से उसके संपूर्ण जीवन पर राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ने लगा। वह प्रभाव घरों के भीतर तथा उनके बाहर भी सर्वत्र अपना अस्तित्व रखता है। भिन्न-भिन्न कालों में यह प्रभाव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता आया है। परंतु इसका अस्तित्व किसी न किसी रूप में सर्वदा रहा है। अपने साहित्य के इतिहास में भी हम इन परिस्थितियों के प्रभाव का अनुशीलन कर सकते हैं। जिस समय प्रारंभ में अँगरेजी शासन यहाँ स्थापित हुआ उस समय उसकी सुव्यवस्थाओं ने यहाँ के लोगों को मुग्ध कर लिया। इसके साथ-साथ ऊपर से स्पष्ट न कहते हुए भी अँगरेजों की श्रेष्ठता की धाक भी लोगों के हृदय में जम गई। वे अपने को साधारण कोटि का तथा विजेताओं

को उच्चकोटि का मनुष्य मानने लगे। यह बात बहुत दिनों तक चलती रही। इसके बाद योरोपीय महायुद्ध का समय आया। इस युद्ध के आर्थिक, राजनीतिक आदि विस्तृत प्रभाव कैसे पड़े उन पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं और न साहित्य से उनका वैसा प्रत्यक्ष संबंध है। एक बात, जिसका प्रभाव संसार की प्रायः पराधीन जातियों पर सामान्यतः तथा हमारे देश पर विशेषतः पड़ा; विचार कर लेने की है। उस युद्ध में भारत की सेना अँगरेजों के साथ-साथ शत्रुओं से लड़ी और विजय प्राप्त की। तुर्क सिपाही बड़े भयानक योद्धा प्रसिद्ध हैं पर संभवतः उन्हें भी उस युद्ध में भारतीय सिक्खों और गोरखों के सामने नीचा देखना पड़ा। इस घटना ने लोगों की आँखें खोल दीं। आत्मविश्वास के भाव जागरित हो उठे। हमारी पराधीनता का कारण शारीरिक शक्ति हीनता ही है यह भ्रम दूर होने लगा। पराधीनता का जुआ कुछ भारी पड़ने लगा, अखरने लगा। महत्त्वाकांक्षा जगी। उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न देखे जाने लगे। उधर से भी आश्वासन दिया गया। हमें प्रतीत हुआ कि हमारी पराधीनता की रात्रि का अब अव-सान होने ही को है। मंगलप्रभात पास ही है।

इन घटनाओं के और पहले से भी कुछ घटनाएँ अपना कार्य करती चली आ रही थीं। बंग-भंग ने सोते हुए भारतीयों को एक जोर का धक्का दिया था। वे चौंक पड़े थे। काँग्रेस के द्वारा शिक्षा तथा प्रचार के कार्य हो रहे थे। गोखले, तिलक, मालवीय जी और एनीबेसेंट के द्वारा जनता जगाई जा चुकी थी। उस महायुद्ध ने इधर आत्मविश्वास का मंत्र फूँका। अभीलापाएँ पहले ही से तीव्र हो उठीं। युद्ध के बाद की कुछ घटनाओं से देश में क्षोभ फैल गया। स्वतंत्रता के युद्ध में फिर से प्राण आए। एक बार शिवाजी, राणा प्रताप के समय की स्मृतियाँ सजग हो उठीं। युवकों के हृदय उल्लास से भर उठे। कर्मण्यता तथा प्रयत्न अपना विस्तार करने लगे। प्रयत्नों में सफलता न मिलने पर भी जीवन में एक प्रकार की सजीवता आ गई। इसका प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ा। आत्मविश्वास, महत्त्वाकांक्षा इत्यादि के जो भाव हमारे आज

कल के साहित्य में दिखाई पड़ते हैं उनका कारण ये ही राजनीति परिस्थितियाँ है। इस उल्लास के साथ-साथ नैराश्य की एक धारा भी प्रवाहित हो रही है। उसका कारण अभी तक जीवन में सफलता न मिलना ही है। यदि सफलता मिल गई होती तो करुणा तथा कसक की कहानी तथा वेदना के संगीत की ध्वनि मंद पड़ गई होती। अभी तो वह ऐसी ही रहेगी।

इस महायुद्ध का एक अप्रत्यक्ष प्रभाव और भी पड़ा। लोगों का ध्यान जर्मनी, फ्रांस तथा रूस की ओर आकृष्ट हुआ। वहाँ के प्रमुख साहित्यिकों के ग्रंथों के अनुवादों का क्रम चला। इन ग्रंथों में वहाँ की प्रवृत्तियों का अच्छा प्रतिबिंब रहता है। इनके कारण हमारे साहित्य का आदर्श ऊँचा हुआ तथा जीवन के प्रश्नों को हमारे साहित्य में अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। संक्षेप में जीवन और साहित्य का सामंजस्य अधिक मैत्रीपूर्ण हो चला। फ्रांस तथा रूस के अनेक प्रमुख आख्यायिका तथा आख्यान-लेखकों की कृतियों में वहाँ के साधारण जीवन के बड़े सजीव तथा मार्मिक चित्र अंकित मिलते हैं। उनके अध्ययन से हमारे यहाँ के लेखकों के भावों तथा सहानुभूति के क्षेत्र के अंतर्गत गाँव किसान, मजदूर इत्यादि भी आने लगे। इन नवीन विषयों के ग्रहण का कारण बहुत कुछ हमारी राजनीतिक परिस्थितियाँ तथा योरोप के समुन्नत साहित्य का संपर्क है। योरोपीय साहित्य का प्रभाव हमारे साहित्य पर बहुत पड़ रहा है। हमारे साहित्य में एक कृत्रिम, काल्पनिक तथा लोक से असंबद्ध जीवन की छाप कुछ दिनों से पड़ती आ रही थी। योरोपीय जीवन के ठोस प्रतिघात ऐसे नहीं रहे कि साहित्य में उनकी उपेक्षा की जा सके। अतः जीवन का प्रतिबिंब उन पर बहुत गंभीर तथा स्पष्ट पड़ा। यह अब हमारे साहित्य पर भी पड़ रहा है। कारण इसका यही है कि जीवन की कठोरताओं का तांडव हमारे नेत्रों के सम्मुख इतनी उग्रता से हो रहा है कि हम उनकी उपेक्षा अपने साहित्य में नहीं कर सकते।

योरोपीय साहित्य के संपर्क में आने से हमारे साहित्य पर एक और भी प्रभाव पड़ा। फ्रांसीसी-साहित्य की व्यंगात्मक वक्रता तथा अँगरेजी-

साहित्य की प्रतीकात्मक लाक्षणिकता काव्य के लिए बहुत ही महत्त्व की हैं। इनका अनुकरण हमारे यहाँ भी प्रारंभ हुआ। ये विशेषताएँ पहले तो बंग-साहित्य से छन कर हमारे यहाँ आती रहीं, फिर अँगरेजी-साहित्य का विस्तृत प्रचार होने से उनका प्रभाव साक्षात् पड़ने लगा। यह किस प्रकार का था इसका वर्णन आधुनिक पद्य के प्रसंग में किया जायगा।

यह तो प्रत्यक्ष ही है कि योरोपीय समाज के स्वरूप में तथा हमारे समाज के स्वरूप में बहुत बड़ा अंतर है। हमारे और उनके जीवन के आदर्श ही भिन्न हैं। हमारे यहाँ सुखपूर्वक जीवन निर्वाह की सामग्री प्रकृति देवी अपनी सहज उदारता से एकत्र कर देती है। इस लिए जीवन निर्वाह के लिए कठोर आवश्यकताओं तथा जीवन-संग्राम की भावना इत्यादि का हमारे यहाँ कुछ महत्त्व नहीं था। हमारे समाज का संगठन भी त्याग तथा संयम की नींव पर पारलौकिकता तथा आध्यात्मिकता को लक्ष्य में रखकर किया गया था। हमारे यहाँ की विवाह इत्यादि प्रथाओं में इंद्रिय-वासनाओं के दमन को दृष्टि में रखकर संयम इत्यादि की व्यवस्था की गई थी।

सामाजिक परिस्थितियाँ

योरोप की कठोर प्राकृतिक स्थितियाँ मनुष्यों को चैन से बैठने ही नहीं देती। उनके सम्मुख जीवन-संग्राम की रक्तमयी भीषणता नृत्य करती रहती है। जीते रहने भर के लिए भी उन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ता है। इन सब कारणों से उनकी दृष्टि में संसार का, भौतिकता का महत्त्व अधिक है। उनकी सारी संस्थाएँ, उनके सारे सिद्धांत जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं के केंद्र के चतुर्दिक चक्कर काटा करते हैं। विदेशी शासन के साथ-साथ उनके यहाँ की परिस्थितियाँ भी न जाने किस प्रकार आँधी में उड़कर एक-एक करके हमारे यहाँ आने लगीं। जिन प्रश्नों के अस्तित्त्व का आभास भी हमको नहीं था उनके ऊपर गंभीर होकर हमें विचार करना पड़ा। आध्यात्मिकता की लोक-उपेक्षाकारिणी सुख-निद्रा में भीषण आघात लगा। जिस प्रकार बाल्यकाल के वस्त्रों को हम यौवन में धारण नहीं कर पाते क्योंकि वे तब तक छोटे हो जाते हैं

अथवा हम इतने बड़े हो जाते हैं कि वे हमें छोटे लगने लगते हैं, उसी प्रकार अपनी नवीन परिस्थितियों से घिर कर हमें ऐसा आभास होने लगा कि हमारी प्राचीन सामाजिक संस्थाएँ हमारी आधुनिक स्थितियों के अनुकूल नहीं पड़तीं। ऐसी स्थिति में विकास परिवर्तन तथा क्रांति का आरंभ हुआ। सतर्क रहनेवालों ने धीरे-धीरे परिवर्तन का मार्ग पकड़ा, नवयुवकों ने पुरानी प्रथाओं को बंधन समझ कर एक दम छिन्न-भिन्न कर डालने की ठान ली। सर्वत्र परिवर्तन का प्रारंभ हुआ। इन सब का प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़े बिना नहीं रह सकता था।

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता उसका विज्ञानवाद है। परंपरा से प्राप्त मिथ्या संस्कारों की रूढ़ियाँ शिथिल हो रही हैं। सभ्य मनुष्यों ने प्रकाश में वस्तुओं को देखना सीख लिया है। केवल विश्वास पर बातों को मान लेने की अंध परंपरा उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाती है। बुद्धि तथा विचारों को आवश्यक महत्त्व दिया जाने लगा है। इन सबका प्रभाव संपूर्ण विश्व के साहित्य पर पड़ा है। हमारा अपना साहित्य इससे अलग नहीं रहा। इस बुद्धिवाद ने व्यर्थ की रूढ़ियों के बंधनों को शिथिल कर दिया है।

इसका प्रभाव हमारे धार्मिक विश्वासों पर भी पड़ा है। बहुत सी बातें व्यर्थ समझ कर उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाने लगी हैं। लोक को अधिक महत्त्व देने से मनुष्यों को भगवान् की चिंता करने का अब उतना समय नहीं मिलता। इसीलिए भक्ति-काव्य की धारा अब शुष्क सी हो चली है। एक-आध वियोगी कहीं कोने में बैठे अब भी अजामिल के उदाहरण के भरोसे भगवान् से स्वर्ग पाने की आशा करते हों तो दूसरी बात है पर जन साधारण को अब स्वर्ग की उतनी लगन प्रतीत नहीं होती। लोग संसार ही को स्वर्ग बनाने की अधिक चिंता में है। इन सब बातों से हमारा साहित्य भी प्रभावित हो रहा है।

इन सब विशेषताओं की ओर संकेत कर अपने वर्तमान साहित्य के अध्ययन की ओर हम अग्रसर होते हैं।

गद्य-साहित्य

भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समय से खड़ी बोली को गद्य-साहित्य में पर्याप्त स्थान मिल गया था। पद्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा से चढ़ा-ऊपरी होती आती थी। उस प्रारम्भिक काल में भी सौभाग्य से हमारे साहित्य को अनेक उच्चकोटि के गद्य-लेखक मिले थे जिनकी भाषा में शक्ति रहती थी तथा भावों में आकर्षण। उन लेखकों में खटकने योग्य केवल एक यह बात रहती थी कि उनकी भाषा पर प्रांतीय प्रयोगों का प्रभाव बना ही रहता था। द्विवेदी काल में भाषा से यह दोष दूर हो गया। व्याकरण की शिथिलता हटी तथा भावों को सम्यक् प्रकार से व्यक्त करने की प्रौढ़ता तथा स्पष्टता भाषा में आई। एक बात की कमी उस समय भी रही। प्रत्येक उन्नत साहित्य में हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न विषयों की आवश्यकताओं के अनुसार गद्य-साहित्य में कुछ विशेषताएँ आ जाती हैं। आलोचना की भाषा उपन्यासों की भाषा से भिन्न होती है। विचारों में स्पंदन उत्पन्न करनेवाले निबंधों की भाषा विवरणात्मक तथा वर्णनात्मक निबंधों से भिन्न होती है। भावों तथा विचारों की आवश्यकता के अनुसार भाषा में कुछ-कुछ विशिष्टताएँ आने लगती हैं। अँगरेजी इत्यादि साहित्यों में भौगोलिक पदावली, वैज्ञानिक पदावली इत्यादि शब्दों का प्रयोग इन्हीं विशेषताओं को दृष्टि में रखकर होता है। यह बात द्विवेदी काल के प्रारंभ में नहीं हो पाई थी। बाद में विषयों की आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न क्षेत्रों में भाषा में विशेषताएँ आने लगीं। इस नवीन काल में अनेक ऐसे लेखकों के दर्शन हुए जो अपने ग्रहीत विषयों के अनुरूप भाषा-शैली लेकर सामने आए। अब तक भी अनेक विषयों को सम्यक् प्रकार से प्रतिपादित करने की योग्यता तथा क्षमता हमारी भाषा में नहीं आ पाई है। फिर भी सब मिलाकर स्थिति आशाजनक है तथा भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है। एक बात अवश्य खटकती है। विद्वान् लेखकों ने गंभीर भाषा-शैली में उच्च विषयों का प्रतिपादन बड़ी योग्यता से किया है। किंतु सरल भाषा में विषयों को स्पष्ट करने की क्षमता उत्पन्न

करने की ओर हमारा ध्यान नहीं गया है। नीचे की कक्षाओं में पढ़ाई जानेवाली पाठ्य-पुस्तकों में गद्य के बहुत ही शिथिल स्वरूप का व्यवहार होता है। यह शिथिलता किस प्रकार की है। यह उर्दू की पाठ्य-पुस्तकों को हिंदी की पाठ्य-पुस्तकों से मिलाने से ज्ञात हो सकता है। इसका कारण यही है कि लेखकों का ध्यान सरल भाषा-शैली के विकास की ओर नहीं गया। यदि हमें अपनी भाषा थोड़े से विद्वानों ही के बीच नहीं रखनी है तो किसी दिन हमें भाषा में सरलता लाने का प्रयत्न अवश्य करना पड़ेगा। गंभीर विषयों के लिए उच्चकोटि की भाषा अनिवार्य है। किंतु साधारण विषयों को 'काव्य में रहस्य-वाद' की शैली में लिखना भाषा तथा साहित्य के प्रचार पर आघात पहुँचाना है।

अब हम अपने गद्य साहित्य का अध्ययन कुछ खंडों में विभक्त करके करेंगे। पहले गद्य के कुछ प्रमुख लेखकों को लेंगे।

कुछ प्रमुख गद्य-लेखक

बाबू जयशंकरप्रसाद—जिन दिनों में इन्होंने लिखना प्रारंभ किया उन दिनों हमारे गद्य की स्थिति वंग-साहित्य के अनावश्यक प्रभाव से डाँवाडोल हो रही थी। दूसरी ओर से उर्दू-साहित्य का परिचय रखने-वाले विद्वान् हिंदी की ओर आ रहे थे। इन सब के संपर्क से हमारे साहित्य को लाभ तो बहुत पहुँचा परंतु स्वतंत्र गद्यशैली के निर्माण के काम मे कुछ बाधा अवश्य पड़ी। जिस प्रकार और क्षेत्रों में 'प्रसाद' जी मौलिक हैं उसी प्रकार अपनी भाषा-शैली में भी। आपकी भाषा में उर्दू शब्दों का पूर्ण बहिष्कार रहता है। परंतु इससे अव्यावहारिकता नहीं आने पाती। मुहावरों, कहावतों आदि का प्रयोग आपने कभी नहीं किया परंतु भाषा में कहीं भी शिथिलता नहीं आने पाई। दूसरों की बनाई हुई कहावतों आदि का प्रयोग जिन लोगों को शोभा दे सकता है उनमें 'प्रसाद' जी नहीं हैं। प्रकृति के सूक्ष्म व्यापारों का निरीक्षण पास रहने के कारण आप बहुत सुंदर आलंकारिक विधान कर लेते है। परतु इस

क्षेत्र में भी आप स्वतन्त्र ही रहते हैं। आचार्यों के द्वारा गिनाए हुए अलंकारों के तंग कटघरे में अपने शरीर को संकुचित करके आप कभी प्रवेश नहीं करते। अपनी बात को स्पष्ट करने को जिन चमत्कृत उक्तियों का आप विधान करते हैं वे भाषा के स्वरूप की शोभा-वृद्धि में सहायक होती हैं। पुष्पों को पंखड़ियों के सुकुमार कंपन, पुष्करणी के कमल-दल की उल्लासपूर्ण क्रीडाएँ, पक्षियों के विविध क्रीड़ा-कौतुक, उषा की स्निग्ध अरुणिमा आदि प्राकृतिक रमणीय उपादान आपके अप्रस्तुत विधान में सहायक होते है। आपके भाव-क्षेत्र की परिधि का विस्तार इतना अधिक है कि प्राकृतिक रमणीय दृश्यों में से साम्य की प्रतिष्ठा के लिए सामग्री प्रस्तुत करते समय आपको कंजूसी नहीं करनी पड़ती। एक प्रसंग-प्राप्त दृश्य के लिए अनेक रमणीय अप्रस्तुत आकर खड़े हो जाते हैं। उनमें रमणीयता तथा माधुर्य्य इतना अधिक होता है कि पाठक का जी नहीं ऊबता। नीचे के उदाहरण में यह बात देखी जा सकती है:—

"प्रणय वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े, विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं! हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से भी वीभत्स और प्रलय की अनल-शिखा से भी लहरदार होती हैं! मुझे तुम्हारा सिंहासन नहीं चाहिए।"

प्रसाद जी प्रकृति के रमणीय उपादानों से अपरिवेष्टित मनुष्यता की ओर दृष्टि भी नहीं डालते। उनकी सृष्टि के नर-नारी प्रकृति से लिपटे हुए दृष्टिगोचर होते हैं, और प्रकृति की उन स्थितियों का वर्णन भी ऐसा सार्थक होता है कि यदि वह शीत-पवन के झोंके का वर्णन करेंगे तो उनकी समर्थ पदावली हमें उस पवन का स्पर्श भी करने में सहायता देगी। शब्दों के द्वारा परिस्थितियों की विशेषता उत्पन्न करने की इतनी अपूर्व क्षमता कम लेखकों में होती है। इन विशेषताओं को इस उद्धरण में कुछ-कुछ देखा जा सकता है:—

"साधुओं का भजन कोलाहल शान्त हो गया था। निस्तब्धता रजनी के मधुर क्रोड में जाग रही थी। निशीथ के नक्षत्र, गंगा के मुकुर में अपना प्रतिबिम्ब देख रहे थे। शीत पवन का झोंका सबको आलिंगन करता हुआ विरक्त के समान भाग रहा था।

महात्मा के हृदय में हलचल थी, वह निष्पाप हृदय ब्रह्मचारी दुश्चिन्ता से मलिन शिविर छोड़कर कंबल डाले, बहुत दूर गंगा के जलधारा के समीप खड़ा होकर अपने चिर संचित पुण्यों को पुकारने लगा।"

शब्दों के द्वारा चित्र अंकित करने की शक्ति भी आपमें अद्भुत है। दृश्यों की सूक्ष्म से सूक्ष्म रेखाओं को पाठक देख सकते हैं। इन चित्रों के रंग इतने पारदर्शक होते हैं कि चित्रस्थ व्यक्ति के हृदय को भी हम स्पष्ट देख सकते हैं। एक उदाहरणः—

"घंटी के कपोलों में हँसते समय गढ़े पड़ जाते थे। भोली मतवाली आँखें गोपियों के छायाचित्र उतारतीं, और उभरती हुई वयसंधि से उसकी चंचलता सदैव छेड़-छाड़ करती रहती। वह एक क्षण के लिए भी स्थिर न रहती—कभी अँगड़ाई लेती तो कभी अपनी उंगलियाँ चटकाती। आँखें लज्जा का अभिनय करके जब पलकों की आड़ छिप जाती तब भी भौंहें चला करतीं। तिस पर भी घंटी एक बाल विधवा है।

अंतस्तल की सूक्ष्म भावनाओं—क्षोभ, शोक, वेदना, ग्लानि आदि—को आप बड़ी कुशलता से व्यक्त कर लेते हैं। भाव तथा भाषा की ऐसी घनिष्ठ मैत्री कम देखने को मिलती है। अधिक उदाहरण देना संभव नहीं। इन पंक्तियों में पाठक एक वीर पुरुष के रणभूमि की भीषणता के केंद्र में स्थित होकर प्रकट किए गए उद्गारों को देखेंः—

"सेनापति! देखो, उन कायरों को रोको। उनसे कह दो कि रणभूमि में पर्व्वतेश्वर पर्व्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिंता नहीं, एक बार इन दस्युओंको बतला देना होगा कि भारतीय लड़ना भी जानते हैं। बादलों से पानी बरसने की जगह वज्र बरसें, सारी गजसेना छिन्न भिन्न हो जाय, रथी विरथ हो; रक्त के नाले धमनियों से बहें, परंतु एक पग भी पीछे हटना पर्व्वतेश्वर के लिए असंभव है। धर्म-युद्ध में प्राणभिक्षा माँगनेवाले भिखारी हम नहीं। जाओ उन भगोड़ों से एक बार जननी के स्तन्य की लज्जा के नाम पर रुकने को कहो। कहो कि मरने का क्षण एक ही है। जाओ।"

बँगला की शाब्दिक चमत्कार-प्रधान शैली का आप अनुकरण नहीं करते। संस्कृत की रससिक्त पदावली की सहायता से आपने एक स्वतंत्र शैली की उद्भावना की है जो आपकी अपनी है। जब विचार सूक्ष्म

और गंभीर होंगे तो भाषा स्वतः साधरणकोटि से ऊपर उठी हुई होगी। ऐसी अवस्था में लेखक पर क्लिष्ट भाषा लिखने का आरोप करना बहुत न्यायोचित नहीं प्रतीत होता। लोक में प्रचलित तद्भव शब्दों को अना॰ वश्यक तत्सम बनाना बहुत आवश्यक नहीं है किंतु प्रसाद जी को दाल से द्विदली अधिक स्वादु प्रतीत होती है और चौराहे की अपेक्षा आप चतुष्पथ से जाना अधिक उचित समझते हैं। अब धीरे-धीरे आप नीचे उतर रहे हैं। 'कंकाल' में बहुत ही परिचित पदावली को लेकर आप सामने आए हैं और 'तितली' तो और भी हलके पर लगाकर उड़ी है।

बाबू प्रेमचंद जी—यह कहा जा चुका है कि जो लेखक उर्दू-साहित्य की ओर से इधर आते हैं उनमें कुछ विशेषताए रहती हैं। यह मानना ही चाहिए कि मुसलमानों ने अपने यहाँ बात-चीत की कला का अद्भुत विकास किया है। हमारी भाषा को साहित्यिक रूप में बोले जाने का सौभाग्य बहुत कम प्राप्त होता है। हिंदी के विद्वान् लेखक भी पारस्परिक स्नेहालाप में ग्राम्य भाषाओं की ही शरण लेते हैं। उर्दू वालों में 'बनने' की प्रकृति के कारण भाषा का एक बहुत ही चलता हुआ रूप व्यवहृत होता है। इसी कारण उनकी भाषा में एक विशेषता है जो हिंदी में अभी तक नहीं आने पाई। इस विशेषता को लेकर जो लेखक इधर आते हैं उनकी शैली में एक विशेष चमत्कार रहता है। ऐसे लेखकों में खटकनेवाली केवल एक बात यह होती है कि वे अपने साथ कुछ ऐसी विशेषताएँ भी लाते हैं जिनका निर्वाह हिंदी की शांत तथा गंभीर भाषा-शैली में नहीं हो पाता। बाबू प्रेमचंद उर्दू-भाषा-शैली की संपूर्ण स्पृहणीय विशेषताओं को लिए हुए आए परंतु उन्होंने हिंदी की प्रकृति का सदा ध्यान रखा। इसी कारण इनके द्वारा भाषा की बहुत सेवा हुई। हिंदी की चमत्कारपूर्ण अभिव्यंजन-शैली का विकास भी हुआ और उसका अपना स्वरूप भी अक्षुण्ण बना रहा। हमें क्षणभर को भी यह ज्ञात नहीं हुआ कि लेखक शुद्धि कराके यहाँ आया है। यह तो इनकी भाषा का साधारण परिचय है। एक उपन्यास-लेखक के लिए यह आवश्यक होता है कि वह अपनी भाषा को भिन्न-भिन्न पात्रों की विशेषताओं के

अनुसार तथा प्रसंग-प्राप्त भिन्न-भिन्न भावों के अनुसार परिवर्तित करता रहे। पहली बात की आवश्यकता चरित्र-चित्रण के लिए होती है, दूसरी भाव-व्यंजना के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है। प्रेमचंद जी में ये दोनों विशेषताएं हैं। उनके पात्र विद्वान्-मूर्ख, नागर-ग्रामीण, हिंदू-मुसलमान, पुरुष-स्त्री बालक सब प्रकार के हैं और सब अपनी-अपनी व्यवहृत भाषा की विशेषताओं से पृथक् पृथक् पहचाने जा सकते हैं। इस विषय मे एक सिद्धात पर लोगों मे मतभेद है। कुछ लोग कहते हैं कि ग्रामीणो के द्वारा ग्राम्य-भाषा का प्रयोग करवाना तथा मुसलमानों के द्वारा उर्दू-भाषा का प्रयोग करवाना बहुत उचित नहीं, क्योंकि उसके द्वारा भाषा की सहज बोधगम्यता नष्ट होता है तथा उसकी साहित्यिक शिष्टता पर आघात पहुँचता है। दूसरे लोग कहते हैं कि पात्रों के अनुरूप भाषा होने से चरित्रों में स्वाभाविकता आती है। संभवतः इन दोनों के बीच का मध्यम मार्ग अधिक उचित हो। पात्रों के अनुसार कुछ परिवर्तन तो स्वाभाविकता की रक्षा के लिए आवश्यक है। पर वह परिवर्तन इतना नहीं होना चाहिए कि उसके द्वारा भाषा की शिष्टता पर आघात पहुँचे। अँगरेजी उपन्यासकार अपने पात्रों की भाषा में देश तथा स्थिति के अनुसार कुछ भेद अवश्य रखते हैं परंतु वे ऐसा कभी नहीं करते कि एक तुर्क पात्र से तुर्की बोलवावें। ऐसी अवस्था में हिंदी के उपन्यासों में उर्दू का आग्रह उचित नहीं प्रतीत होता। यदि प्रेमचंद जी की किसी कहानी में कोई पात्र चीन-देश का होगा तो क्या वे उससे चीनी भाषा में बोलवावेंगे? जब उनके मुसलमान पात्रों को हम ऐसी भाषा में बोलते सुनते हैं तो हमें यह तो अवश्य मानना पड़ता है कि प्रेमचंद जी अच्छी उर्दू भी लिख लेते हैं पर इसके बिना भी काम चलाया जा सकता है। इनकी उर्दू का एक नमूना भी देख लिजिए:—

"मैं खुद अपने दौराने मुलाज़िमत म उनकी नक़्ल व हरकत की रिपोर्ट लिखा करता था। मगर मेरे खियाल में किसी ज़िम्मेदार हिंदू ने गवर्नमेंट के इस तर्ज़ेअमल की मुखालिफ़त नहीं की। हालांकि मेरी निगाह में सरक़ा, क़त्ल वग़ैरह इतने मकरूह फ़ेल नहीं हैं जितनी अक़्मव फ़रोशी।"

प्रसंग-प्राप्त भावों के अनुसार भी इनकी भाषा अपने स्वरूप में परिवर्तन करती रहती है। यदि शृङ्गारिक वर्णन है तो भाषा में माधुर्य्य होगा, यदि क्रोध का प्रसंग है तो उग्र शब्दों का प्रयोग होगा, यदि उत्साह चित्रित करना है तो भाषा ओजपूर्ण होगी। यदि दुश्चरित व्यक्ति के प्रति वैराग्य तथा तिरस्कार के भाव प्रकट करने हों तो भाषा मे घृणा के भाव भरे रहेंगे प्रस्तुत भावों तथा प्रसंगों का मेल मिलाने तथा भावों को स्पष्ट तथा उद्दीप्त करने को कुछ अनुभूति पर निर्भर अप्रस्तुत परिस्थितियाँ बड़ी मार्मिकता से जड़ दी जाती है। कुछ उदाहरण: —

१—"वह उस बालक के समान थी जो अपने किसी सखा के खिलौने तोड़ डालने के बाद अपने ही घर में जाते डरता है।"

२—"कृष्णचन्द्र ने पहले तो इन वाक्यों को इस प्रकार सुना जैसे कोई चतुर गाहक व्यापारी की अनुरोधपूर्ण बातों को सुनता है।"

३—"सुमन की दशा उस लोभी डाक्टर की सी थी जो अपने किसी रोगी मित्र को देखने जाता है और फीस के रुपये अपने हाथ से नहीं लेता।"

४ "लेकिन जिस प्रकार बालक किसी गाय या बकरी को दूर से देखकर प्रसन्न होता है, पर उसके निकट आते ही भय से मुँह छिपा लेता है, उसी प्रकार सुमन अभिलाषाओं के द्वार पर पहुँचकर भी भीतर प्रवेश न कर सकी।"

इन उपमान वाक्यों से भाषा का सौष्ठव भी बढ़ता है और उसकी अभिव्यंजन शक्ति भी। अपने अनुभव के द्वारा सुंदर सूक्तियों की रचना भी इनकी एक विशेषता है। यह विशेषता आज-कल के किसी हिंदी-लेखक या कवि में नहीं है। जिस प्रकार तुलसी की कविताएँ प्रसंगानुसार उद्धृत की जाती हैं उसी प्रकार प्रेमचंद जी की सूक्तियों का भी भविष्य में, हिंदी-साहित्य के विस्तृत प्रचार होने पर, उपयोग किया जावेगा। इन सूक्तियों मे जीवन सम्बन्धी कोई न कोई ऐसा तथ्य सम्मिलित रहता है जिसका अनुभव प्रायः लोगों को होता है और जिसको किसी प्रचलित वाक्य में पा जाने से लोगों को अपने भाव प्रकट करने में बहुत सुविधा होती है। कुछ उदाहरण;—

१—भय की चरम सीमा ही साहस है।

२—वैमनस्य में अंध विश्वास की चेष्टा होती है।

३—जो मनुष्य कभी पहाड़ पर नहीं चढ़ा है उसका सिर एक छोटे से टीले पर भी चक्कर खाने लगता है।

४—वह कामातुरता जो कलुषित प्रेम में व्याप्त होती है, सच्चे अनुराग के आधीन होकर सहृदयता में परिवर्तित हो गई।

इनके वर्णनों में काव्योचित कल्पना तथा चित्रण का पुट भी रहता है। एक उदाहरण:—

"इस पर्वत मालाओं से घिरे हुए गाँव में आकर उन्हें जिस शान्ति और आनन्द का अनुभव हुआ उसके बदले में वह ऐसे-ऐसे कई राज त्याग कर सकते थे।"

राय कृष्णदास जी—आप बहुत ही समर्थ तथा सशक्त भाषा-शैली के प्रतिष्ठापक हैं। गद्य काव्य लिखनेवाले इने-गिने हिंदी के लेखकों में आपका बहुत ऊँचा स्थान है। संस्कृत-पदावली के अनावश्यक प्रयोग के आप पक्षपाती नहीं हैं। ठेठ परिचित शब्दों का संस्कृत की पदावली के साथ-साथ बहुत सुंदर संमिश्रण करते हैं। आपके द्वारा संस्कृत शब्दों का प्रयोग केवल सौंदर्य वृद्धि के लिए आवश्यक समझकर किया जाता है, अनावश्यक तत्समता के आग्रह के कारण नहीं। इनकी भाषा विषय के अनुरूप अपने स्वरूप में आवश्यक परिवर्तन कर लेती है। आख्यायिकाओं के कथनोपकथन से ग्रामीण-भाषा का भी प्रयोग हुआ है। उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी आवश्यकतानुसार कर लिया गया है। कहानियों में अपेक्षाकृत उर्दू शब्दों का आधिक्य है। जैसे, 'हमसाया', 'ताज्जुब', 'क़हर', 'क़ब्ज़ा-मुख़ालिफ़ाना', इत्तला' इत्यादि।

आपके वर्णनों में चित्रोपमता रहती है। जिस दृश्य का वर्णन करते हैं उसका चित्र-सा अंकित कर देते हैं। एक उदाहरण:—

"कई माँझी गीले जाल ओढ़े, सिर पर गीली धोती की गेंडुरी के ऊपर मछलियों की झाँपी रक्खे, अपने-अपने घर लौट रहे थे। यद्यपि वे हिंसा करके आ रहे थे तो भी स्नान की पवित्रता उन पर झलक रही थी।

खटिक अपने खाली टोकरे सिर पर औंधाये, कान में एक फालतू पैसा खोंसे सट्टी

से फिरे आ रहे थे। कुछ मज़दूर काम से छुट्टी पाकर धूलियाँ राक्षस से आदमी बनने की फिक्र में नदी की ओर चले जा रहे थे।"

प्राकृतिक दृश्यों के प्रति आपका बहुत अनुराग है अतः वर्णनों में प्रकृति के सुंदर उपादानों का उपयोग प्रायः करते रहते हैं। कभी-कभी एक दृश्य के लिए आलंकारिक ढंग से अनेक प्राकृतिक उपादान एकत्र कर देते हैं—

"रमणी माया की तरह रहस्य-मय, कुहक की तरह चमत्कार-पूर्ण, शिशु-हृदय की तरह सरल, चंद्रिका की तरह निर्मल, कला की तरह मंजुल और प्रकृति की तरह अकृत्रिम थी। किन्तु आतप की सरसी की तरह वह सूख गई थी। उसका मुँह प्रभात चन्द्र की तरह पांडु पड़ रहा था।"

छोटे-छोटे वाक्यों के द्वारा बहुत ही कवित्वपूर्ण शैली से इनके वर्णन चलते हैं। जैसे:—

"सारा कानन चित्र विचित्र कुसुम और पल्लवों से सज उठा है। हुलसी भ्रमरावली फूल-डोल पर पेंगे ले रही हैं। सुमन उसके कपोलों पर पराग का गुलाल पोत रहे हैं, मधु पिला रहे हैं, वह छककर मौज के गीत गा रही है। पल्लव करताल दे रहे हैं। भावुक चपल पवन लतिकाओं से छेड़छाड़ कर रहा है, उन्हे गुदगुदा रहा है, झकझोर रहा है। वे खिल कर हँस के फूलों की झड़ी लगा रही हैं"

उपर्युक्त उद्धरण में लोक में प्रचलित मधुर पदावली का कैसा सुंदर प्रयोग किया गया है। 'साधना' तथा 'प्रवाल' नामक दो गद्यकाव्य भी आपने लिखे हैं। प्रवाल वात्सल्य-रसपूर्ण है। शिशुओं का वर्णन करते समय उनके भोले भावपूर्ण क्रीड़ा-कलापों पर लेखक इतना मुग्ध हो जाता है कि वह स्वयं शिशु बनकर महामाया की नेहपूर्ण अंक में किलोल करने को उत्कंठित हो जाता है। इन पंक्तियों में लेखक कैसे भोले ढंग से जगज्जननी से बातें कर रहा है:—

"मेरे नाच में न लय है, न भाव। लेकिन तो भी तुम्हें उसी में खुशी मिल जाती है। मेरी पैंजनी कभी एक दम से बज उठती, कभी मंद पड़ जाती है। मेरा कठुला मेरे वक्ष पर हिलोरें मार रहा है और उसके घुँघुरू झुनमुन-झुनमुन ध्वनि करते हैं। मेरे झगा के छोर छहर रहे हैं और मेरे कोमल कुटिल, स्वर्ण-भूरे

केशों के सिरे जरा जरा उड़ रहे हैं, मेरे चक्कर काटने से आन्दोलित पवन द्वारा उत्कम्पित हो रहे हैं। माँ! सब छोड़ कर तुम मेरी यह लीला क्यों देखती हो?"

'साधना' में बड़े सुकुमार भक्तिपूर्ण उद्गार प्रकट किए गए हैं। इस शैली में एक विशेषता है। रूपक, अन्योक्ति से पृथक् एक विशेष प्रकार की शैली से जिसे हम प्रतीकात्मक कह सकते हैं काम लिया गया है। यह हमारी भाषा के लिये एक नई चीज है जो पश्चिमी आँधी के साथ बंगाल में आई थी। इनके द्वारा इस शैली का बहुत ही सुंदर प्रयोग किया गया है और अपनी भाषा की प्रकृति तथा विशेषताओं का ध्यान रखा गया है। एक उदाहरण:—

"मैंने अनन्त काल से इस मानस को पंकिल बनाया था कि तुम्हारे पक-पंकज इस में विकसित हों। आज वह अर्थ सिद्ध हो गया और उनके राग से वह रंजित हो रहा है।

नयनों से वारि इस लिए बहाया था कि उनमें तुम्हारा वदन-वारिजात प्रस्फुटित हो। आज वह लालसा पूर्ण हुई और अब मैं निरंतर उसे आनंदाश्रुओं से सींच रहा हूँ।

श्री वियोगी हरि——राय कृष्णदास जी की तरह ये भी गद्य-काव्य लेखकों में हैं। इस विषय की 'भावना' इनकी मुख्य पुस्तक है। ये बहुत भावुक-हृदय लेखक हैं। इनके भक्ति के उद्गारों में जितनी भावुकता, सरसता तथा सत्यता रहती है उतनी कम लेखकों में मिलेगी। इसका कारण यह है कि भक्ति इनके लिए केवल पुस्तकों की वस्तु नहीं है; इनके जीवन की अभिन्न सहचरी है। विषयों के अनुसार इनकी भाषा अनेक रूप परिवर्तित करती रहती है पर इनका निजी व्यक्तित्व सर्वत्र स्पष्ट लक्षित होता है। इनकी भावपूर्ण रचनाओं के हम दो स्वरूप पाते हैं। एक में पांडित्य-प्रदर्शन, अलंकार, अनुप्रास इत्यादि का अधिक ध्यान रहता है। दूसरी शैली में हृदय के भावों को सीधे-साधे ढंग से घरेलू, मीठी भाषा से कहते हैं। भावावेश की शैली में भावुकता अधिक होती है, वाक्य छोटे-छोटे होते हैं, शब्द परिचित होते हैं। इस प्रकार की भाषा में विदेशी शब्दों का प्रयोग भी हो जाता है। एक उदाहरण:—

"दया-धाम! काँटा निकालकर क्या करोगे ? चुभा सो चुभा। उसकी कसकीली चुभन ही तो अब तक मेरे इन अधिर प्राणों को धैर्य बँधाती आई है। सच मानों प्रीति-गली के इस काँटे की कसकीली चुभन या चुभीली कसक ही मेरे जीर्ण-शीर्ण जीवन का एक मधुरतम अनुभव है। सो, नाथ यह काँटा अब ऐसा ही चुभा रहने दो।"

"करुणाकर ! कृपा करो, किरकिरी निकालकर क्या करोगे ? पड़ी सो पड़ी। इस कसक-किरकिरी की ही बदौलत ये आँखें तुम्हें देखने को अब तक खुली हैं।"

पांडित्यपूर्ण शैली में वाक्य लंबे हो जाते हैं, अलंकारों का प्रयोग अधिक होता है, अनुप्रास-विधान का आग्रह बढ़ जाता है तथा संस्कृत-पदावली का बाहुल्य हो जाता है। एक वाक्य: —

"जिसके आवेश से ज्योतिहीन नेत्रों में प्रलयंकरी रौद्रतेज, क्षीण और अवनत बाहुओं में हिमाद्रि-मर्दन बल एवं पराक्रम, निस्सहाय हृदय में क्रांतिकारी उत्साह और उत्तेजन, तथा निर्बल वाणी मे लोक-प्रकंपन ओज का अकस्मात् उदय हो जाता है, उसी दिव्य शक्ति को तुम्हारा आदेश कहते हैं न !"

अनुप्रासों में सरलता तथा स्वाभाविकता रहती है। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उनकी योजना के लिए लेखक को अधिक परिश्रम करना पड़ा है। दो एक उदाहरण: —

"सरस समीर के सौरभ-संचय का रस-रहस्य मुग्धा प्रकृति ने बड़े ही कौशल से उद्घाटित किया है।"

"अपनी लाडली लली की एक लीला और सुन लो। किसी तरह मैंने अपना मन-मानिक मानसी-मजूषा में बंद करके रख छोड़ा था।"

"मैं मकरंद-मत्त मधुप मंडल से मिलकर मुसकराते हुए गुलाब की चितवन से थोड़ा सा मधु मँगाकर इस पात्र में रख लूँगा।"

"कितने मनचले मतवाले उछल कूद मचा रहे थे और कितने कर्मठ कामना-कामिनी को कंठ से लगाए जल केलि में निरत थे।"

"काव्य में कलित-कलाओं का केलि कल्लोल देखकर ही विज्ञान तत्व में तन्मय हुआ है।"

इस अनुप्रास-रुची के दर्शन हम विशेष्य विशेषण योजना में भी कर सकते हैं। जैसे—प्रचंड तांडव, जटिल जामदग्न्य, वृहद् व्यापार,

प्रेम प्रसाद, भाव भिक्षा, मुग्ध मधुप, चाहभरी चातकी। अलंकार प्रकृति के रमणीय दृश्यों से चुने जाते हैं। जैसे—'थिरकती हिलोर की तरह कुछ अलापती है'।

लंबे-लंबे सांगरूपकों की योजना भी बड़ी सुंदर कर लेते हैं। यह तो मानी हुई बात है कि बहुत दूर तक चलनेवाले रूपकों में दोनों पक्षों में प्राप्त होनेवाला सादृश्य विधान असंभव है, फिर भी इनके रूपकों में रमणीयता रहती है। नीचे की पंक्तियों में करुणा का सरिता के साथ कैसा सुंदर साम्य स्थापित किया है:—

'वह एक पुनीत और सरस सरिता है। परिश्रान्त पथिकों! उसमें अवगाहन करके ही आगे बढ़ना।

वह कोई साधारण सरिता नहीं है। अनंत के वज्रोपम वक्षस्थल से निकलकर वह आज भी भावना के अगम्य अंचल पर मत्तमातंग-गति से बह रही है। त्रिताप-त्रिकूट विचूर्ण करती, निर्दय प्रस्तर-खंडों से टकराती एवं निराश की मरुस्थली को सींचती हुई, अंत में, वह भावुकों के हृदय सागर को प्रेमालिंगन देती है।"

जो वियोगी हरि जी एक ओर अपनी एकांत-उपासना हृदय की निर्जन कुटी में किया करते हैं वे ही अपने संसारी रूप में अत्यंत करुणापूर्ण रूप से उपस्थित होते हैं। उस करुणा के प्रसार के अंतर्गत सभी दुखी, निस्सहाय तथा सताए हुए आ जाते हैं चाहे वे समाज की नीची से नीची श्रेणी के ही क्यों न हों। उनके हृदय की सहानुभूतिपूर्ण आर्द्रता एक ओर दया, अनुग्रह के रूप में प्रकट होती है, दूसरी ओर घृणा, उपेक्षा और क्रोध में। इसके पात्र होते है अत्याचारी, निरंकुश और धर्म-ढोंगी। पाखंड, प्रवंचन तथा प्रतारणा आपके लिये असह्य हैं। ये इन्हें देखकर बौखला उठते है, पागल हो जाते है। फिर तो इनके हृदय की भावना 'पगली' होकर धर्म-ढोंगियों को, तीर्थ-पुरोहितों को, मंदिर में पाखंड रचनेवालों को, धर्म के नाम संसार में नरक रचनेवालों को बहुत ही जली-कटी सुनाने लगती है। उस क्रोध के तप्त आवेश में उसका गला सूखने लगता है। परंतु फिर भी पानी माँग-माँगकर अपने गले का सिंचन करती हुई वह कहती ही चली जाती है। इसी आवेश में

इनकी शैली व्यंग तथा वक्रता पूर्ण हो जाती है। इसमें ये प्रायः विपरीत लक्षणा से काम लेते हैं। उस प्रशंसा में निंदा होती है और निंदा में प्रशंसा। एक उदाहरणः—

"पुरुषने स्त्रीके साथ और भी अनेक उपकार किए हैं। क्या यह साधारण बात है कि वह वेद-पाठ इत्यादि के भारी भारसे सदाके लिए मुक्त कर दी गई है? उसे अक्षर-शत्रु बनाकर क्या बुद्धिमान पुरुषने व्यभिचार आदि पापोंसे नहीं बचा लिया है? गृहिणीसे उसे रमणीमें परिणत कर लेना क्या कोई मामूली बात है? सहस्रों कुलवधुओंको मंगलामुखियाँ बना डालना पुरुष की क्या सहृदयता नहीं है। बेचारे पुरुषको आज भी अहोरात्र रमणीकी ही चिंता रहती है। उसके स्तनों और नितंबोंकी नई-नई उपमाएँ खोजते-खोजते ग़रीब हैरान हो रहा है। कविहृदय पुरुषने उस महाअपवित्र नारीकी कटिको, जो अनिर्वचनीय परब्रह्मको कोटिका मान लिया है, सो क्या कोई मामूली समझका काम है?"

श्री चतुरसेन शास्त्री—एक ही मूल से निकले हुए तत्सम तथा तद्भव शब्दों में बहुत अंतर रहता है। तद्भव शब्दों में एक अनूठा माधुर्य्य होता है। संभवतः इसका कारण बहुत दिन का परिचय तथा प्रयोग ही है। इसी मिठास से प्रभावित होकर श्री मैथिलीशरण गुप्त ऐसे लेखकों ने भी लक्षण के स्थान में लच्छिन* लिखना प्रारंभ किया है। उपन्यासों में तो यह प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती जाती है। शास्त्री जी के शब्दों के प्रयोग में यह विशेषता है कि वे प्रायः मधुर तद्भव शब्दों को भी रखते चलते हैं। जैसे—उछाह, लच्छन, हुलास आदि। ऐसे शब्दों से भाषा अपरिचित सी लगने से बची रहती है। तत्समता का व्यर्थ का आग्रह हमारी भाषा को साधारण श्रेणी के लोगों से अलग कर रहा है। यह बात साहित्य के प्रचार की दृष्टि से बहुत शुभ नहीं है।

दूसरी विशेषता शास्त्री जी की भाषा में स्थानीय मुहावरों का प्रयोग करना है। खड़ी बोली में इतनी नागरिकता आ गई है कि उसमें स्थानीय मुहावरों को शरण ही नहीं मिलती दिखाई पड़ती। यह मानना ही पड़ेगा कि भाषा की शक्ति का विकास जितना अपढ़ लोगों के द्वारा होता

---

* यही डीठ लगने के लच्छिन भूले खाना पीना—'यशोधरा से'

है उतना विद्वानों के द्वारा नहीं। स्थानीय मुहावरों के ग्रहण से भाषा की शक्ति ही बढ़ेगी। दिल्ली ही नहीं, पूर्वी प्रांतों में भी बड़े सुंदर प्रयोग मिल सकते हैं जिनसे भाषा की शक्ति तथा सौंदर्य की वृद्धि होगी। यह कार्य धीरे-धीरे सतर्कता से करना अच्छा होगा। शास्त्री जी की भाषा में ऐसे बहुत से स्थानीय प्रयोग हुए है। जैसे—घूँसों से घड़ते थे, धमर कुटाई करते, धौल धप्प, लल्लो-पत्तो नहीं छोड़ती थीं आदि। कुछ स्थानीय शब्द ऐसे आ गए है जिनका समझना बाहरवालों के लिए कुछ कठिन पड़ेगा। उदाहरण के लिए इनका ततैया (वर्र) शब्द लिया जा सकता है।

भाषा जब प्रयोग में आती है तो उसमें लिखित भाषा से कुछ भेद होने लगता है। खड़ी बोली के प्रांत में बोलते समय कुछ विभक्तियाँ तथा शब्द छोड़ दिए जाते हैं। इनका अध्याहार सरलता से हो जाता है। इससे भाषा में संकोच तथा व्यावहारिकता आती है। यह भी शास्त्री जी की भाषा की एक विशेपता है। ज्यों-ज्यों हमारी भाषा उन्नति करती जायगी त्यों-त्यों विभक्तियों का प्रयोग कम होता जायगा। कुछ विभक्तियाँ लुप्त हो जायँगी; कुछ घिसकर शब्दों के साथ ऐसी मिल जायँगी कि उनका पहचानना भी कठिन होगा। यह बात खड़ी बोली में भी प्रारंभ हो गई है पर पूर्वी प्रांतों में नहीं, जहाँ के लोग खड़ी बोली के केवल साहित्यिक स्वरूप का प्रयोग करते हैं। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं जिनमें कुछ शब्द छोड़ दिए गए हैं:—

१—इस तरह चुपचाप आह भरने से तो न चलेगा।

२—बनी के सब साथी थे।

यहाँ पर पहले वाक्य में 'चलेगा' क्रिया का कर्ता छिपा हुआ है और 'बनी' शब्द का विशेष्य। समुन्नत भापा में प्रयोग तथा व्यवहार से इस प्रकार का लाघव आ ही जाता है।

शास्त्री जी ने अनेक विपयों पर लिखा है और भापा भी विपयों के अनुसार परिवर्तित हुई है। इनकी भापा की सबसे बड़ी विशेपता उसकी व्यावहारिकता तथा अकृत्रिमता है। पांडित्य-प्रदर्शन के प्रलोभन में लेखक बहुत कम पड़ता है। 'अंतस्तल' नामक पुस्तक में हर्ष शोक, घृणा

इत्यादि भावों के वशीभूत होने से मनुष्य के अंतस्तल की जो अवस्थाएँ होती हैं उनका चित्र अंकित किया गया है। कुछ आख्यान भी कल्पित कर लिए गए हैं। ऐसी कल्पनाओं में मनोरंजन लक्ष्य में नहीं रखा गया है, सूक्ष्म विषय का सम्यक् दृष्टि से प्रतिपादन ही लेखक का ध्येय है। मनोवेगों का बहुत ही वैज्ञानिक वर्णन हुआ है। हमारी भाषा में इस विषय पर इस प्रकार की यह पुस्तक अकेली ही है। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है:—

"मेरा बच्चा मर गया। उसे दूध नहीं मिला। मेरी स्त्री के स्तनों में जितना दूध था—वह सब पिला चुकी। जब निबट गया, तब लाचार हो गई। बाज़ार से मिला नहीं; पैसा न था। बिना पैसे बाज़ार में कुछ नहीं मिलता। पहले जब संसार में बाज़ार नहीं थे, घर थे, तब सबको सब कुछ मिलता था। चीज़ के होते कोई तरसता न था। अब खुल गये बाज़ार और बाज़ार मे उन्हीं को मिलता है जिनका बाज़ार है और बाज़ार है पैसे का। पैसे ही से बाज़ार है। बच्चा कई दिन सूखे मुँह सूखे स्तन चूसकर सिसकता रहा। अंत में ठंढा पड़ गया।"

मुंशी शिवपूजन सहाय—मुंशी जी की भाषा की तीन स्पष्ट शैलियाँ हैं। इनकी कहानियों की भाषा साधारण लेखों की भाषा से भिन्न होती है। 'देहाती दुनियाँ' नामक पुस्तक में हम इन दोनों प्रकार की भाषाओं से भिन्न प्रकार की शैली को पाते हैं। इनका सामान्य व्यक्तित्व इन तीन शैलियों में अंतर्हित रहता है। इनकी रुचि सजावट की ओर अधिक है। कहानियों में तो ये कभी-कभी बाणभट्ट का आदर्श सम्मुख रखकर चलते हैं। इनकी इस प्रकार की भाषा में शब्दों का कुछ बाहुल्य हो जाता है। शब्दमैत्री का ध्यान रखते हुए शाब्दिक चित्रणों को कुछ अधिक महत्त्व प्राप्त होता है। जैसे:—

"उस सघन वन में नवकिसलय से सुशोभित एक अशोक-वृक्ष-तले एक सजीव सुषमा की सौम्य मूर्ति, लहलही लता-सी तन्वी, सरल-तरल दृष्टिवाली, कोई कान्तिमयी कान्ता, खड़ी-खड़ी, मल्लिका-वल्लरी-वितानों के भीतर कबूतरों की क्रीड़ा एवं अलि-अवलि-केलि-लीला देख देख, चकित हो चिबुक पर तर्जनी अँगुली रखकर, मंद-मंद मुस्कानों की लड़ियाँ गूँथ रही थी। मंजुल-मजरी-कलित तरुवर

की शाखाओं पर, शान से तान का तीर मारनेवाली काली-कलूटी कोयल, पल्ल-वावगुंठन से मुँह छिपाये बैठी हुई, इस अनूरूपा सुंदरी को देख रही थी। शीतल-सुरभित समीर विलुलित अलकावली-तीर डोल-डोलकर रस घोल जाता था।"

अपनी अखबारी भाषा में ये कुछ नीचे उतर आते हैं, फिर भी तर्ज वही रहता है। अपने देहाती दुनियाँ नामक उपन्यास में एक विशेष आदर्श का पालन किया है। इसमें ठेठ और साहित्यिक भाषा के बीच में रहनेवाला भाषा-स्वरूप का आश्रय लिया गया है। साहित्यिक स्वरूप से यहाँ तात्पर्य तत्सुमता के पक्षपाती पांडित्य से है। इस शैली में ये बहुत ही सफल हुए हैं। भावों की व्यंजना, दृश्यों के चित्रण इत्यादि सब सजीव ढंग से किए गए हैं। हम प्रायः देखते हैं कि गँवार कहे जाने-वाले लोग हमारी अपेक्षा अधिक कहावतों का प्रयोग करते हैं। इसी आदर्श के अनुसार इस पुस्तक में कहावतों का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। अपने भावों को व्यक्त करने के लिए अपढ़ लोगों के पास ऐसी क्षमता रहती है जो प्रायः कोरे पंडितों में नहीं मिलती। परिश्रम के आधिक्य को सूचित करने के लिए घोर परिश्रम, भयानक परिश्रम आदि से भी हम वह बात नहीं व्यक्त कर पाते जो एक गँवार "हड़तोड़ मेह-नत" प्रयोग के द्वारा कर लेता है। हड़तोड़ शब्द में समवेदन के साक्षात का जो स्वरूप प्राप्त होता है वह पांडित्यपूर्ण विशेषणों में कभी नहीं प्राप्त होता। ऐसे शब्दों का 'देहाती दुनिया' में बहुत प्रयोग हुआ है। क्या अच्छा होता यदि ऐसे शब्दों को और साहित्यिक विस्तार प्राप्त होता और विद्वान् लोग इनके प्रयोग में अपनी हेठी न समझते। हमारी परिहासवृत्ति में स्पंदन उत्पन्न करनेवाले व्यंग के साथ देहाती दृश्यों का अच्छा चित्रण हुआ है। कुरुक्षेत्र के युद्ध का एक नमूनाः—

"बाबू रामटहल सिंह ने हवेली में आना-जाना छोड़ दिया। इसी बात पर बुधिया और महादेई में खटपट हो गई। हवेली का आँगन कुरुक्षेत्र बन गया! झाड़ू बनी धनुष और मूसर बना गदा! बेलना और लोढ़ा तीर-तलवार बने! भाले की जगह घमाशान घूँसे चले। झोंटे नुचे। कितने ही घड़े फूटे। बड़े घमा-

सान की लड़ाई हुई। पर कोई बीचवान नहीं बना। भरपेट लड़-झगड़कर दोनों अलग-अलग घरों में बैठकर रोने लगीं।"

एक-एक प्रसंग प्राप्त वर्ण्य के लिए धारावाहिक रूप में अनेक अप्रस्तुतों की योजना करना भी इनकी एक विशेषता है। जैसे—"हम तो मइयाँ के अंचल में—करुणा के क्रोड़ में—शान्ति के शिविर में—ममता की मंजूषा में—वात्सल्य की वाटिका में—स्नेह के सुख-सदन में—चैन से सोये पड़े थे!"

कहावतों, अलंकारों आदि की योजना से निम्नांकित वर्णन कैसा सजीव हो उठा है:—

"अपनी मौज से कमाने-खाने के कारण अंग-अंग खिल उठा। तब वह कंडे बनाने और गोबर बीनने वाली बुधिया नहीं रही। जब पेट भरने लगा, तब मन भी चौकड़ी भरने लगा। तब देह चिकनाने लगी। बरसात का जल जैसे जाड़े में निर्मल हो जाता है, वैसे जवानी चढ़ते ही बुधिया का रूप मधुर हो गया। वह अब सहजही आँखें चुराने और मुसकराने लगी।"

देहाती क्रोध का एक दृश्य देख लीजिए:—

"बुधिया मुँह बिचका कर बड़े तपाक से बोली—तुम्हारे कहने से मैं यहाँ से न उठूँगी। आवेगा वही असल बाप का बेटा तो मुझे उठावेगा। उसकी दाढ़ी नोच लूँगी। अब वह सीधी तरह नहीं मानेगा। गाँव भर के सामने उसका पानी उतारूँगी। उसे इजलास पर चढ़ाऊँगी। हाकिम के सामने, हाथ में गंगाजल, गाय की पूँछ और पीपर का पत्ता देकर हलफ उठवाऊँगी।"

बिहार की भाषा की प्रकृति खड़ी से कुछ भिन्न पड़ती है। 'ने' आदि का प्रयोग उन उन लोगों के लिए कुछ क्लिष्ट ही होता है। मुंशी जी ने बड़े विनोद से 'देहाती दुनिया' की भूमिका में यह बात लिखी है "और अगर बन पड़े तो यह भी स्मरण रखिएगा कि एक तो मैं ठेठ भोजपुरिया हूँ, दूसरे बिहारी—कोढ़ में खाज!" यह केवल लेखक की अत्यधिक नम्रता ही है। जितनी सफलता से गद्य का प्रयोग आप कर लेते हैं, उतनी कम लेखकों में मिलती है। बिहारीपन आपकी शैली में कहीं नहीं मिलता। संपादन की भी आप में अच्छी क्षमता है। 'मत-

वाला' पत्र की सफलता का बहुत कुछ श्रेय आप ही को है। पाक्षिक 'जागरण' 'गंगा' आदि पत्र-पत्रिकाओं का संपादन भी आपने किया है और बड़ी योग्यता से किया है।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'—आपकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी स्वाभाविकता है। बनावट, व्यर्थ का पांडित्य-प्रदर्शन आदि कुछ नहीं है। किसी दुःख से कातर व्यक्ति के प्रति करुण होकर लिखते हों अथवा शृंगार की कोमल भावनाओं में मग्न होकर अथवा अत्याचारी के प्रति क्रुद्ध होकर, परंतु भाषा की स्वाभाविकता कभी नष्ट नहीं होती। उनकी भाषा की दूसरी विशेषता है उसकी उमंग। यौवन की मादकता, आत्मविश्वास, दुःखों के वातावरण से ऊपर उठने की शक्ति, आशावाद आदि के दर्शन सर्वत्र होते रहते हैं। किसी दिन दुखिया का चित्र अंकित करते समय भी लेखक अपनी स्वाभाविक उमंग और उल्लास को नहीं भूलता। अलंकार-विधान में भी यह विशेषता बनी ही रहती है। उपमान प्रस्तुत करने लगते है तो एक के बाद दूसरे उपमानों की झड़ी बाँध देते हैं। इन अलंकारों मे साम्य भी रहता है और चमत्कार भी। जब वर्णन विस्तृत हो जाता है तो साम्य की अपेक्षा चत्मकार ही की अधिक रक्षा हो पाती है। इस चमत्कार में तृप्ति देनेवाली एक विशेषता होती है। देखिए:—

"मेरे एक बच्चा था। चाँदनी-सा गोरा, नये चाँद-सा प्यारा, युवती के कपोल-सा कोमल, प्रेम-सा सुदर, चुंबन-सा मधुर, आशा-सा आकर्षक और प्रसन्न हँसी-सा सुखद।

मेरी एक मां थी। मसजिद की तरह बूढ़ी, आम की तरह पकी, दया की तरह उदार, दुआ की तरह मददगार, प्रकृति की तरह करुणामयी, खुदा की तरह प्यारी और कुरानपाक की तरह पाक।"

साम्य स्थापना की लेखक में अद्भुत क्षमता है। इसी से उसके रूपको में चमत्कार, सादृश्य इत्यादि की बहुत सुंदर योजना हो जाती है। नीचे की पंक्तियों में देखिये:—

"रोज की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। सायंकाल अस्ताचल की छाती पर पतित, मूर्छित दिनमणि कैसा अप्रसन्न, कैसा

निर्जीव रहता है। वह गुलाबी लड़कपन नहीं, वह चमकती-दमकती गरम जवानी नहीं, वह ढलता हुआ कंपित करोंवाला व्यथित बुढ़ापा भी नहीं। श्री नहीं, तेज नहीं, ताप नहीं, शक्ति नहीं। उस समय सूर्य को उसकी दिन भर की घोर तपस्या, रसदान, प्रकाशदान का क्या मूल्य मिलता है? सर्वनाश, पतन, उस पार—क्षितिज के चरणों के निकट, समुद्र की हाहामयी तरंगो के पास—पतित सूर्य की रक्त चिता जलती है। माथे पर सायंकाल रूपी काला चांडाल खड़ा रहता है। प्राची की अभागिनी बहिन पश्चिमा 'आग' देती है। दिशाएँ व्यथित रहती हैं, खून के आँसू बहाती रहती हैं। प्रकृति में भयानक गंभीरता रहती है। पतित सूर्य की चिता की लाल से गगन ओत-प्रोत रहता है।"

चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कर्ता, क्रिया कर्म इत्यादि के निर्दिष्ट स्थानों में भी परिवर्तन कर दिया जाता है। इस व्यक्तिक्रम में किसी विशेष व्यंजना का ध्यान भी रखा जाता है। जैसेः—

"हमारे यहाँ बाकायदा आर्य-समाज-भवन है, और हैं उसके मंत्री सभापति।"

"दाने दाने के मुहताज हो गए और हिन्दुस्तान के कोड़ियों नवाबो की तरह हो गए दरवेश।"

कुछ वाक्यों में ऐसे महत्त्व के शब्दों को जिनकी ओर पाठकों का अधिक ध्यान आकृष्ट करना अभिप्रेत होता है दोहरा दिया जाता है। जैसेः—

"ईश्वर की इच्छा, उसी रात को हमारे गाँव में भयानक आंधी आई, और आई अपने-साथ आग की एक चिनगारी लेकर।"

"व्यथित हृदय परमहंस नदी पार कर रहे थे, पार कर रहे थे उस चंद्र धवल रजनी में युगों से दंडायमान विंध्या के अंचल मे, सुधा को खोजने के लिए।"

"फिर भी—फिर भी प्रलोभन बहुत बड़ा था।"

अँगरेजी भाषा में एक प्रवृत्ति है जिसके अनुसार छोटे-छोटे वाक्य-खंडों अथवा वाक्यों का शब्दों की तरह प्रयोग कर लिया जाता है। यह विशेषता भी इनकी भाषा में मिलती है जैसेः—

"पुरुष, खाने, पहनने के दुख के साथ 'कोई साथी नहीं है' को भी दुख समझता है।"

यहाँ पर साथियों के अभाव को व्यक्त करने के लिए 'कोई साथी नहीं है' यह वाक्य एक शब्द की तरह प्रयुक्त हुआ है।

कभी-कभी अपनी बात को अप्रस्तुत-विधान समन्वित वक्रता के साथ भी व्यक्त करते हैं। 'वह यौवन में पदार्पण कर रहा था' इस बात को कैसे अनोखे ढंग से निम्नलिखित पंक्तियों में कहा गया है:—

"वह बचपन के स्वर्ग से धकेल जरूर दिया गया था पर अभी ड्योढ़ी के भीतर ही था—बाहर नहीं।"

बात को कुछ सूक्ति स्वरूप प्रदान करने की ओर रुचि अधिक रहती है। यह विशेषता काव्य तथा काव्यमय गद्य के लिए बहुत आवश्यक है। विवशता में मनुष्य ईश्वर का स्मरण करता है इस बात को इस ढंग से कहा गया है:—"मनुष्य की विवशता ही भगवान की जननी है।"

शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से कहा जा सकता है कि उग्र जी भाषा की उस शुद्धता के पक्षपाती नहीं है जिसमें विदेशी शब्द कान पकड़-पकड़ कर निकाल दिए जाते हैं। आपने मुसलमान पात्रों के संभाषण के प्रसंग में उर्दू के शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। स्वच्छन्द भावावेष की शैली में संस्कृत के रससिक्त शब्दों के प्रयोग का वाहुल्य है। दोनों प्रकार के उदाहरण साथ-साथ नीचे दिए जाते हैं:—

"यहाँ भी दुनियाका वैसा ही रुख है जैसा लखनऊ में। यहाँ भी रहम करने वाले कम हैं और दोज़खो कुत्तोंकी भरमार है। १५ दिनों से इस शहर की हालत देख रही हूँ। जिसे देखो वही आवाज़ कसने-और वेइज्ज़त करनेको तैयार है; मगर खुदाके नाम पर किसी ग़रीब को पनाह देनेवाला कोई नहीं। मैंने न जाने कौनसा गुनाह किया था जिसका नतीजा इस तरह भुगत रही हूँ।"

"ज्येष्ठ के ज्वलित दिनमणि का ज्योतिर्मय-मुख निस्तेज हो चला था। विजयिनी संध्या के प्रचंड पराक्रम से पराजित, अपमानित और दुःखित चंडकर रक्ताम्बरा पश्चिमा के लाल अंचल से अपने क्लांत कलेवर को छिपाता अस्ताचल के घोर अंधकारमय गह्वर की ओर भागा चला जा रहा था। दिशाएँ साँय साँय कर रही थी। प्रकृति, सम्राट् सूर्य के इस भयानक पतन को देखकर मानों स्तब्ध हो गई थी।"

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी—इनकी शैली आलोचनात्मक है। भाषा, विचारों पर प्रभाव डालती हुई तथा भावों को उद्दीप्त करती हुई अग्रसर होती है। पदावली का प्रयोग बहुत ही संयत हुआ है। शब्दों की व्याप्ति कहाँ तक है इसका पूरा ध्यान रखा गया है। शब्दों की प्रयौगिक विशेषता पर अँगरेजी का प्रभाव पड़ा है। एक उदाहरण—

"इसमें संदेह नहीं कि सामयिक साहित्य लोक-रुचि की उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि लोक-रुचि विकृत है तो सामयिक साहित्य लोक-रुचि की उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि लोक-रुचि विकृत है तो सामयिक साहित्य लोक-प्रिय कैसे हो सकता है? इसलिए लोक-प्रियता पर जिस साहित्य का अस्तित्व निर्भर है उसके लिए यह संभव नहीं कि वह 'सु' और 'कु' की विवेचना करे। यदि वह देखेगा कि लोग 'सु' की अपेक्षा 'कु' की ओर झुक रहे हैं तो वह उसीको ग्रहण करने में संकोच नहीं करेगा। विचारणीय यह है कि साधारण लोग झुकते किस ओर हैं। विद्वानों की राय है कि साधारण लोग साहित्य में सत् और असत् की विवेचना नहीं कर सकते।"

आपकी व्यंग्यात्मक शैली भी बहुत ही मार्मिक होती है। एक उदाहरणः—

"देश-सेवा के कारण बुरे कृत्य भी अच्छे हो जाते हैं। देश-भक्ति की मुहर पड़ते ही सब चीजें महत् हो जाती हैं। यह वह पारस पत्थर है जिसके स्पर्श मात्र से लोहा सोना हो जाता है। हिंदी-साहित्य में देश-भक्ति की सुधा में सश्लिष्ट होने के कारण कितनी ही सड़ी गली चीजों को हम गले के नीचे उतार रहे हैं। हिंदी के पत्रों में हमने ऐसे विज्ञापन देखे हैं जिनमें यह लिखा गया है कि अमुक पत्र के अमुक संपादक जेल काट आये हैं। पत्र पर उनका नाम मात्र रहने से ही उनका पत्र अच्छा हो जाता है। यदि कोई पुस्तक-प्रकाशक देश-भक्त हुआ तो आठ आने की किताब बारह आने में बेंचकर भी देश-भक्ति की दुहाई देता है।"

आख्यान तथा आख्यायिकाएँ

पशु पक्षियों की राग विराग की प्रवृत्तियों का व्यायाम 'अपने' की परिधि के भीतर ही होता रहता है। उनके 'अपने' का क्षेत्र भी बहुत संकुचित रहता है। बच्चे के उड़ने योग्य हो जाने पर माता का मोह भी उड़ जाता है। अपने प्रेम तथा द्वेष की प्रवृत्तियों का विस्तार क्षेत्र में

व्यायाम करना मनुष्य स्वभाव की एक विशेषता है। अपना कुटुंब, अपना समाज, अपना देश आदि भावनाएँ उसके निदर्शन हैं। इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्य दूसरों के सुख-दुःख का परिचय प्राप्त करने को उत्कंठित रहता है। इस आकांक्षा की पूर्त्ति कहानियों में होती है। आत्माभिव्यंजन के साथ साथ दूसरों के रहस्य का परिज्ञान भी हमारे जीवन के लिए आवश्यक है। पहले की पूर्त्ति हम कुछ लोगों को अपना बनाकर तथा उनसे अपनी कहकर कर लेते हैं। दूसरी आकांक्षा की पूर्त्ति के लिए कथा-कहानी की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्यता में सहानुभूति की इतनी शक्ति है कि वह 'अपने' के संकुचित क्षेत्र में रही नहीं सकती। वह अपना विस्तार विस्तृत से विस्तृत क्षेत्र में करना चाहती है। इसके लिए कथा-कहानियों की सृष्टि होती है। हमारी सभ्यता के विकास के साथ-साथ कहानियों के विषय तथा स्वरूप परिवर्तित होते रहते हैं। परंतु उनका मूल तत्त्व वैसा ही अक्षुण्ण, अपरिवर्तित बना रहता है। कहानी का मोह जीवन के प्रारंभ से लेकर जीवन के अंत तक का सहचर है। नानी की कहानी के बाद अध्यापक की कहानी का समय आता है। यौवन के प्रारंभ के साथ शृंगार रस की कहानियों का महत्त्व बढ़ने लगता है। जीवन के अंतिम दिनों में राम, कृष्ण की कहानियाँ हमारा ध्यान आकृष्ट करने लगती हैं। संक्षेप में कहानी का प्रेम हमारे हृदयों में सदा बना रहता है।

प्रत्येक समुन्नत साहित्य में आख्यान तथा आख्यायिकाओं का महत्त्व है। ये साहित्य का एक बहुत बड़ा अंग भी हैं। कवियों तथा नाटककारों की संख्या से उपन्यास-लेखकों की संख्या प्रायः अधिक ही रहती है। पर हमारे साहित्य में अभी कुछ दिनों पहले तक यह क्षेत्र शून्य ही सा पड़ा था। संभवतः सर्व प्रथम जायसी ने अपनी पद्मावत की कथा लिखी जिसमें ऐतिहासिकता तथा कल्पना का सुंदर सम्मिश्रण है। और भी अनेक सूफी भक्तों ने अपने प्रेम के सिद्धांतों के निरूपण के लिए कुछ आख्यानों की कल्पना की। फिर बहुत दिनों तक इस विषय में कुछ न किया जा सका। कुछ दिनों पश्चात् इंशा अल्ला खाँ

अपनी 'रानी केतकी' को लेकर आए। भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में लाला श्रीनिवास दास ने परीक्षागुरु, बाबू राधाकृष्णदास ने निःसहाय हिंदू और पंडित बालकृष्ण भट्ट ने नूतन ब्रह्मचारी तथा सौ अजान एक सुजान नामक उपन्यास लिखे। फिर इसके बाद बाबू देवकीनंदन खत्री के चंद्रकांता और चंद्रकांता संतति उपन्यासों की धूम रही। पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने तो उपन्यासों का ढेर ही लगा दिया। वे उपन्यास कैसे थे इसके विषय में पीछे कहा जा चुका है। यहाँ संभवतः इतना कहने से काम चल जायगा कि जैसे उपन्यासों के लिए आजकल के लोग उत्सुक है वैसे गोस्वामी जी प्रस्तुत न कर सके। अयोध्यासिंह जी के ठेठ हिंदी का ठाट और अधखिला फूल की चर्चा भी प्रसंगानुसार ऊपर हो चुकी है। यह भी कहा जा चुका कि पंडित लज्जाराम मेहता ने भी धूर्त रसिकलाल इत्यादि उपन्यास प्रस्तुत किये थे जिनमें स्वाभाविक चरित्र-चित्रण की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया था। बाबू ब्रजनंदन सहाय के राधाकांत इत्यादि उपन्यासों का महत्त्व अवश्य है। इसके बाद हम नवीन काल में आते हैं।

इस काल के प्रारंभ में हम बाबू प्रेमचंद जी को एक युग-प्रवर्तक के रूप में पाते हैं। इस काल को हमने सवत् १९७५ से माना है। इसके पहले भी संवत् १९६२ के आस-पास इनकी 'प्रेमा' निकल चुकी थी परंतु इन्होंने पाठकों का ध्यान अपनी ओर उस समय से आकृष्ट करना प्रारंभ किया जब से सरस्वती तथा लक्ष्मी पत्रिकाओं में इनकी मौलिक कहानियों के दर्शन होने लगे। सेवासदन' के प्रकाशन के साथ साथ तो हमारे साहित्य में कायापलट होने के दृश्य उपस्थित होने लगे। हमारे साहित्य का यह पहला श्रेष्ठ मौलिक उपन्यास है। इसके पश्चात् तो इनके अनेक उपन्यास निकले। रंगभूमि, कायाकल्प, प्रेमाश्रम, ग़बन, कर्मभूमि इत्यादि बड़े उपन्यासों के साथ-साथ निर्मला, प्रतिज्ञा इत्यादि भी है। कहानी-क्षेत्र में भी बहुत ही मौलिक तथा आदर्श कार्य किया है। कुछ लोगों की सम्मति है कि आपकी कहानियों मे मार्मिकता अधिक रहती है तथा उनका प्रभाव हृदय पर

अधिक गंभीर पड़ता है। वास्तव में यदि प्रभाव की दृष्टि से देखा जावे तो आपकी कहानियों का महत्त्व उपन्यासों से कम नहीं है। छोटी सी कहानी में रानी सारंधा के जिस त्यागपूर्ण तथा ओजपूर्ण चरित्र के हम दर्शन कर लेते हैं वह हमें फिर विस्मृत नहीं हो पाता। प्रेम के आकर्षण की जो व्यंजना 'कामनातरु' नामक छोटी सी कहानी में हो गई है वह बड़े बड़े उपन्यासों में भी पाना दुर्लभ है। नवाबी के अंतिम दिनों की अवध की ऐतिहासिक परिस्थिति का कैसा सुंदर चित्र 'सतरंज के खेलाड़ी' नामक कहानी में अंकित किया गया है। और भी अनेक कहानियाँ अनुपम बन पड़ी हैं। इन कहानियों में जीवन के सब क्षेत्रों में क्रीड़ा करनेवाले पात्रों का प्रदर्शन किया गया है और हर्ष, शोक, क्रोध, घृणा इत्यादि अनेक भावों में अपने पाठकों को मग्न करने में लेखक सफल हुआ है। अब समष्टि रूप से इनके उपन्यासों के विषय में कुछ विचार कर लेना चाहिए।

उपन्यासों में सबसे महत्त्व का अंग उनके पात्र होते हैं। घटना-प्रधान उपन्यास भी कुछ केंद्रीय पात्रों के क्रियाकलापों से ही संबद्ध रहते हैं। प्रेमचंद जी के उपन्यासों के पात्रों में पूर्ण सजीवता रहती है। ये अपने पात्रों की सृष्टि करके उनको संसार के खुले वातावरण में छोड़ देते हैं और अपने-अपने स्वभाव की विशेषतानुसार तथा घटनाओं के घात-प्रतिघात से वे पात्र अपने चरित्र का संगठन स्वयं करने लगते हैं। इनके पात्र सूत्रों के द्वारा नचाई जानेवाली कठपुतलियाँ नहीं हैं। वे सजीव चलते फिरते नर-नारी तथा बालक-बालिका हैं जिनके साथ प्रसंगानुसार हम प्रेम तथा द्वेष कर सकते हैं। हमारे हृदय के भीतर उनके लिए स्थान हो जाता है, वे हमारी राग-विराग की वृत्तियो से संबंध स्थापित कर लेते हैं। यह संबंध चिरस्थायी होता है। कुछ पात्रों के चरित्रों का हमारे हृदय पर इतना प्रभाव पड़ जाता है कि हम उनको जीवन में उसी तरह नहीं भूल पाते जिस तरह अपने किसी प्रिय बंधु को।

ये पात्र जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से लिए जाते हैं। किसान जमींदार, मजदूर, मिल-मालिक, हिंदू, मुसलमान, ईसाई, दुश्चरित

व्यक्ति, सच्चरित्र महात्मा भोले बालक, स्त्रियाँ—सब प्रेमचंद जी के उपन्यासों के रंगमंच पर अपना अपना अभिनय करते हैं और या तो हमें मुग्ध करके या हमारे हृदयों में तिरस्कार या घृणा की भावना उत्पन्न करके चले जाते हैं, परन्तु वे कभी भुलाये नहीं जा सकते।

इन पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए लेखक ने अनेक युक्तियों से काम लिया है। वे स्वयं भी उनके चरित्र की विशेषताएँ बताते हैं और उनको हमारे सम्मुख उपस्थित कर हमें भी अवसर देते हैं कि हम उनसे स्वयं परिचय प्राप्त करें। कथनोपकथन, स्वगत, अन्य विरोधी या मित्र पात्रों के कथन,पात्रों के अपने कार्यकलापों के प्रदर्शन आदि से भी हमें उनके चरित्र की विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त होता रहता है। पात्रों के चरित्रों में जब परिवर्तन होते हैं तो उनकी अवतारणा आकस्मिक नहीं होती। भिन्न-भिन्न परिवर्तित परिस्थितियों की प्रेरणा ही नवागत परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी रहती है। प्रत्येक चरित्र में इतनी विशिष्टता रहती है कि हम पहले ही से भविष्यवाणी कर सकते हैं कि किसी विशेष अवस्था में चल के वह क्या करेगा। 'कला के लिए कला' वाले सिद्धांत का भाव यदि जीवन के नग्न चित्र अंकित करना है तो कहना होगा कि ये इस सिद्धांत को नहीं मानते। मनुष्य-स्वभाव-सुलभ दुर्बलताओं से युक्त होते हुए भी इनके पात्र ऐसे आकर्षक रूप से रंगमंच पर नहीं आते कि दर्शकों को उन बुराइयों के प्रति अनुराग हो। इनके उपन्यास एक वांछनीय आदर्श की ओर उन्मुख रहते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि आदर्श के लिए कला का बलिदान कर दिया जाता है, अथवा चरित्रों के स्वाभाविक प्रवाह में बाहर से बाधाएँ उपस्थित की जाती हैं। आदर्शवाद तथा कला का बहुत ही सुन्दर सम्मिश्रण प्रेमचंद जी की विशेषता है। कुछ स्थलों पर पात्रों के चरित्र का ऐसा नियंत्रण अवश्य किया गया है जो खटक जाता है। एक उदाहरण—'सेवासदन' की सुमनबाई के हृदय में संसार के प्रलोभनों के लिए बहुत बड़ा आकर्षण है। इस आकर्षण का नियंत्रण वह नहीं कर पाती, उसकी परिस्थितियाँ भी ऊपर उठने में सहायता देने के बदले उसे और भी नीचे ही ढकेलती जाती है। पति

द्वारा परित्यक्ता होने पर वह साधारण स्त्रियों की तरह आत्मघात नहीं करती, इसका मुख्य कारण यह है कि जीवन के सुख भोगने की लालसा उसके हृदय से नहीं जा सकी। वह पतन की चरम सीमा पर पहुँचती है। कुलकामिनी से वेश्या बन जाती है। इसके बाद प्रेमचंद जी उसको शुद्ध करना प्रारंभ करते हैं, वह फिर एक आदर्श महिला बन जाती है। जिस स्त्री के चरित्र में इतनी दृढ़ता नहीं थी कि वह वेश्या बनने से रुक सके उसके चरित्र का यह अद्भुत परिवर्तन हमें आश्चर्य में डाल देता है। इस परिवर्तन के लिए जो कारण उपस्थित किए गए हैं वे पर्याप्त नहीं हैं। उसका प्रायश्चित्त यदि हो सकता था तो पाप ही के द्वारा, पश्चात्ताप की भीषण अग्नि में तपकर ही, पाप के मार्ग में स्थान-स्थान पर ठोकरें खाकर ही। जो स्त्री अपने पति के नियंत्रण में भी न रह सकी वह प्रेमचंद जी की कलम के संकेत से देवी बन जाती है। वेश्या बनकर भी वह अपने चरित्र को पवित्र रखती है यह लिखकर उसके प्रति अत्याचार किया गया है। जब वह गिरते-गिरते वहाँ तक पहुँच गई थी तो पतन के अंतिम स्थान पर उसका हाथ पकड़ कर उसे पीछे फेर लेने की क्या आवश्यकता थी? पीछे फिरना संभव अवश्य था, परंतु कुछ और आगे बढ़कर। ऐसी ही कुछ बातें उनके उपन्यासों में जहाँ-तहाँ अवश्य रह गई हैं। कुछ ऐसी बातें भी आ गई हैं जिनके कारण पूर्वापर वर्णनों में कुछ विरोध-सा हो जाता है। उदाहरण के लिए दुबले-पतले सूरदास का जगधर जैसे बलिष्ठ आदमी को बार-बार मल्लयुद्ध में पछाड़ना। इस पछाड़ने की विचित्रता ही के कारण किसी पात्र को यह कहना पड़ा था कि 'सूरदास को किसी देवता का इष्ट है'। 'कायाकल्प' में जन्मजन्मान्तर तक प्रवाहित होनेवाली वासनाधारा के चित्रण के लिए हम लेखक को दोष नहीं दे सकते। प्रथम तो सम्भवतः उसका विश्वास पुनर्जन्म के सिद्धांत में है, दूसरे जन्मांतर के माननेवालों को ऐसी बातों के वर्णन से भी क्षोभ, अविश्वास आदि नहीं होता। 'कादम्बरी' के प्रेम की धारा भी अनेक जन्म तक प्रवाहित होती रहती है।

आधुनिक सामयिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों का चित्रण भी

इनके उपन्यासों में हुआ है। हमारे प्रायः कवियों को आधुनिक राज-नीतिक आंदोलनों में काव्यों के लिए पर्याप्त सामग्री नहीं मिली अथवा वे त्रेता, द्वापर में ही विचरण करते रहे। परंतु प्रेमचंद जी ने अपनी कृतियों में आधुनिक युग का बहुत सजीव तथा सच्चा चित्र अंकित किया है। मुसलिम-समाज का परिचय प्राप्त रहने के कारण इनके मुस-लमान पात्रों में अधिक सजीवता आ गई है। ग्रामीण-जीवन के प्रति इनका बहुत ही अनुराग है। वहाँ के दृश्यों का, वहाँ के खेलों का, पुरुष तथा स्त्रियों के स्वभावों का बहुत ही निकट का परिचय इनको प्राप्त है। इसका उपयोग अपने उपन्यासों तथा कहानियों में किया है।

एक औपन्यासिक के लिए जिस प्रकार की भाषा आवश्यक है वैसी ही इन्हें प्राप्त है। प्रत्येक पात्र की चारित्रिक विशेषताओं के अनुसार भाषा अपने स्वरूप को परिवर्तित करती चलती है। इनके पात्र इनकी ही सिखाई हुई बोली में नहीं बोलते। वे अपनी-अपनी शैली में अपने भावों को व्यक्त करते हैं।

इनके द्वारा हमारे उपन्यासों का आदर्श समुन्नत हुआ है और हमारा साहित्य गौरवान्वित हुआ है।

श्री जयशंकरप्रसाद जी—कहानियाँ तो प्रसाद जी बहुत दिनों से लिखते आये हैं। इधर 'कंकाल' लिखकर उपन्यास-क्षेत्र में भी आपने अपना एक महत्त्व का स्थान बना लिया है। प्रसाद जी के स्वभाव की एक विशेषता जिसके दर्शन उनकी हम सब कृतियों में करते हैं अपनी वस्तु में कुछ ऐसे चमत्कार की योजना करना है जिसकी ओर प्रायः लोगों की दृष्टि नहीं जाती। इस उपन्यास के विषय में अधिक लोगों का यह कथन है कि लेखक ने समाज के सड़े-गले अंग पर प्रकाश डाला है और भव्य स्वरूप की उपेक्षा कर दी है। इसमें संदेह नहीं कि प्रायः ऐसे पात्रों को एकत्र किया गया है जिनकी पैत्रिक परंपरा शुद्ध नहीं है। स्पष्ट शब्दों में हम कह सकते हैं कि वर्णसंकरी सृष्टि का दृश्य दिखाया गया है। यह लेखक की विशेष रुचि है। परंतु समाज के ऊपर आक्षेप करने की इच्छा से अथवा उसके प्रति तिरस्कार की भावना जागृत करने

के विचार से ऐसा किया गया हो यह प्रतीत नहीं होता। बुराइयों के प्रति लोगों को आकृष्ट करने के विचार से भी यह नहीं किया गया है, क्योंकि बुरे दृश्यों को आकर्षक रूप में चित्रित करने का भी प्रयत्न नहीं हुआ है।

बड़े कौशल से इतने वर्णसंकरों को एक ही रंगमंच पर कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत कर देने की लेखक की क्षमता को देखकर वास्तव में आश्चर्य ही होता है। ऐसा करने में कहीं कृत्रिमता नहीं आई है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद जी इस विशेष प्रकार की सृष्टि का निकट का परिचय रखते हैं और आवश्यकतानुसार सरलता से उपयोग कर सकते हैं।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी उपन्यास अच्छा हुआ है। कुछ ऐसे केंद्रीय भीमकाय पात्रों की योजना नहीं की गई है जिनके चारो ओर अन्य पात्र श्रद्धा से प्रदक्षिणा करते फिरें। सब पात्रों में अपने-अपने चरित्र की कुछ विशेषताएँ हैं जिनका निर्वाह आरंभ से अंत तक हुआ है। पात्र अपने कृत्यों से सर्वत्र पहचाने जाते हैं। भ्रम केवल उन सब की एक-सी बोली को देखकर होता है और वह बोली प्रसाद जी की बोली से बहुत कुछ मिलती जुलती है। संभवतः इनके साथ रहते-रहते इनके पात्र भी इनकी भाषा सीख गए हैं। दूसरी बात कभी-कभी यह भी खटक जाती है कि इनके अनेक पात्र दर्शन-शास्त्र पर भी अधिकार रखते हैं। कुछ पात्रों को अलग करके संभवतः यह नहीं कहा जा सकता कि इनका चरित्र हृदय पर सबसे अधिक प्रभाव डालता है। तारा, घंटी, गाला आदि स्त्रियों के चरित्र तथा मंगल, विजय, कृष्णशरण गोस्वामी आदि के चरित्र अच्छे हुए हैं। तारा अपने यमुना रूप में भी बहुत ही त्यागपूर्ण जीवन का आदर्श बनाए रहती है। हर्ष-वर्धन के वंशज का मुग़ल रक्त से संबंध रखने वाली लड़की के साथ विवाह-संबंध भी अपूर्व रहा। गाला की माँ मुग़लवंश के एक शाहजादे से उत्पन्न हुई थी। वनप्रदेश में स्वच्छंद विहार करनेवाली उस रमणी का स्वरूप बहुत ही आकर्षक चित्रित किया गया है।

अनेक पात्रों की शृंखला की बड़े ही संयत रूप से रचा की गई

है। कला की दृष्टि से उपन्यास बहुत उच्चकोटि का हुआ है। ऐसे अद्भुत पात्रों का नियंत्रण बड़ी योग्यता से किया गया है।

प्रसाद जी की कहानियों के आँधी, आकाशदीप, प्रतिध्वनि आदि अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। संसार के खुले हुए मैदान से कथा-वस्तु का संकलन इन्हें नहीं रुचता। ये उन कोनों में झाँकना पसंद करते हैं जहाँ कम लोगों की दृष्टि जाती है। परन्तु उनमें इतना घोर अंधकार रहता है कि इनके ऐसा कलाधर भी वहाँ पूरा प्रकाश नहीं कर पाता। पाठकों को छोड़कर प्रसाद जी इतिहास की अंधकारपूर्ण गुफाओं में प्रवेश करते हैं और वहाँ के अस्ति-खंडों को उठा-उठाकर हमें उनके विषय में अद्भुत महत्त्वपूर्ण बातें बताने लगते हैं। पाठक अधिक न समझकर आश्चर्यचकित रह जाता है। फिर भी वह जो कुछ देखता है वह मधुर होता है, आकर्षक होता है। वह स्वप्नजगत् का दृश्य भी भुलाया नहीं जा सकता, उसकी धुँधली छाया हृदय पर बनी रहती है।

पं० विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'—आपने उपन्यास भी लिखे हैं और कहानियाँ भी। भिखारिणी और माँ इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं और मणिमाला तथा चित्रशाला प्रसिद्ध कहानी-संग्रह। आपके उपन्यास भी बड़ी बड़ी कहानियाँ ही हैं। विस्तृत जीवन के चित्रण के लिए अथवा अनेक समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिए आपने उपन्यास नहीं लिखे हैं। आपकी अनेक कहानियाँ उपन्यासों की अपेक्षा अधिक प्रभाव डालती हैं। 'भिखारिणी' में जस्सो (यशोदा) का चरित्र बहुत ही आदर्श हुआ है। रामनाथ के प्रेम के सम्मुख जात-पाँत की व्यवस्थाएँ बाधास्वरूप खड़ी हो जाती हैं। वे ऐसे प्रेमी नहीं हैं जो इन बाधाओं का उल्लंघन कर सकें। यशोदा के महान चरित्र के सम्मुख वे एक साधारण बालक से प्रतीत होते हैं। यशोदा प्रेम तथा लज्जा दोनों की एक साथ रक्षा करती है। अंत में तो रामनाथ का चरित्र और नीचे गिर जाता है। अपनी प्रेयसी से उसका जो अंतिम सम्मिलन होता है वह प्रेम के उच्च आदर्श की दृष्टि से उसके लिए बहुत महत्व देनेवाला नहीं है। कहाँ प्रेम की वह उमड़ती हुई धारा, कहाँ यह शुष्क हृदयता।

यदि वह अंतिम सम्मिलन न हुआ होता तो उसके चरित्र की कुछ रक्षा हो जाती। माँ नामक उपन्यास में एक दत्त क पुत्र की कथा वर्णित है। चरित्र-चित्रण भी ठीक हुआ है। सुलोचना आगे चलकर जिस वात्सल्य-प्रेम का प्रदर्शन करती है उसको देखते हुए उसका अपने सुकुमार बालक को इतनी शीघ्रता से गोद दे देने को प्रस्तुत हो जाना उस कुटुंब की आर्थिक कठिनाइयों को देखते हुए भी अधिक स्वाभाविक नहीं हुआ। इनके उपन्यासों में प्रायः हम देखते हैं कि पुरुष पात्रों में पुरुषोचित गौरव आदि नहीं है। स्त्रियों के सामने वे बौने से प्रतीत होते हैं। वेश्याओं की लीलाओं के वर्णन का अनावश्यक विस्तार किया गया है। चरित्र-चित्रण में लेखक बहुत कम सामने आता है। कथनोपकथन की योजना अधिक है इससे पात्र अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ पाठकों के सम्मुख बने रहते हैं। स्वाभाविक कथनोपकथन की योजना के द्वारा बड़े कौशल से चरित्र-चित्रण किया गया है। पात्रों की मानसिक स्थितियों का अच्छा चित्रण हुआ है। मानसिक भावनाओं के विश्लेषण में ये बहुत समर्थ हैं। प्रत्येक पात्र की कुछ-न-कुछ सलक्ष्य तथा स्पष्ट विशेषताएँहैं, जिनका निर्वाह परिस्थितियों के सामंजस्य के साथ आद्यन्त होता रहता है। लेखक अपने पात्रों को अपने क्रीडा-कलाप का नियंत्रण स्वयं करने देता है। अनेक कहानियों के विषय सामाजिक कुरीतियाँ तथा रूढ़ियाँ है। परदा-प्रथा आदि का विरोध किया है तथा विधवा-विवाह आदि का समर्थन। आधुनिक अँगरेजी पढ़ी-लिखी लड़कियों से आप अधिक संतुष्ट नहीं प्रतीत होते। ग्रामीण दृश्यों का भी आपने अपनी कहानियों में उपयोग किया है। आपकी कहानियाँ बहुत ही स्वाभाविक हुई हैं भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण, मानसिक वृत्तियों के विश्लेषण आदि की दृष्टि से आपकी कहानियों का हिंदी साहित्य में एक महत्त्व का स्थान है।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा—हमारे प्रायः साहित्यिक वर्तमान काल में ही जीवन बिता रहे हैं। कविगण कभी-कभी वर्तमान से छुट्टी पाकर पीछे की ओर—अतीत की ओर—भी दृष्टि डाल लेते हैं। पर वह दृष्टि बहुत दूर के दृश्यों पर पड़ती है। वे पौराणिक काल में पहुँच जाते हैं—

राम, कृष्ण के समय में। उस धुँधले दूर के अतिरिक्त भी हमारा इतिहास गौरवपूर्ण रह चुका है। मौर्यों और गुप्तों के समय में भी हमारा देश सभ्यता के उच्च शिखर पर था। उनको हम छोड़ भी दें तो भी राजपूताने और बुंदेलखंड की असंख्य गौरव-गाथाएँ हमारे साहित्य के लिए—काव्यों, नाटकों, उपन्यासों के लिए-पर्याप्त सामग्री है। परंतु न जाने लोग उधर क्यों नहीं जाते ? इस दिशा में नाटक में प्रसाद जी ने तथा उपन्यासों में श्री वृंदावनलाल वर्मा ने पथप्रदर्शकों का काम किया है। इनके सबसे प्रसिद्ध उपन्यास गढ़कुंडार का कथानक ठोस ऐतिहासिक आधार रखता है। उन दिनों पारस्परिक विरोध, वैमनस्य आदि का प्राबल्य था; तो भी उन दिनों की वे गाथाएँ हमारे हृदयों में अपूर्व ओज तथा आनंद भर देती हैं। वे दिन हमारे अपने थे। कैसे भी होते हुए उन दिनों हमारे पास कोई वस्तु ऐसी थी जो आज भी हमारे हृदयों में गौरव भर देती है। घटना का समय विक्रम की १४ वीं शताब्दी का मध्य भाग है। उस समय बुंदेलखंड में खंगार-राज्यवंश का बोलबाला था और हुरमतसिंह राज्य कर रहे थे। उपन्यास की केंद्रीय शक्ति सोहनपाल बुंदेले की कन्या हेमवती है जिस पर हुरमतसिंह का पुत्र राजकुमार नागदेव मुग्ध था। हेमवती के विवाह का झूठा आयोजन रचकर बुंदेलों ने खंगारवंश का संहार किया। यहीं से इतिहास-प्रसिद्ध इस जाति का अभ्युदय प्रारंभ होता है। ऐतिहासिकता की कल्पना के साथ बड़े कौशल से रक्षा की गई है। उस काल की विशेषताओं को प्रत्यक्ष करने में लेखक पूर्ण सफल हुआ है। कथा का निर्वाह, पात्रों का चरित्र-चित्रण, भाषा-प्रयोग आदि सब दृष्टियों से उपन्यास बहुत ही उच्चकोटि का बन पड़ा है। उस समय की किला-बंदी आदि का लेखक को अच्छा परिचय है। जाति के अंतर्गत उपजातियों में उच्च नीच की भावनाओं के कारण जो भयानक कांड उपस्थित हो जाया करते थे उनका एक सच्चा दृश्य हम इसमें देख सकते हैं। तारा देवी का चरित्र अत्यंत आकर्षक हुआ है। यह हमारे हृदयों में श्रद्धा तथा आश्चर्य के भाव भर देती है। इब्नकरीम एक सच्चा सिपाही है जो आदर्श राजपूतों के समान ही विश्वसनीय

प्रमाणित होता है। कथा सुनानेवाले कुम्हार के चरित्र को भी बड़ी खूबी से उपन्यास में स्थान दिया गया है। विष्णुदत्त पांडे के पुत्र अग्निदत्त का हुरमतसिंह की लड़की मानवती पर मुग्ध होना तो अस्वाभाविक नहीं है परंतु लेखक ने इन दोनों के प्रेम का अंत में जहाँ तक पहुँचा दिया है वहाँ तक पहुँचना उस समय की सामाजिक परिस्थितियों को देखते संभव नहीं प्रतीत होता। प्राकृतिक दृश्यों का भी वर्णन बहुत ही हृदयाकर्षक हुआ है। 'कुंडलीचक्र' 'प्रेम की भेंट' आदि और भी इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। ये दोनों उपन्यास भी बहुत उच्चकोटि के बन पड़े हैं। इनके प्रारंभिक उपन्यासों को देखकर कौन आशा कर सकता था कि यही लेखक ऐसी महत्त्व की कृतियों की सृष्टि करेगा? इनकी कृतियाँ अपनी भाषा के उपन्यास-साहित्य को एक उच्च आसन पर प्रतिष्ठित करने में समर्थ हैं। इनकी कहानियाँ भी इनकी प्रतिभा के अनुरूप हुई ही हैं।

मुन्शी प्रतापनरायण श्रीवास्तव—आपने लिखा तो कम ही है—'विदा' नाम का एक उपन्यास तथा कुछ कहानियाँ—परतु इतने ही से लोगों का ध्यान अपनी ओर खींच लिया है। योग्यता की परीक्षा, मात्रा तथा परिमाण से नहीं होती। इस विषय में 'कितना' नहीं, 'कैसा' ही महत्व का है। 'विदा' सब दृष्टि से उच्चकोटि का हुआ है और इसे उपन्यासों के लेखक तथा पारखी श्रीप्रेमचन्द जी का भी प्रमाणपत्र प्राप्त हुआ है। इसमें तीन कहानियाँ बड़ी योग्यता से एक दूसरी से समन्वित हुई हैं। एक दूसरे का अंग बन गई है, जिसके बिना उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रह सकता। अनेक प्रधान तथा साधारण पात्र रंगमंच पर आते हैं और हमारी श्रद्धा, प्रेम, आश्चर्य आदि का उपहार लेकर चले जाते हैं पर अपना प्रभाव हृदय पर छोड़ जाते हैं। चरित्र-चित्रण अत्यंत स्वाभाविक हुआ है। स्वर्गीय आदर्श की स्थापना के लिए पात्रों के पैरों में बेड़ियाँ नहीं पहनाई गई हैं। वे जैसे हैं वैसे ही स्वच्छंद विचरण करते हैं। कथनोपकथन तथा कृत्यों से व्यक्तिगत विशेषताओं की स्थापना की गई है जिनका निर्वाह बड़ी सत्यता, सतर्कता तथा निष्कपटता से किया गया है। माँ का चरित्र आदर्श हुआ है। शांता आदर्श माता भी है

आदर्श सास भी। ऐसी ही आदर्श महिलाएँ सम्मिलित कुटुंब की माल-किन होने योग्य होती हैं। वह दर्प तथा अभिमान से उठे हुए कौटुंबिक बवंडर को शांत करने में स्वर्गीय देवी-सी प्रमाणित होती है। शांता, शांता ही है। उसके पुत्र निर्मल की पत्नी कुमुदिनी के पैर जमीन पर नहीं पड़ते क्योंकि वह एक राय साहब की कन्या है। इस त्रुटि के अतिरिक्त उसके चरित्र में और कोई दोष नहीं है। वह भीतर से अपने पति से स्नेह रखती है इसी कारण उसके अभिमान का अंत में मंगलमय प्राय-श्चित्त हो जाता है। केट का चरित्र भी आदर्श प्रेमिका का हुआ है। मिस्टर वर्मा द्वारा समुद्र में फेंके जाने पर भी उससे प्रेम करना नहीं छोड़ती। मृत प्रेमी के शव के पास जब वह जाती है और उसका चुंबन करती है तो उसका चरित्र एक भारतीय रमणी का-सा हो जाता है। उसके ये उद्‌गार कैसे प्रभाव डालनेवाले हुए हैं "प्रेम में प्रतिशोध नहीं, वह तो एक क्षणिक आवेश था। मैं उन्हें प्यार करती थी और जीवन के अंत तक करती रहूँगी।" चपला प्रेम में अपूर्व त्याग करती है। निर्मल से प्रेम करते हुए भी वह कुमुदिनी के कारण उससे विवाह नहीं करती प्रेमी सब कुछ छोड़ सकता है, अपने प्रिय को नहीं। चपला अपने प्रिय को भी सत्य के लिए छोड़ देती है। प्रेम में अत्याचार करनेवाले नटखट मिस्टर वर्मा को घृणा के अतिरिक्त पाठकों से और क्या मिल सकता है? कुमुदिनी की भौजाई, लज्जा भी उसके चरित्र के सुधार में महत्त्व का काम करती है। डिक का चरित्र भी जासूसी उपन्यासों का-सा हुआ है।

श्री जैनेन्द्रकुमार जैन—अभी कुछ दिन हुए आपने इस क्षेत्र में प्रवेश किया। देखते-देखते श्रेष्ठ लेखकों में आपकी गणना होने लगी। वास्तव में आपकी क्षमता, योग्यता तथा प्रतिभा ऐसी ही है। आप सब भाँति से मौलिक हैं—भाषा में भी भाव में भी। आप केवल अनु-करण को कला नहीं मानते। उज्ज्वल आदर्शपूर्ण भविष्य की अवता-रणा करना आपका लक्ष्य है। आप ही के शब्दों में "उपन्यासका काम है, कुछ आगे की, भविष्य की संभावनाओं की झाँकी दिखाना। और जो कुछ अब है उसकी तह हमारे सामने खोलकर रख देना।" कला

विषयक इस सिद्धांत का पालन सर्वत्र किया गया है। तपोभूमि नामक उपन्यास आपने और श्री ऋषभचरण जैन ने मिलकर लिखा है। पिछले लेखक ने इसका बहुत थोड़ा-सा अंतिम अंश ही लिखा है। एक सुंदर प्रेम-कथा बड़ी भावुकता से वर्णन की गई है। प्रत्येक पात्र को अलग-अलग कर देने से कुछ जटिलता सी प्रतीत होती है। ग्रंथ के अंत में मुख्य कथा पर प्रकाश पड़ जाता है। आपकी सब से प्रसिद्ध कृति 'परख' है। उसमें कट्टो नामक रमणी की त्यागपूर्ण प्रेम-कथा वर्णित है। सत्यधन नामक युवक के साथ उसका प्रेम वैसे ही स्वाभाविक ढंग से बढ़ा था जैसे राधा का कृष्ण के साथ। अनुराग परस्पर था। आगे चलकर धन के लोभ से प्रेमी युवक गरिमा नाम की एक वकील कन्या से विवाह कर लेता है। कट्टो का नाम तो सुनने में कठोर है पर उसका चरित्र बहुत ही सुकुमार हुआ है। वह मानवी नहीं देवी है। आज की नहीं कल की है—आगामी कल की नहीं—उस अतीत की जब सुनते हैं स्त्रियाँ देवियाँ होती थीं और पुरुष देवता। सत्यधन प्रेम के उच्च आदर्श की दृष्टि से अंत में जाकर फिसल पड़ते हैं। परंतु कट्टो साधारण भूमि से बहुत ऊपर उठी हुई है और सत्यधन को गिरने से बीच ही में रोक लेती है। उसके अपूर्व त्याग से उसके प्रेमी का चरित्र भी अधिक नीचे गिरने से बच जाता है। वही उपन्यास की संजीवनी शक्ति प्रमाणित होती है। 'वातायन' में आपकी कहानियों का संग्रह है। भाभी, निर्मम, दिल्ली में, चोरी, फोटोग्राफी इत्यादि कहानियाँ बहुत ही गंभीर प्रभाव डालनेवाली हुई हैं। इन कहानियों में भावव्यंजना काव्य की तरह हुई है। करुण दृश्यों का चित्रण करने में लेखक ने बड़ी मार्मिकता से काम लिया है। कहीं कहीं आँसुओं को रोकना कठिन ही हो जाता है।

इनकी भाषा भी कुछ अपनी निजी विशेषता रखती है। स्थानीय शब्दों और मुहावरों के प्रयोग से भाषा में स्वाभाविकता आई है और उसके द्वारा हम पात्रों को अधिक स्पष्टता से देखने में समर्थ हो जाते हैं पात्रों का एक विशेष वातावरण होता है। भाषा, भाव आदि उसके अंग होते हैं। सब पात्रों से बाणभट्ट की बोली में बातें कराकर हम उन्हें बहु-

रूपिया बना सकते हैं वाणभट्ट नहीं। हमारे साहित्य के लिए स्थानीय शब्दों के अधिकाधिक प्रयोग की आवश्यकता है। आख्यान-साहित्य इसके बिना सजीव तथा स्वाभाविक हो ही नहीं सकता। श्री कौशिक जी, श्री चतुरसेन जी तथा श्री जैनेन्द्र जी इस दिशा में विशेष काम कर रहे हैं।

श्री सुदर्शन जी—उर्दू-साहित्य का परिचय रखने के कारण आपका एक बहुत ही स्वाभाविक भाषा पर अधिकार है। भाषा ऐसी नहीं कि पाठकों को अधिक मुग्ध कर पात्रों की ओर न देखने दे। बड़े शांत, गंभीर प्रवाह से कथा अग्रसर होती है। कथा के केंद्रीय स्थल को लेखक पाठकों की दृष्टि से बहुत दूर तक अलग रखता है। यह बात हृदय में 'आगे क्या होगा' यह जानने की उत्कंठा बनाए रखती है। यह कौशल कथा-साहित्य के लिए बहुत महत्व का है। एक दृश्य पर पाठकों की दृष्टि आकृष्ट कर अचानक दृश्य परिवर्तन कर देने से हमारी आश्चर्यवृत्ति की तुष्टी भी होती चलती है। जगत् के बाहर के आदर्शों के फेर में लेखक नहीं पड़ता। हमारे आसपास की दुनिया ही से वह अपनी कहानी खोज लेता है। हिंदी-कहानी-लेखकों में आपका महत्व का स्थान है। जिस प्रकार प्रेमचंदजी की कहानियाँ बिना नाम के ही पहचानी जा सकती हैं उसी प्रकार आपकी। सुदर्शन सुधा इत्यादि आपके अनेक कहानी-संग्रह हैं। 'सुप्रभात' नामक संग्रह में प्रायः राजनीतिक आंदोलन से कथानक लिए गए हैं। सामयिक भावनाओं का अच्छा प्रतिबिंब पड़ा है।

श्री अवधनारायण जी—आप बिहार के एक हिंदी प्रेमी हैं आपको अधिक प्रसिद्धि नहीं हुई क्योंकि कुछ शिष्यों ने ढोल बजाकर आपका विज्ञापन नहीं किया। परंतु विज्ञापन की वायु से उठे हुए साहित्यिक बुद्बुदे कै दिन रह सकते हैं ? सत्यता अपनी घोषणा स्वयं कर लेती है। धीरे-धीरे,-यह बात दूसरी है। विमाता नाम का आपका उपन्यास बहुत ही श्रेष्ठकोटि का हुआ है। जितनी करुणा इसमें भरी है, उतनी कम स्थानों पर मिलेगी। विषय भी इसका सदा नवीन रहने-

वाला है। विमाताएँ पृथ्वी पर सदा रहीं और रहेंगी। यह पुस्तक रामायण का एक दृश्य हमारे सम्मुख उपस्थित कर देती है। कौशल्या, कैकयी राम और लक्ष्मण यहाँ सब उपस्थित हैं। जिस प्रकार रामायण में हमें सुख में भी रोना पड़ता है और दुख में भी, उसी भाँति यहाँ भी। पहले हम रघुनंदन पर किए गए अत्याचारों को देखकर रोते हैं और ग्रंथ के अंत में संयोग की शुभ घड़ी में इतना आनंद होता है कि हम उसे सँभाल नहीं सकते। हमें फिर भी रोना ही पड़ता है। राम के वन से लौटने पर भी तो कुछ ऐसा ही दृश्य उपस्थित हुआ था।

श्री चंडीप्रसाद जी 'हृदयेश'—इनसे हमारे साहित्य को बहुत कुछ आशा थी; पर दुर्भाग्यवश आपके देहावसान से वह आशा पल्लवित न हो पाई। ये भाषा में बाणभट्ट का आदर्श सम्मुख रख कर चलते थे। बात को यों ही कह देने को कहना नहीं समझते थे। बहुत ही कवित्वपूर्ण-शैली से सानुप्रास भाषा में ग्रंथ लिखते थे। संभवतः भाषा के परिमार्जन तथा संस्कार की ओर अधिक ध्यान रखने से उपन्यास के अन्य महत्वपूर्ण अंगों की—चरित्र चित्रण इत्यादि की—उपेक्षा कर देते थे। इनकी ललित पदावली के बीच से पात्र कभी-कभी झाँकते हुए तो अवश्य दिखाई पड़ जाते हैं पर लेखक तुरंत ही उनको पीछे ढकेल रंगमंच पर स्वयं आकर डट जाता है। बातों को अतिशयोक्ति के द्वारा कहना ही आप उचित समझते थे। उदाहरण के लिए 'मंगल-प्रभात' के श्री आनंद स्वामी सांग वेदों के पंडित होने के अतिरिक्त भारतवर्ष की संपूर्ण भाषाओं में निष्णात थे। यही नहीं, अरबी, फारसी तथा अँगरेजी-साहित्य के भी प्रकांड पंडित थे। इनके स्त्री पात्र भी उपनिषदादि का पारायण करनेवाले ही होते थे। वास्तव में इनके पात्रों को कठपुतलियाँ कहना अधिक उपयुक्त होगा। जीवन का चित्र उपस्थित करने के लिए अथवा जीवन संग्राम की भिन्न-भिन्न कठोर समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिए इन्होंने उपन्यास नहीं लिखे।

उपन्यासों की अपेक्षा कहानियों में चरित्र-चित्रण कुछ अधिक अच्छा हुआ है। इनके आख्यान-विधान पर सर्वत्र कवित्व का

आक्रमण आघात पहुँचानेवाला हुआ है। मंगलप्रभात और मनोरमा इनके उपन्यास है तथा नंदन-निकुंज और वनमाला कहानी संग्रह।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'—आप पूर्ण रूप से आधुनिक युग में रहनेवाले हैं। भविष्य के उज्ज्वल आदर्शों का स्वप्न नहीं देखते। आपके लिए कला का आधार अनुकरण ही है। जैसा है उसे वैसा ही कह देने में आप अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं। आधुनिक सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का पूर्ण प्रभाव आपकी कृतियों पर पड़ा है। आधुनिक युग में प्रेम तथा शृंगार के जो भाव हैं उनका भी आप को पूर्ण परिचय है। कभी-कभी समाज में कुछ ऐसी बुराइयाँ आ जाती हैं जिनसे क्षुब्ध होते हुए भी हम उनके विषय में मुँह खोलकर कुछ कहना पसंद नहीं करते। उनको दूर करने के लिए उपेक्षा को भी एक औषध मानते हैं। पर उग्र जी उनके भी नग्न चित्र अंकित करना अनुचित नहीं समझते। इतना ही नहीं उन चित्रों को कभी-कभी इतने आकर्षक रंगों में रंग देते है कि पाठकों को पढ़ते समय अपने संयम की परीक्षा भी दे देनी पड़ती है। यद्यपि ऐसी कथाओं में दुश्चरित्र व्यक्तियों का पतन सर्वत्र दिखाया गया है फिर भी यह पूछने का अधिकार है ही कि उस नरक को इतना रमणीय क्यों बनाया गया?

इनकी राजनीतिक तथा सामाजिक कहानियाँ बड़े महत्त्व की हुई हैं। इनकी कवित्वपूर्ण-शैली मार्मिक भावव्यंजना में सहायता देती है और इनकी कुशल कला, पात्रों की स्पष्ट रूप-रेखा प्रस्तुत करती है। इन दोनों के सम्मिश्रण से जो कुछ सामने रखा जाता है वह अद्भुत, आकर्षक तथा सजीव होता है। पाठकों के हृदय में अभिप्रेत भावोद्रेक करने की क्षमता अद्भुत है। इनकी कृतियों का प्रभाव चिरस्थायी होता है। एक बार के देखे हुए दृश्य भुलाए नहीं जा सकते। जिन पात्रों को आप लेते है उनकी मानसिक उथल-पुथल तथा भावधारा से पूर्ण परिचित रहते हैं। अपने क्षेत्र में आप अद्वितीय ही से है। जो क्षमता आप में है वह कम लोगों में मिलती है। 'चंद हसीनो के खुतूत' नामक प्रसिद्ध उपन्यास में एक प्रेम-कथा पत्रो द्वारा वर्णित है। नायिका एक मुसल-

मान रमणी है जो एक हिंदू पर मुग्ध है। प्रेम के अंतर्गत त्याग का बहुत ही उच्च दृश्य दिखाया गया है। अपने समाज के जिन कोनों को हम पर्दों से ढका रखते हैं और किसी को कभी भी वहाँ झाँकने नहीं देते उन पर आपने अपनी कहानियों में पूर्ण प्रकाश डाला है। विधवाओं की निस्सहायावस्था, समाज के द्वारा किए गए उनके प्रति अत्याचार तथा दुष्टों के चंगुल में फँसने पर उनकी दुर्दशा इत्यादि का सुंदर चित्रण हुआ है। भारत के दो प्रमुख धर्मों के अनुयायी मिथ्या धार्मिक उन्माद में कैसे-कैसे भीषण कांड उपस्थित करते हैं उनका दर्शन उग्र जी की कृतियों में होता है। दिल्ली का दलाल, बुधुआ की बेटी इत्यादि इनके अन्य उपन्यास हैं। दोजख की आग, इंद्रधनुष इत्यादि कहानी संग्रह हैं।

श्री चतुरसेन शास्त्री—आप कहानी तथा उपन्यास दोनों लिखते हैं। 'हृदय की प्यास' तथा 'हृदय की परख' उपन्यास हैं। कहानियाँ 'अक्षत' तथा 'रजकण में संग्रहीत हैं। आपकी भाषा के विषय में पीछे कहा जा चुका है। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि स्वाभाविक भाषा के कारण चरित्र-चित्रण में अधिक सजीवता आई है। कथा में उत्सुकता बनी रहती है। आकस्मिक घटनाओं के द्वारा पात्रों के कार्यों में विघ्न नहीं उपस्थित किए जाते। उपन्यास छोटे होने के कारण पढ़ने में मन नहीं ऊबता। 'अक्षत' की कहानियाँ उच्चकोटि की हुई हैं। 'पानवाली' कहानी में नवाब वाजिदअली की ऐयाशी प्रवृत्तियों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' कहानी की प्रेम-कथा भी बड़ी करुण हुई है। 'अमर-अभिलाषा' नाम का एक उपन्यास अभी प्रकाशित हुआ है जिसके शृंगारी चित्रों से लोग अधिक संतुष्ट नहीं हुए हैं।

पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'—'बाबूसाहब' नाम का आपका एक प्रसिद्ध उपन्यास है। भाषा, चरित्र-चित्रण, पात्रों की मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण आदि की दृष्टि से उपन्यास आधुनिक उच्चकोटि के उपन्यासों की श्रेणी में स्थान देने योग्य है। 'जगद्गुरु का विचित्र चरित्र' भी अच्छा हुआ है। जगद्गुरु की आड़ में बहुत लोगों की शिष्ट आलोचना की गई है।

राय कृष्णदास—अनेक क्षेत्रों से अपनी कहानियों के लिए सामग्री लेते हैं। ऐतिहासिक, सामाजिक सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। आपकी कृतियों में काव्य-कला, चित्र-कला तथा उपन्यास-कला का अच्छा सम्मिश्रण रहता है। पात्रों की मानसिक स्थितियों का चित्रण करके ही आप संतुष्ट नहीं हो जाते उनकी बाह्य रूपरेखा पर भी पूर्ण प्रकाश डालते हैं। कथनोपकथन में बहुत ही स्वाभाविक भाषा का प्रयोग हुआ है। गहूला नर राक्षस, भय का भूत इत्यादि अनेक कहानियाँ बहुत सुंदर हुई हैं।

पं० जनार्दनप्रसाद जी का 'द्विज'—द्विज जी बहुत भावुक हैं, कहानियों में भी काव्य में भी। इनका हृदय बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण है। जीवन के जिन-जिन क्षेत्रों में पीड़ा तथा वेदना से नग्न तांडव हुआ करते हैं वहीं से आपको कहानियों की सामग्री मिलती है। सिनेमा-घरों में जाकर आप प्लाट नहीं ढूँढ़ा करते है। जीवन में ही आपको कहानियाँ भी मिलती हैं और काव्य भी। इनके पात्र अपने भी प्रतिनिधि रहते हैं और कुछ विशेष प्रकार की मनोवृत्ति के मनुष्यों के समूह के भी। इनके नवयुवक पात्र प्रायः बीसवीं सदी के हैं। ये दुनिया के बाहर के पात्रों की खोज में नहीं रहते। मनुष्य स्वभाव का अच्छा अध्ययन है। जिन मनुष्यों को हम परिचित समझते हैं उनको भी हम वास्तव में कहाँ पहचानते हैं? कितनी साधारण स्त्रियों के भीतर देवियों की आत्माएँ वास करती हैं और कितनी ही भली-भोली प्रतीत होनेवाली रमणियाँ अपने सुंदर शरीर के आवरण के भीतर शैतान को बैठाए रहती हैं जिनको हम नहीं पहचान पाते। द्विज जी ने आवरण हटाकर भीतरी दृश्य सम्मुख उपस्थित किए है। प्रत्येक कहानी एक छोटा सा उपन्यास है। द्विज जी की भावुकता का प्रभाव भी कभी-कभी पात्रों पर पड़ जाता है। दूसरे मनुष्यों के हृदय को समझने के लिए हमारे पास अपने हृदय को ही समझने के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। अपने हृदय की भलाई बुराई का प्रतिबिंब यदि हम बाहर देख लेवें तो यह स्वाभाविक ही है। आप कथनोपकथन की अधिक योजना नहीं करते। अपनी ओर से अधिक कहते है। भाषा कवित्वपूर्ण होती है।

पं० विनोदशंकर व्यास—इनको इस क्षेत्र में आए अभी थोड़े ही वर्ष हुए हैं पर अपनी क्षमता से इन्होंने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है। ये कुछ सिद्धांतों को लेकर कहानी लिखने नहीं बैठते। न इन्हें समाजसुधार की चिंता है न स्वर्गीय आदर्शों की प्रतिष्ठा की। जीवन की जिन मर्मस्पर्शिणी बातों का इन पर प्रभाव पड़ता है उनके सजीव चित्र अंकित कर देते हैं। ये जीवन के छोटे-छोटे मार्मिक चित्र हैं। अनावश्यक विस्तृत वर्णनों के फेर में लेखक नहीं पड़ा है। रूखा स्नेह, भूली बात, हृदय की कसक, करुणा इत्यादि अनेक कहानियाँ अच्छी बन पड़ी हैं।

बाबू शिवपूजनसहाय—'देहाती दुनिया' इनका प्रसिद्ध उपन्यास है। इसमें अन्य पात्रों के अतिरिक्त देहाती जीवन स्वयं एक पात्र हो गया है। इनके पात्र देहात की कुछ विशेषताओं, रूढ़ियों, मिथ्या विश्वासों के प्रतिनिधि हैं। भाषा भी विषय के बहुत ही उपयुक्त हुई है। यह पुस्तक अपने ढंग की हिंदी-साहित्य में अनोखी है। इनकी कहानियाँ भी अच्छी हुई हैं। उनमें काव्य का-सा आनंद आता है।

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'—इनकी भाषा काव्यपूर्ण होती है। अंकित किए गए चित्र सुकुमार तथा भावपूर्ण हैं। कहानियों में भी काव्य का पुट दिया गया है। काव्यमय वर्णन के पश्चात् मुख्य दृश्य सन्मुख उपस्थित कर दिया जाता है जो अत्यधिक भावपूर्ण होता है। वह चरित्र का केन्द्र होता है और उसी के द्वारा पिछले चरित्र पर भी प्रकाश पड़ जाता है।

इन लोगों के अतिरिक्त और भी अनेक लेखक हैं जिनका योग्यतानुसार अपना-अपना स्थान है। अनेकों ने उज्ज्वल भविष्य की आशा बँधाते हुए भी अभी अधिक नहीं लिखा है और अनेक ऐसे हैं जिन्होंने लिख तो थोड़े ही दिनों में बहुत कुछ डाला है पर जिनके महत्त्व का निर्णय करने का अभी संभवतः समय नहीं आया है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी बी० ए० की थोड़ी-सी कहानियाँ हैं पर वे अपने ढंग

की बहुत ही सुंदर बन पड़ी हैं। इनकी कमलावती, छायावाद, अदृष्टवाद, धर्म-रहस्य कहानियाँ किसी भी संग्रह को शोभा बढ़ा सकती हैं। धर्म-रहस्य में कथा के केंद्र को बहुत काल तक गुप्त रखा गया है। इनकी कहानी लिखने की अपनी एक निजी शैली है। श्री ऋषभचरण जैन ने अनेक उपन्यास तथा कहानियाँ लिखी हैं। इनके उपन्यासों का डीलडौल तो बहुत बड़ा होता है पर वास्तविक कथानक एक छोटी सी आख्यायिका में ही आने योग्य होता है। इनके 'मास्टरसाहब' का पूर्वार्द्ध तो अनावश्यक ही प्रतीत होता है। 'वेश्यापुत्र' में अविश्वसनीय आकस्मिक घटनाओं की सृष्टि से बवंडर खड़ा किया गया है जो न हमें क्षुब्ध कर सकता है न चकित। इस उपन्यास में हिंदू मुसलमानों की लड़ाई तो ऊपर से ही ठूँसी हुई है। कमला बेचारी को तो व्यर्थ ही वेश्या बना कर उसके प्रति अन्याय किया गया है। 'बिखरे मोती' आपकी कहानियों का संग्रह है। सब देखकर यह आशा होती है कि ये भविष्य में कुछ लिखेंगे। पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी बड़ी शीघ्र गति से इस क्षेत्र में अग्रसर हो रहे हैं। 'दीपमालिका' में संग्रहीत कहानियों के अतिरिक्त 'प्रेमपथ' तथा 'अनाथ पत्नी' इत्यादि इनके उपन्यास भी निकले हैं। जितनी कथावस्तु का निर्वाह करना संभव नहीं उतनी कहानी में ले लेने से अनावश्यक ढंग से काँट-छाँट करनी पड़ी है। इनकी सामाजिक कहानियाँ अहीत समाज का निकट का परिचय सूचित करती हैं। और भी अनेक लेखकों के कहानियों के दर्शन आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं में होते रहते हैं जिनकी कृतियाँ आशाजनक हैं।

इधर कुछ दिनों से दो प्रसिद्ध कवि भी इस क्षेत्र में आए हैं। श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने अनेक उपन्यासों के अतिरिक्त कहानियाँ भी लिखी हैं। श्री सियारामशरण गुप्त का 'गोद' नामक उपन्यास अभी निकला है। इनकी कहानियाँ 'मानुषी' में संग्रहीत हैं। उनमें देहात तथा समाज के अच्छे चित्र हैं। इन कहानी-लेखकों का वर्णन समाप्त करते समय पंडित ज्वालादत्त शर्मा तथा पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी का नाम ले लेना भी आवश्यक है। गुलेरी जी की एक ही कहानी

'उसने कहा था' मिली है पर यह अकेली ही उच्चकोटि के संग्रह-ग्रंथों में स्थान पाने योग्य हुई है। पंडित ज्वालादत्त शर्मा बहुत पुराने कहानी-लेखक हैं। भाषा, चरित्र-चित्रण भावधाराओं के विश्लेषण इत्यादि की दृष्टि से आपकी अनेक कहानियाँ महत्त्वपूर्ण बन पड़ी हैं। इधर कुछ दिनों से आप इस क्षेत्र से उदासीन हो रहे हैं।

इधर कुछ लेखिकाएँ भी इस क्षेत्र में आने लगी हैं जिनमें श्री सुभद्राकुमारी चौहान तथा श्रीमती शिवरानी देवी मुख्य हैं। श्री कुमारी जी को अपने 'बिखरे मोती' के लिए ५००) का सेकसरिया पुरस्कार भी मिला था। कुमारी जी की भाषा बहुत सरल होती है। प्रायः कहानियाँ सामाजिक हुई हैं जिनमें स्त्री-हृदय की भावधारा का अच्छा चित्रण हुआ है। आपने एक बार यह दावा किया था कि स्त्री-हृदय को पुरुष कभी नहीं समझ सकते। श्री शिवरानी देवी श्री प्रेमचंद जी की धर्मपत्नी हैं। सरल भाषा में अनेक विषयों पर सुंदर कहानियाँ आपने लिखी हैं।

प्रत्येक कहानी-लेखक की कहानियों के संग्रह निकलते रहे। लोगों ने एक ऐसे संग्रह की आवश्यकता का अनुभव किया जिसमें मुख्य मुख्य लेखकों की श्रेष्ठ तथा चुनी हुई कहानियाँ हों। प्रत्येक उन्नत साहित्य में ऐसे संग्रह होते हैं। प्रसन्नता की बात है कुछ उत्साही सज्जनों ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। काशी के प्रसिद्ध नवयुवक कहानी-लेखक पं० विनोदशंकर व्यास ने 'मधुकरी' नाम का एक सुन्दर संग्रह का संपादन किया। इस पुस्तक का नाम भी बहुत ही सुरुचिपूर्ण है। कुछ दिनों पश्चात् लोगों की उत्सुकता देख कर अनेक और लेखकों की कहानियो का संग्रह 'मधुकरी' के दूसरे भाग के रूप में निकला, जिसमें उन लेखकों की रचनाएँ जिनको स्थानाभाव से प्रथम संग्रह में स्थान न दिया जा सका था, संग्रहीत है। श्री प्रेमचंद जी ने 'गल्पसमुच्चय' नाम का एक सुंदर संग्रह प्रकाशित किया जिनमें अनेक लेखक न आ सके। 'हिंदी की श्रेष्ठ कहानियाँ' नाम का एक संग्रह और भी निकला है। आशा है ऐसे संग्रह हमारे साहित्य के प्रचार में सहायक होंगे।

यह प्रकरण हास्य-रस के लेखकों के वर्णन के बिना समाप्त नहीं

किया जा सकता। हास्य-रस, साहित्य का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है। इस पर लिखना भी कुछ क्लिष्ट है। विद्वत्ता के अतिरिक्त एक विशेष प्रकार के स्वभाव की आवश्यकता होती है जो सब में नहीं होती। यह आलंबन प्रधान रस माना गया है। इसकी वृत्ति इतनी सूक्ष्म तथा सुकुमार है कि उसकी विश्लेषात्मक विस्तृत व्याख्या नहीं की जा सकती। अपनी अपनी सभ्यता तथा संस्कारों के अनुसार भिन्न-भिन्न सामग्री हासोद्रेक में सहायक होती हैं। कुछ विशेष परिस्थितियाँ ऐसी अवश्य हैं जो सब देश तथा सब युगों के मनुष्यों को हँसा सकती हैं। परंतु ऐसी परिस्थितियाँ बहुत कम हैं। बर्बर मनुष्यों को जो बातें हँसा सकती हैं संभव है वे ही बातें हमारे हृदय में हँसी के स्थान में घृणा उत्पन्न करें। शिष्ट तथा संस्कृत-समाज में अनेक ऐसी विनोद की बातें हो जाया करती हैं जिनको देखकर असभ्य, अशिष्ट लोगों को कभी हँसी आ ही नहीं सकती अपनी-अपनी शिष्टता तथा सभ्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की सामग्री हास्य-रस के उद्रेक में सहायक होती हैं। हमारे संस्कृत-साहित्य में हँसाने के लिए प्रायः निमंत्रण-प्रिय पेटू ब्राह्मणों की योजना की जाती थी। इस सर्व परिचित उपादान के अतिरिक्त संभवतः उनके पास हँसाने की कोई सामग्री ही नहीं रहती थी। हिंदी के प्राचीन साहित्य में इस रस की बहुत कम योजना हुई है। नारद-मोह के प्रसंग के अवसर पर तुलसीदासजी ने कुछ पंक्तियाँ इस विषय की लिखी हैं। उनसे पहले मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' में रतनसेन-पद्मावती सम्मिलन प्रसंग में इस रस का कुछ पुट दिया है। दो चार कवित्त, सवैये और भी कवियों के मिलते हैं। अली मुहिब खाँ की खटमल पचीसी को हम इसी के अंतर्गत ले सकते हैं। रस के उदाहरण देने के लिए अनेक कवियों ने हास्य रस के छंद बनाए पर उनमें वह बात न आने पाई। हरिश्चन्द्र काल के लेखकों ने इस पर बहुत कुछ लिखा है। स्वयं हरिश्चन्द्र जी ने अपने कुछ नाटकों में—भारत-दुर्दशा इत्यादि में—इसका विधान किया है। पं० प्रतापनारायण मिश्र भी अपनी कृतियों से लोगों को हँसाते रहे। द्विवेदी काल में गंभीरता छाई रही। पंडित

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी कभी-कभी अपनी मीठी गुदगुदी से लोगों को हँसाने का प्रयत्न करते थे। परन्तु उसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ता था। लोग बनावटी हँसी हँस के फिर गंभीर बन के बैठ जाते थे। नवीन युग में अनेक लेखकों का ध्यान इस ओर भी गया है। नाटकों, पत्र पत्रिकाओं इत्यादि के द्वारा इस क्षेत्र में क्या किया गया है इसकी चर्चा प्रसंग के अनुसार आगे की जायगी। इस क्षेत्र को भी अंग्रेजी साहित्य के संपर्क से स्फूर्ति प्राप्त हुई। श्री जी० पी० श्रीवास्तव के इस क्षेत्र में आने से चहल-पहल रहने लगी। इनकी 'लंबी दाढ़ी' का लोगों ने बहुत पसंद किया। भड़ामसिंह शर्मा, गुदगुदी, लतखोरीलाल इत्यादि इनकी हास्य-रस की मुख्य रचनाएँ हैं। इस विषय के इन्होंने अनेक नाटक भी प्रस्तुत किए हैं जिनमें कुछ मौलिक हैं और कुछ अंग्रेजी इत्यादि से अनुवाद किए गए हैं। हास्य-रस के उपन्यासों के अतिरिक्त 'गंगाजमुनी' तथा 'दिल की आग' इत्यादि और भी रचनाएँ हैं। इन्होंने इस क्षेत्र की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करने का बहुत बड़ा काम किया है। इनकी रचनाएँ कुछ विशेष प्रकार के मनुष्यों के मनोरंजन के लिए अच्छी सामग्री हैं। सुकुमार विनोदात्मक उक्तियों को न सब समझ पाते हैं न उनसे सब का मनोरंजन होता है। अतः जिस लेखक को अधिक लोगों के पास पहुँचना है उसे कुछ नीचे उतरना पड़ेगा, बात कुछ खोलकर कहनी पड़ेगी। श्रीवास्तव जी ऐसे ही लेखकों में है। उच्चकोटि की मार्मिक योजना में समर्थ न होते हुए भी आप की कृतियों का मूल्य है। साधारण लोगों को छोड़कर कुछ कोनों में बैठकर साहित्य की उपासना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार समाज में सब प्रकार की चित्तवृत्ति के लोगों के लिए स्थान हैं उसी प्रकार साहित्य को भी अधिक लोगों का ध्यान रखना पड़ेगा। कुछ ऐसे स्थल जहाँ अधिक अश्लीलता आ गई है अवश्य आक्षेप करने योग्य हुए हैं। 'लतखोरीलाल' में भी अनेक ऐसे स्थान हैं।

बाबू अन्नपूर्णानंद जी भिन्न रुचि के हास्य-रस के लेखक हैं। इनकी कृतियाँ हँसाने की पूरी क्षमता रखती हैं, पर सबको नहीं। साहित्यिक रुचि रखनेवाले तथा कुछ परिष्कृत विचारवाले लोगों के मनोरंजन की

सामग्री आपने प्रस्तुत की है। जी० पी० श्रीवास्तव कभी उतना ऊपर नहीं चढ़ते, अन्नपूर्णानंद जी कभी उतना नीचे नहीं उतरते। यदि पहला सर्वसाधारण को हँसा सकता है तो दूसरा शिष्ट समाज को। श्रीवास्तव जी की अनेक उक्तियों पर शिष्ट समाज को हँसी आ ही नहीं सकती, अन्नपूर्णानंद जी की अनेक गुदगुदी उत्पन्न करनेवाली चुटकियाँ गंभीर से गंभीर लोगों को हँसाने में समर्थ होती हैं। हँसाने के लिए पेटू ब्राह्मणों की शरण एकाधबार अन्नपूर्णानंद जी को भी लेनी पड़ी है। ब्राह्मण-भोजन वाला लेख अपूर्व बन पड़ा है। महाकवि चच्चा, मेरी हजामत, मंगलमोद तथा मगन रहु चोला आपकी कृतियाँ हैं।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने भी उजबक नामक एक सुंदर प्रहसन लिखा है। 'दुबेजी की चिट्ठियाँ' भी महत्त्वपूर्ण हैं। हँसी हँसी में बड़ी मार्मिक चुटकियाँ ली गई हैं। जिस पर आघात किया जाता है वह ऊपर से हँसते हुए भी आंतरिक असह्य वेदना से कलेजा थाम कर बैठ जाता है। ये चिट्ठियाँ सोद्देश्य हैं; केवल हँसाने के लिए नहीं। चीनी में पगी हुई कुनैन की गोलियाँ हैं जो सामाजिक कुरीतियों इत्यादि के जाड़ा बुखार को दूर करने को दी गई हैं। प० हरिशंकर शर्मा के 'चिड़ियाघर' तथा श्री गुलाबराय के 'ठलुआक्लब' से भी लोगों का मनोरंजन हुआ है।

समालोचना

समालोचना-क्षेत्र में जो कार्य किया जा चुका था उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। अब तक के संपूर्ण समालोचनात्मक निबंधों में हम एक बात समान रूप से पाते हैं। समालोचकों के पास कुछ निश्चित सिद्धांत नहीं हैं जिनकी सहायता से यह कार्य आगे बढ़ाया जा सके। हमारे यहाँ रीति-ग्रंथों की पारिभाषिक शैली की समीक्षा पहले से प्रचलित थी। इस में कवियों की कुछ विशेषताओं की ओर थोड़े में संकेत कर दिया जाता था। नवीन युग के प्रकाश में अपनी सब पुरानी वस्तुओं के प्रति उपेक्षा होने लगी। रसों और अलंकारों की बँधी हुई शैली के अनुसार समीक्षा करना भद्दा प्रतीत होने लगा। योरोप से साहित्य-समीक्षा की

कसौटी भी उधार ली गई। अरस्तू से लेकर मैथ्यू आरनाल्ड तक की उक्तियों के हिंदी अनुवाद कर अँगरेजी शिक्षा प्राप्त समालोचक आगे आने लगे। अपनी भाषा तथा प्रकृति से अपरिचित रहने के कारण इन लोगों की माँगनी की समालोचनाएँ बहुत ही अद्भुत होती थीं। किसी अँगरेजी कवि के विषय में कही गई पदावली हिंदी-लिबास में किसी हिंदी-कवि की समालोचना के साथ जोड़ दी जाती थी। इस क्षेत्र में व्यभिचार फैलने लगा था। ऐसे समय में पंडित रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की। इनके इस विषय के सिद्धांतों का मूलाधार संक्षेप में इन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है "जैसा कि हम पहले कह आए हैं साहित्य के शास्त्र-पक्ष की प्रतिष्ठा काव्य-चर्चा की सुगमता के लिए माननी चाहिए; रचना के प्रतिबंध के लिये नहीं। इस दृष्टि से जब हम अपने साहित्य-शास्त्र को देखते हैं तब उसकी अत्यन्त व्यापक और प्रौढ़ व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ती है। शब्द-शक्ति और रस-पद्धति का निरूपण तो अत्यन्त गंभीर है। उसकी तह में एक ऐसे स्वतंत्र और विशाल भारतीय समीक्षा-भवन के निर्माण की संभावना छिपी हुई है जिसके भीतर लाकर हम सारे संसार के साहित्य की आलोचना अपने ढंग पर कर सकते हैं।

भारतीय समीक्षा-भवन के निर्माण की संभावना का उल्लेख करने के बहुत दिन पहले ही से शुक्ल जी ने इस कार्य का प्रारंभ कर दिया था। रसों, अलंकारों इत्यादि की पद्धति का ऐसा वैज्ञानिक विवेचन करके जिसके अंतर्गत प्राच्य तथा पाश्चात्य सभी आलोचना-पद्धतियों का समावेश हो जाता है, शुक्ल जी ने भविष्य के आलोचकों के लिए एक दृढ़ नींव डाल दी है। 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' वाले सिद्धांत को स्पष्ट रूप में कह कर उन्होंने यह दिखा दिया है कि हमारे यहाँ के साहित्य के आचार्यों की काव्य-तत्त्व संबंधी दृष्टि बहुत ही व्यापक थी। हम शुक्ल जी की कविता की व्याख्या को उपर्युक्त वाक्य की वृत्ति मान सकते हैं। यह व्याख्या इस प्रकार है, "कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत संबंध के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती

है जहाँ जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत संबंध का सौंदर्य्य दिखाई पड़ता है। इस सौंदर्य्य के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार और जगत् के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है। जिस प्रकार जगत् अनेक रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी हो सकता है जब कि उन सब का प्रकृत सामंजस्य जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों और व्यापारों के साथ हो जाय। अतः काव्य का काम मनुष्य के सब भावों और मनोविकारों के लिए प्रकृति के अपार क्षेत्र से आलंबन या विषय चुन-चुन कर रखना है।"

इस प्रकार रस-पद्धति के स्वरूप को आधुनिक ढंग से स्पष्ट कर अलंकारों के सिद्धांतों का भी वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। काव्य-प्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार नागोजी भट्ट की सूक्ष्म पद्धति से आलंकारिक विवेचन की स्थापना की है। इनकी साहित्य के सूक्ष्म सिद्धांतों की व्याख्याएँ इतनी प्रौढ़ तथा विस्तृत हैं कि उनके अंतर्गत योरोप के नवीन से नवीन साहित्य-सिद्धांतों का समावेश हो सकता है। भारतीय तथा योरोपीय समीक्षा-शैलियों का सुन्दर तथा बुद्धि-संगत समन्वय करके शुक्ल जी ने हमारे साहित्य को गौरवान्वित किया है। काव्य की इतनी व्यापक तथा अव्याप्ति और अति-व्याप्ति को बचाकर चलनेवाली परिभाषा अभी तक नहीं हुई थी। यद्यपि यह परिभाषा प्राचीन परिभाषा का रूपांतर है, पर एक बहुत ही समुन्नत रूप में। हमारे साहित्य में सम्यक् प्रकार से आलोचना-पद्धति की स्थापना करने का श्रेय शुक्ल जी को ही है।

इस आदर्श कार्य के अतिरिक्त इस क्षेत्र में शुक्ल जी के द्वारा और भी अनेक सेवाएँ हुई हैं। तुलसी, जायसी तथा सूर की आलोचनाओं का बहुत महत्त्व है। मैथ्यू आरनाल्ड ने कहा है कि एक समीक्षक के लिए निष्पक्षतापूर्ण दृष्टि रखना अत्यंत आवश्यक है। कवि की कृतियों से चाहे हम संतुष्ट हों चाहे असंतुष्ट, आलोचक के आसन पर बैठकर न्याय की तुला को अपनी भावनाओं से, अपने व्यक्तिगत रागद्वेष से नीचे-ऊपर नहीं करना चाहिए। यही शुक्लजी की सबसे बड़ी विशेषता

हैं। वे सबका न्यायोचित स्वत्व देने से नहीं चूके हैं। उनका राम के चरित्र पर दृढ़ अनुराग, उन्हें तुलसी के दोष गिनाने से नहीं रोक सका और 'कुछ खटकनेवाली बातें' शीर्षक में उनका भी समावेश किया गया। उनकी तुलसी के प्रति अनन्य भक्ति, सूर की समालोचना में बाधा उत्पन्न न कर सकी। जायसी को भी उनके भावुक हृदय से सहानुभूति प्राप्त हुई। जायसी को विस्मृति के अन्धकारपूर्ण गर्भ से निकालकर इतने उच्च आसन पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय इनको ही है। पर इस प्रतिष्ठा में पक्षपात नहीं, न्याय ही किया गया है। अपने साहित्य के इतिहास में प्रायः सब श्रेष्ठ कवियों की कृतियों की मार्मिक समालोचनाएँ प्रस्तुत की हैं। अभी कुछ दिनोंसे साहित्य-क्षेत्रमें 'छायावाद'के नाम से बहुतही मनमानी हो रही थी। एक अस्पष्ट 'वाद' का आश्रय ग्रहण कर न जाने कितने अपरिपक्व-बुद्धि लेखक अपने को महाकवि सिद्ध करने पर तुले हुए थे। इस विषय पर शुक्ल जी ने 'काव्य में रहस्यवाद' नाम की एक गवेषणापूर्ण पुस्तक लिखकर साहित्य में फैलती हुई उच्छृंखलता को नियन्त्रित किया। जो कवि वास्तव में कुछ गम्भीरता रखते थे, वे तो मैदान में अवश्य रहे, पर कवियों का स्वाँग भरने वाले बहुत से लोग मैदान से इधर-उधर हट गए। कम-से-कम प्रतिदिन अनिमंत्रित नये-नये कवियों का ताँता तो कुछ काल के लिए अवश्य टूटा। इस पुस्तक द्वारा साहित्य-क्षेत्र से एक बहुत बड़ी धोखा-धड़ी दूर की गई। हिंदी में इतना प्रभाव डालने वाली कोई भी गद्य-पुस्तक अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। शैली तथा मार्मिकता की दृष्टि से भी इस पुस्तक का स्थान संभवतः सर्वश्रेष्ठ ही रहेगा।

इनकी समीक्षा-शैली सर्वत्र मार्मिक तथा गवेषणापूर्ण हुई है। कवियों के अंतर्जगत् की वृत्तियों का उद्घाटन ही इनका लक्ष्य रहा है। पाखंड, मिथ्या पांडित्य-प्रदर्शन आदि से असंतुष्ट रहने के कारण इनकी शैली में ऐसे स्थलों पर एक मधुर व्यंगपूर्ण वक्रता का भी समावेश हो गया है। एक उदाहरण "हम नहीं समझते कि बिना हिन्दीवालों की खोपड़ी को एकदम खोखली माने उनके बीच इस प्रकार के अर्थशून्य वाक्य छायावाद के संबंध में कैसे कहे जाते हैं कि, 'यह नवीन जाग्रति का चिह्न है; देश

के नवयुवकों के हृदय की दहकती हुई आग है,' इत्यादि,इत्यादि। भला देश की नई 'जाग्रति' से देशवासियों की दारुण दशा की अनुभूती से और असीम-ससीम के मिलन, अव्यक्त और अज्ञात की झाँकी आदि का क्या संबंध? क्या हिंदी के वर्तमान साहित्य-क्षेत्र में शब्द और अर्थ का संबंध बिलकुल टूट गया है? क्या शब्दों की गर्दभरी आँधी विलायत के कला-क्षेत्र से धीरे-धीरे हटती हुई अब हिंदीवालों की आँख खोलना मुश्किल करेगी?"

रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास—शुक्ल जी ने अपने आलोचनात्मक निबंधों में आलोचना के कुछ विशेष सिद्धांतों का सन्निवेश किया। एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता बनी ही हुई थी जिसमें आलोचना के साधारण सिद्धांत दिए गए हों। बाबू साहब ने 'साहित्यालोचन' नामक पुस्तक लिख इस कमी को पूरा किया। यह पुस्तक विद्यार्थियों के प्रारंभिक अध्ययन के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है। इसमें प्राच्य तथा पाश्चात्य आलोचना सिद्धांतों का सुंदर समन्वय किया गया है। भाषा बहुत ही प्रांजल तथा प्रसादगुण युक्त है। बाबू साहब की तत्सम-प्रियता से भाषा में क्लिष्टता तथा अस्पष्टता नहीं आने पाई है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातों को सीधे-सादे ढंग से समझा देने में ही इनका कौशल है। इस पुस्तक के अतिरिक्त अनेक कवियों पर आपने सुंदर निबंध भी लिखे हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र पर तथा गोस्वामी तुलसीदास पर लिखि गई आपकी आलोचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। आप बहुत सतर्क होकर लिखते थे। किसी भी बात को भावुकता से यों ही चलता कर देने को आप अनुचित समझते हैं। आपकी आलोचनाओं में प्रायः अन्वेषणपूर्ण बातें रहा करती थे। अभी कुछ दिन हुए, आपका 'हिंदी-भाषा और साहित्य' नामक ग्रंथ निकला है। इसमें कवियों की कृतियों का उस काल की विशेष परिस्थितियों के समन्वय के साथ अच्छा विश्लेषण किया गया है। उसमें अन्य ललित कलाओं पर भी पूर्ण प्रकाश डाला गया है। हिंदी भाषा पर आपके निबंध बहुत ही प्रामाणिक माने जाते हैं।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी—आपने आलोचनात्मक दो पुस्तकें लिखी हैं। हिंदी-साहित्य विमर्प और 'विश्व-साहित्य'। आप में आलोचक की पूर्ण क्षमता है। बहुत सतर्क भाषा में इने-गिने शब्दों में कुछ थोड़ी सी भावुकता के साथ अपनी बात को कहते हैं। विश्व-साहित्य पुस्तकमें अन्य समुन्नत साहित्योंका विवेचनात्मक परिचय दिया गया है। कोई भी लेखक संपूर्ण समुन्नत भाषाओं का अध्ययन करके यह कार्य करने नहीं बैठता। उसके लिए अनुवादों से सहायता लेना अनिवार्य है। इन अनुवादों का सतर्कता से प्रयोग न करने से भ्रम में पड़ जाना संभव है। इस पुस्तक की रचना में आपको बहुत परिश्रम करना पड़ा होगा। हिंदी-साहित्यिकों को अन्य समुन्नत साहित्यों से परिचय कराकर आपने बहुत उपकार किया है। बातें बहुत ही आलोचनात्मक ढंग से कही गई हैं। लेखक ने संयम से भी काम लिया है।

और क्षेत्रों में कार्य आरंभ हो जाने पर भी गद्य-शैली की ओर अभी तक ध्यान नहीं गया था। पंडित रमाकान्त त्रिपाठी एम० ए० ने 'हिंदी-गद्य-मीमांसा' पुस्तक लिखकर पथप्रदर्शक का काम किया। इनके विषय में पंडित रामचंद्र जी शुक्ल ने लिखा है "इतना मानने में तो किसी को आगा-पीछा न होना चाहिए कि आरंभ से लेकर आजतक के बहुत से गद्य-लेखकों की भाषा संबंधी कुछ विशेषताओं का व्यवस्थित दिग्दर्शन कराते हुए त्रिपाठी जी ने प्रत्येक के दो दो तीन तीन लेख नमूनों के तौर पर हमारे सामने रखे हैं। शैली-समीक्षक मिंटो की प्रसिद्ध अंग्रेजी पुस्तक के ढंग पर उन्होंने आरंभ में भाषा-संबंधी कुछ विवेचन और शैलियों का सामान्य वर्गीकरण भी किया है।" पंडित जगन्नाथप्रसाद शर्मा एम० ए० ने 'हिंदी-गद्य-शैली का विकास' लिखकर इस कार्य को और आगे बढ़ाया है। शुक्ल जी के शब्दों में हम कह सकते हैं "हमारी हिंदी में साहित्य के इस अंग का स्फुरण भी बहुत शीघ्र उसी सजीवता के साथ होगा जिस सजीवता के साथ और-और अंगों का हो रहा है।"

पंडित रामकृष्ण शुक्ल—हमारे साहित्य में नाटकों की संख्या बहुत ही कम है। बाबू जयशंकरप्रसाद जी ने अपने नाटकों के द्वारा

हमारी भाषा को गौरवान्वित किया है। नाटकों की आलोचना की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। पंडित रामकृष्ण शुक्ल जी ने 'प्रसाद की नाट्यकला' नामक पुस्तक में हमारे प्रमुख नाटककार की कृतियों का अच्छा विश्लेषण किया है। पुस्तक के प्रारंभ में प्राच्य तथा पाश्चात्य नाट्यकला के ऊपर एक सुंदर निबंध भी लिखा गया है। लेखक बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण रहा है और कटु आलोचना को सदा बचाता रहा है। दोषों की ओर भी नम्रता से ही संकेत किया गया है। 'स्कंदगुप्त' तथा 'चंद्रगुप्त' पर आलोचना नहीं की गई है। 'स्कंदगुप्त' का थोड़ा विवेचन कर दिया गया है पर 'चंद्रगुप्त' पुस्तक-प्रकाशन के समय तक निकला ही न था। लेखक का अध्ययन गंभीर प्रतीत होता है। इस प्रारंभिक काल में जैसे संयत समालोचक की आवश्यकता थी वैसे ही नाट्यकला के लेखक हैं। आशा है पुस्तक के नवीन संस्करण में प्रसाद जी के और नाटकों का भी समावेश कर दिया जायगा।

पं० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'—'प्रेमचन्द की उपन्यास कला' लिखकर इस ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। इस विषय की पहली पुस्तक होने पर भी लेखक को पूर्ण सफलता मिली है। गुणों के साथ-साथ दोष भी दिखाए गए हैं। पर किसी भावना से प्रेरित होकर नहीं। लेखक ने आलोच्य-विषय का अच्छी तरह अध्ययन किया है। सुनी-सुनाई बातों पर कुछ कह देनेवाली प्रथा का अनुसरण नहीं किया गया है।

पत्र-पत्रिकाओं में भी आलोचनात्मक निबंध निकलते रहते हैं। परंतु प्रायः लेखकों की आलोचनाएँ वैसे गंभीर तथा विस्तृत अध्ययन का प्रमाण नहीं देतीं जैसे की आवश्यकता है। कुछ कवियों को लेकर बिना किसी सिद्धांत के यों ही कुछ कह दिया जाता है। श्रेष्ठ कवियों पर भी अनधिकारी लोग जो चाहे सो कह लेते है। इस प्रकार की अनियंत्रित अवस्था बहुत अच्छी नहीं है। दोष दिखाना बुरा नहीं है। परंतु कटु भावना से प्रेरित होकर ऐसा करना साहित्यिक अपराध अवश्य है।

नाटक

संस्कृत साहित्य में नाटकों का अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से मिलता है। हिंदी-साहित्य में इस क्षेत्र में बहुत दिनों के पश्चात् कार्य प्रारंभ हुआ। इसको संस्कृत-साहित्य से उत्तेजन नहीं मिला, इसका समस्त श्रेय पाश्चात्य-साहित्य के संपर्क को है। अंगरेजी-साहित्य की परंपराओं तथा संस्कारों की भेंट सर्व प्रथम बंग साहित्य को मिली। वहाँ अंगरेजी नाटकों के अनुकरण पर बहुत दिन पहले ही नाटक-रचना प्रारंभ हो चुकी थी। श्री द्विजेंद्रलाल राय तथा श्री गिरीशचंद्र घोष के नाटकों ने इस क्षेत्र में स्फूर्ति-सी भर दी। इनका आदर्श बहुत कुछ अँगरेजी नाटकों का था। अँगरेजी-साहित्य में वास्तविकता तथा स्वाभाविकता के अत्याग्रह के कारण नाटकों का आदर्श बदल रहा है। शेक्सपियर के आदर्श अब बहुत पुराने हो गए हैं। व्यर्थ के अलंकार तथा अस्वाभाविक भावुकता जनता के मनोरंजन की अब सामग्री नहीं समझी जाती। द्विजेंद्रलाल राय ने अपने सामने जिस आदर्श को रखा था वह अँगरेजी नाट्य-साहित्य के मध्य काल के आदर्शों से बहुत कुछ मिलता जुलता था। श्री गिरीशचंद्र के सामाजिक नाटकों का आदर्श भिन्न था। इन दोनों ने अँगरेजी-साहित्य में प्रचलित भिन्न-भिन्न आदर्शों का अनुकरण किया। अँगरेजी आदर्श प्रति दिन परिवर्तित होते रहते हैं। उनकी स्वाभाविकता का आग्रह जब तक कला को पूर्ण हत्या न कर लेगा तब तक दम न लेगा। उनके यहाँ किसी बात को एक हद से दूसरी हद तक पहुँचा देने की प्रणाली है। ऐसी अवस्था में अनुकरण करनेवालों को बड़ी दुविधा में पड़ना पड़ता है। अच्छा होता, यदि भारतीय विद्वानों के नाटक-विषय के कुछ अपने सिद्धांत होते; जिनका अपने देश की साहित्यिक परंपरा से सामंजस्य स्थापित किया जा सकता। संस्कृत साहित्य में प्रचलित नाट्यशास्त्र के सिद्धांत इतने पिछड़े हुए नहीं हैं कि थोड़े से परिवर्तनों के पश्चात् आधुनिक आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की पूर्ति में सहायक न हो सकें।

बंगाल के दोनों प्रसिद्ध नाटककारों की कृतियों के अनुवाद हमारी

भाषा में हुए। इनसे एक नवीन जाग्रति उत्पन्न हुई। कम-से-कम लोगों ने इस बात का अनुभव तो अवश्य किया कि इस क्षेत्र में हमारा साहित्य बहुत पिछड़ा हुआ है। इन अनुवादों के बहुत पहले भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी ने तथा लाला श्रीनिवासदास आदि ने इस क्षेत्र में बहुत कुछ काम किया था। उन दिनों की कृतियों में बाबू राधाकृष्णदास के महाराणा प्रताप नाटक ही ने लोगों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकृष्ट किया। इसका अभिनय भी किया जा चुका है। यह भारतेंदु काल की इस विषय की अंतिम रचना थी। द्विवेदी काल में गद्य का ही बोल-बोला रहा। नाटक आदि की रचना की ओर लोगों का ध्यान न गया। श्री माधव शुक्ल का महाभारत नाटक ही इस समय की स्मरणीय रचना है। इन साहित्यिक रचनाओं से अलग कुछ प्रयत्न होने लगे थे। उनका महत्त्व शिष्ट साहित्य की दृष्टि से चाहे अधिक न हो पर प्रचार की दृष्टि से अवश्य है। उनका संक्षिप्त उल्लेख यहाँ अनावश्यक न होगा।

पारसी कंपनियाँ उर्दू ढंग के नाटकों से लोगों का मनोरंजन करती आ रही थीं। उन नाटकों की रचना एक मिश्रित आदर्श पर होती थी। इनमें साधारण जनता के मनोरंजन की सामग्री तो अवश्य रहती थी पर संस्कृत हृदय का संतोष उनसे न हो पाता था। इन कंपनियों में हिंदी नाटकों का सर्व-प्रथम प्रवेश कराने का श्रेय श्री नारायणप्रसाद जी बेताब को है। इनका महाभारत नाटक सबसे पहले अलफ्रेड कम्पनी में अभिनीत हुआ। इसी प्रकार के नाटककारों में पं० राधेश्याम जी कथावाचक, पं० हरिकृष्ण जौहर और आगा हश्र जी की गणना है। इन लोगों की कृतियों का साहित्यिक महत्त्व अधिक न होने पर इनका उपकार महान् है। श्री राधेश्याम की एक-आध कृतियाँ कुछ अच्छी भी हुई है। उदाहरण के लिए उनके वीर अभिमन्यु नाटक का नाम लिया जा सकता है। आपने अपने प्रायः नाटकों में देश-काल की विशेषताओं का उतना अधिक ध्यान नहीं रखा है। 'ईश्वर भक्ति' की कथावस्तु पौराणिक है पर नाटक में आधुनिक समाज का दृश्य अंकित किया गया है। कथावाचक जी को रंगमंच की आवश्यकताओं का अच्छा परिचय प्रतीत

होता है। यदि पारसी नाटकों के प्रभाव से वे अपने को बचा सकें तो उनके द्वारा हमें अच्छी रचनाएँ भी मिल सकती हैं। अब संक्षेप में साहित्यिक नाटककारों का परिचय दिया जाता है।

श्री जयशंकरप्रसाद जी—इन्होंने अपने आदर्शों की रचना स्वयं की है। बाहर के विचारों तथा भावों को यों ही अपनानेवाले नहीं है। इनमें जो कुछ है वह मौलिक है। इनका अपना है। इन्होंने अपनी प्रतिभा के बल प्राच्य तथा पाश्चात्य नाट्यशैलियों के सम्मिश्रण से एक स्वतंत्र शैली बना ली थी। उसमें न तो उतनी स्वाभाविकता को स्थान है जिसमें नीरसता आ जाती है न पुरानी रूढ़ियों का उतना अनुसरण जिससे नाटककार की स्वतंत्रता का अपहरण होता है। अपने प्रारंभ काल के सज्जन नामक नाटक में प्रस्तावना की योजना की थी। उसमें नान्दी भी दिया गया था। पर बाद के नाटकों में प्रस्तावना नहीं मिलती। उसका कार्य नाटक के प्रथम दृश्य से चला लिया जाता है, जिसकी योजना वस्तु का परिचय कराने को ही की जाती है। भरत-वाक्य के ढंग का एक पद्य इनके अनेक नाटकों में मिलता है। 'राज्यश्री' तथा 'जनमेजय का नागयज्ञ' इसके उदाहरण है।

इनके प्रायः नाटकों की वस्तु ऐतिहासिक अथवा पौराणिक होती है। इन्होंने पुराणों का अध्ययन नवीन वैज्ञानिक दृष्टि से किया है। इनके 'नागयज्ञ' में इसका अच्छा उपयोग किया गया है। अभी तक नागों को सर्प ही समझा जाता था। आपने पुराणों के आधार पर सिद्ध कर दिया कि वे भी मनुष्य थे और भारतवर्ष के पुराने निवासी थे। आर्यों से उनका बहुत दिनों तक संघर्ष चलता रहा। प्रसाद जी ने भारत के प्राचीन इतिहास में भी बहुत खोज की है। ये प्रचलित इतिहासों का अनुकरण कर अपने नाटको की रचना नहीं करते। वास्तव में इनके नाटकों ने इतिहास को भी कुछ नवीन सामग्री दी है। चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, अजातशत्रु आदि सब नाटकों में इतिहास की टूटी हुई शृंखलाएँ मिलाने में बड़ा परिश्रम किया गया है। प्रत्येक कवि को कला की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रख्यात वस्तु में कुछ परिवर्तन करने का अधिकार रहता है।

प्रसाद जी ने भी इस अधिकार का उचित लाभ उठाया है। परंतु ऐतिहासिक सिद्धांतों पर आघात पहुँचानेवाली निरंकुश कल्पनाओं की सृष्टि नहीं की गई है। जिस काल की वस्तु ली गई है उसकी परिस्थितियों की योजना बड़ी कुशलता से की गई है। देश, काल का बहुत ध्यान रखा गया है। केवल ऐतिहासिक पात्र लेने मात्र ही से ऐसे नाटकों की रचना नहीं की जा सकती। इसके लिए उस काल की विशेषताओं से परिचित होना पड़ता है। इसके बिना अभीष्ट चित्र नहीं अंकित किए जा सकते। प्रसाद जी के नाटकों को पढ़ते समय हम उस युग में पहुँच जाते हैं जिसमें वर्णित पात्र क्रीड़ा करते थे। हम अनेक शताब्दियों के आवरण को हटाकर गुप्तकाल तथा मौर्यकाल के भारतवर्ष का प्रत्यक्ष दर्शन कर लेते हैं। वे ही नगर, वैसी ही रीतियाँ, वे ही सामाजिक संस्कार और वैसे ही लोगों के कार्यकलाप हमारे सामने आने लगते हैं। कुछ बौद्ध पात्रों की योजना से उस काल का दृश्य उत्पन्न करने में बड़ी सहायता मिली है।

चरित्र-चित्रण—नाटकों में अनेक प्रकार के पात्र आए हैं। ये अनेक प्रकार के मनुष्यों तथा स्त्रियों की चित्तवृत्तियों, भावनाओं, विचारों की कल्पना करने की सामर्थ्य रखने के कारण अनेक प्रकार के पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में समर्थ हुए हैं। उनके पात्रों के हम दो विभाग कर सकते हैं। साधारण पात्र तथा विशेष पात्र। विशेष पात्रों में या तो दुर्गुणों की या सद्गुणों की बहुत ऊपर उठी हुई विशेषता पाई जाती है। ऐसे पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत ही स्वाभाविक हुआ है। साधारण पात्रों के प्रति कुछ उपेक्षा कर दी गई है। बीच की सृष्टि इनको उतना आकृष्ट नहीं करती। किसी अभीष्ट प्रभाव के लिए विशेष रूप के पात्रों ही की योजना की आवश्यकता होती है। कला अपनी सार्थकता के लिए साधारण जीवन से कुछ ऊपर उठे हुए नर-नारियों की योजना करती है। साधारण प्राणियों के कार्यकलापों में उतनी प्रभविष्णुता नहीं रहती। इनके पात्रों में दोहरा व्यक्तित्व रहता है। वे अपना भी व्यक्तित्व भी ढोते हैं और अपने रचयिता के आदेशानुसार एक कृत्रिम व्यक्तित्व रखते रहते हैं। पर सौभाग्य से इन दोनों व्यक्तित्वों का पृथक्करण सरलता से

किया जा सकता है। यदि हम पात्रों के कृत्रिम व्यक्तित्व को हटा दें तो उनका निजी सजीव व्यक्तित्व स्पष्ट देख सकते हैं। कृत्रिम आरोपित व्यक्तित्व तीन बातों से जाना जा सकता है। प्रसाद जी नियतिवादी हैं। इसका प्रभाव इनके अनेक पात्रों पर पड़ा है। कोई ऐसा नाटक नहीं है जिसमें इसकी दोहाई न दी गई हो। 'नागयज्ञ' में जरत्कारु ऋषि तथा वेदव्यास इत्यादि अदृष्ट की लिपि की घोषणा करते हैं। जनमेजय भी "मनुष्य क्या है? प्रकृति का अनुचर और नियती का दास, या उसकी क्रीड़ा का उपकरण" कहता है। 'स्कंदगुप्त' में उसका नायक भी कुछ ऐसे ही विचार रखता है—"चेतना कहती है कि तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है।" 'चंद्रगुप्त' में भी अनेक पात्र नियति का झंडा फहराते हुए आते हैं। चाणक्य ऐसा कर्मवीर भी इसके प्रभाव से नहीं बचा है। उसे भी हम ऐसा कहते हुए सुनते हैं "नियति सुन्दरी के भवों में बल पड़ने लगा है।" परंतु हम इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि यह नियतिवाद पात्रों की अपनी विशेषता नहीं है। नियति-नियति चिल्लाते हुए भी वे हाथ पर हाथ रखे नहीं बैठे रहते, जीवन के घमासान युद्ध में उतरते हैं और ऐसे ऐसे कांड रचते हैं कि हमें चकित रह जाना पड़ता है। ऐसी अवस्था में हमें यही प्रतीत होता है कि वे किसी के सिखाने से नियति का मंत्र जप रहे थे। वास्तव में उन्हें कर्म की सामर्थ्य पर अचल विश्वास था। दूसरी बात उनके अनेक पात्रों की दार्शनिकता है। श्रीकृष्ण, भगवान बुद्ध, व्यास, दांडायन इत्यादि की दार्शनिक उक्तियाँ हमें उतना चकित नहीं करतीं जितना साधारण पात्रों की। तीसरी बात पात्रों की भाषा की है। सब पात्रों के एक सी अपरिवर्तनीय भाषा में बातचीत करने से हम उन्हें उनकी बोली से नहीं पहिचान पाते। परंतु ये तीनों बाधाएँ उनके साधारण पात्रों के ऊपर ही रहती हैं। मालवगण के राष्ट्रपति का पुत्र सिंहरण जब अलंकृत भाषा में बोलता है तो हमें कुछ भी आश्चर्य नहीं होता। उसकी भाषा उच्च शिक्षा तथा उच्च कुल के योग्य ही है। इनके भीमकाय पात्र नियति के मंत्र को बहुत पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। वे सिंहरण की इस उक्ति को "वर्तमान को मैं

अपने अनुकूल बना ही लूँगा। फिर चिंता किस बात की?" सार्थक कर दिखाते हैं। उनका चाणक्य तो साक्षात् भाग्यविधाता बनकर सामने आता है। उस कर्मवीर के सम्मुख नियती काँपती हुई खड़ी रहती है। चाणक्य के चरित्र-चित्रण के द्वारा प्रसाद जी 'मुद्राराक्षस' के लेखक से भी आगे बढ़ गए हैं। 'चाणक्य' की जैसी उदार कल्पना चंद्रगुप्त नाटक में की गई है वैसी 'विशाख' की लेखनी से भी नहीं हो पाई। इस नाटक का चतुर्थ अंक चाणक्य का हृदय खोलकर दिखा देता है और हम देखते हैं कि उस भयानक व्यक्तित्व के भीतर सुकुमार भावों की भी एक सृष्टि थी।

इनके कुछ पात्रों में तो ऐसी विशेषताएँ आ गई हैं जिनकी कल्पना कम कलाकार कर सके होंगे। उदाहरण के लिए चंद्रगुप्त नाटक की कल्याणी ली जा सकती है। उससे ऊँचा आदर्श-चरित्र संभवतः अन्य न मिल सके। उसकी सृष्टि ऐतिहासिक उपकरणों से नहीं हुई है, उसने प्रसाद जी के भावुक हृदय से जन्म लिया है। उनकी सुकुमार भावनाओं की लोरियों से वह पली है। वह दशरथ के चरित्र से भी आगे बढ़ गई है। दशरथ ने प्राण देकर प्रेम और धर्म की एक साथ रक्षा की थी। उनके लिए प्राण देना अनिवार्य था। यदि वे जीवित रहते तो प्रेम में कच्चे प्रमाणित होते। परंतु कल्याणी के लिए ऐसी कोई बात न थी। उसने दो परस्पर विरोधी प्रेमोंकी एक साथ रक्षा की। जिस प्रिय के पाने को उस सुकुमारी ने इतने कष्ट झेले थे उसे अपने पास पाकर भी वह न पा सकी, क्योंकि वह प्रिय होते हुए भी उसके पिता का विरोधी था। उस प्रेम की संयत व्यंजना उसी के कुछ थोड़े से शब्दों में देखी जा सकती है। उसने एक बार चंद्रगुप्त से कहा था "परंतु मुझे आशा थी कि तुम मुझे न भूले होगे"। अंतिम समय में उसके पिता के वध हो जाने के बाद उसकी दशा ऐसी करुणापूर्ण हो जाती है कि हम उसकी ओर सहसा देख भी नहीं पाते। उसके ये उद्गार कैसे मर्मस्पर्शी हैं "मगध के राजमंदिर उसी तरह खड़े हैं' गंगा शोण से उसी स्नेह से मिल रही हैं; नगर का कोलाहल पूर्ववत् है! परंतु न रहेगा एक नंद-वंश! फिर क्या करूँ? आत्महत्या करूँ? नहीं, जीवन इतना सस्ता

नहीं ? अहा देखो—यह मधुर आलोकवाला चंद्र ! उसी प्रकार नित्य जैसे एकटक इस पृथ्वी को देख रहा हो ! कुमुदबंधु ! तुम मेरे भी बंधु बन जाओ, इस छाती की जलन मिटा दो !" अंत में जब स्वयं चंद्रगुप्त उसके प्रेम के विषय में प्रश्न करता है तो वह कहती है "हाँ यह सच है। परंतु मेरे पिता के विरोधी हुए, इसलिए उस प्रणय को—उस प्रेम-पीड़ा को, मैं पैरों से कुचलकर—दबाकर—खड़ी रही ! अब मेरे लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा, पिता ! लो मैं भी आती हूँ !" इसके बाद छुरी मारकर आत्महत्या कर लेती है : जिस स्वर्ग की प्राप्ति के लिए आजीवन तपश्चर्या की गई उसके द्वार पर पहुँचकर वह लौट आती है। उसे देवी अथवा स्वर्गीय कहना उसका अपमान करना है। ऐसे भव्य चरित्रों की सृष्टि मनुष्यों के ही बीच में होती है स्वर्ग में नहीं। वह कठोर निर्दय कल्पना कैसी थी जिसने कल्याणी से अमूल्य मुक्तारत्न को, अगाध सागर से निकाल निस्पृह होकर अतल सागर में विसर्जित कर दिया। कविकर्म की कठोरता का इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण विश्व साहित्य में मिलना असंभव है। प्रेमी के लिए प्राण देने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। चंद्रगुप्त नाटक की मालविका भी ऐसा करती है। परन्तु कल्याणी संसार में दूसरी न मिलेगी।

अनेक पात्रों के चरित्रों में आकस्मिक परिवर्तन हुए हैं। ऐसा प्रायः दुश्चरित्र पात्रों में अधिक हुआ है। इन आकस्मिक परिवर्तनों के लिए कुछ घटनाओं की योजना भी की जाती है। कभी-कभी किसी महापुरुष का उपदेशमात्र पापियों को महात्मा बनाने में समर्थ हुआ है। जिन दुष्टों की दुष्टता स्वाभाविक नहीं है, जो स्वाभिमानी अथवा महत्त्वाकांक्षी होने के कारण दुष्टाचरण करने को बाध्य हुए हैं, तथा जिनके मानस में मनुष्यता की कोमल भावनाएँ तरंगित हो रही हैं उनके चरित्र के आकस्मिक परिवर्तन न हमें क्षुब्ध करते हैं न अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। परंतु जिन मनुष्यों की दुष्टता स्वाभाविक है, जिनके लिए पाप साधारण कर्म हो गए हैं, जो हत्या इत्यादि लोमहर्षण कांड करते समय भी नहीं हिचकते, उनके चरित्रों के आकस्मिक परिवर्तन हमें आश्चर्य में

डाल देते हैं। 'नागयज्ञ' की दामिनी उत्तंक के दो शब्दों से ही सँभल जाती है और अपने को धिक्कारने लगती है, 'धिक्कार है मुझे! लज्जा ने पृथ्वी का गर्त क्यों न खोल दिया! मैं उसी में समा जाती!" उसी प्रकार कामुक अश्वसेन मणिमाला से उपदेश सुनकर पवित्र हो जाता है और कमर कसकर रणभूमि के लिये प्रस्थान कर देता है, "अब और अधिक लज्जित न करो। मैं सबसे क्षमा प्रार्थी हूँ। लो मैं अभी रणप्रांगण को चला" इसी प्रकार और भी अनेक नाटकों में ऐसे आश्चर्यचकित करनेवाले परिवर्तन हुए हैं।

इनके पात्र क्षमा करने को सदैव प्रस्तुत रहते हैं। स्कंदगुप्त नाटक के चतुर्थ अंक के अंत में एक हूण 'देवसेना' का पीछा कर रहा है। इतने ही में पर्णदत्त वहाँ पहुँच जाता है और अत्याचारी से उसकी रक्षा करता है। हूण के क्षमा माँगने पर बिना कुछ सोचे-विचारे इन शब्दों में क्षमादान दे देता है। "अत्याचारी! जा तुझे छोड़ देता हूँ।" अनुपम क्षमाशीला 'राज्यश्री' जब विकटघोष को क्षमा करती है तो हमें उतना आश्चर्य नहीं होता क्योंकि यह उसके चरित्र की एक विशेषता है। परंतु अन्य पात्रों में आकस्मिक क्षमादान की प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर आश्चर्य ही होता है।

इनके नाटकों में जब कोई किसी का वध करना चाहता है तो रक्षा करनेवाला तुरंत प्रकट हो जाता है। सुनते हैं कि प्रह्लाद की पुकार पर भगवान प्रकट हुए थे, पर जीवन में ऐसी घटनाएँ सदा नहीं घटती रहतीं। इनका आधिक्य अस्वाभाविक ही लगता है। 'स्कंदगुप्त' में हूण सेनापति 'प्रख्यातिकीर्ति' की हत्या को उद्यत है इतने ही में धातुसेन प्रकट हो जाता है। इसी नाटक में हूण सेनापति ने कुछ स्त्रियों को गर्म लोहे से दागने की आज्ञा दी; इतने ही से मातृगुप्त प्रकट हो जाता है और तलवार से उनके बंधन काट देता है। चंद्रगुप्त नाटक में मौर्य छुरी निकालकर चाणक्य को मारना चाहता है, सुवासिनी दौड़कर उसका हाथ पकड़ लेती है। इसका कारण प्रसाद जी के हृदय की कोमलता है। वे लोमहर्षण दृश्यों के पास तक तो पहुँच जाते हैं पर वहाँ पहुँचकर

उनके पैर काँपने लगते हैं। वे भयानक अत्याचार नहीं देख सकते। न जाने कैसे हृदय कड़ा करके 'नागयज्ञ' में उन्होंने यह क्रूर कांड हो जाने दिया।

स्वगत की योजना—आधुनिक नाट्यशास्त्री इसे अस्वाभाविक मानने लगे हैं। प्रसाद जी ने इसकी योजना की है। उनके नाटकों की जटिल कथावस्तु के लिए इसकी अनिवार्य आवश्यकता थी। कुछ स्वगत बहुत लंबे हो गए हैं। प्रायः लोग अपने हृदय के भावों को उच्चस्वर से बड़बड़ा कर नहीं कहते रहते। फिर भी प्रसाद जी के पात्रों के स्वगत इतने भावपूर्ण तथा मधुर होते हैं कि उनकी अस्वाभाविकता की ओर हमारा ध्यान भी नहीं जाता।

वर्जित दृश्य—प्राचीन आचार्यों ने नाटकों का विवेचन करते समय कुछ बातें रंगमंच पर दिखाने का निषेध किया है। उन्हें दिखाने से दर्शकों के हृदय में क्षोभ इत्यादि के उत्पन्न होने की आशंका रहती है। इसी कारण हत्या इत्यादि दिखाना वर्जित किया गया। प्रसाद जी इन बातों को दोष नहीं मानते। युद्धों में हत्याएँ तथा रक्तपात होना स्वाभाविक है। घोर युद्ध के दृश्य रंगमंच पर साधारणतः दिखाए भी नहीं जा सकते। 'नागयज्ञ' में नागों और आर्यों में युद्ध होता है और भीषण रक्तपात होता है। 'अजातशत्रु' में कहरूर के घोर युद्ध की योजना की गई है। 'चंद्रगुप्त' में सिल्यूकस तथा पर्व्वतेश्वर का ससैन्य युद्ध होता है।

कथनोपकथन—यह स्वाभाविक हुआ है। परंतु कभी-कभी कुछ बातें इस स्वाभाविकता में बाधा डालनेवाली हुई हैं। कुछ पात्र अपने दार्शनिक सिद्धांतों का निरूपण करने लगते हैं, लंबे लंबे व्याख्यान देने लगते हैं और दूसरे पात्र मन्त्रमुग्ध की तरह सुनते रहते हैं। पर ऐसा बहुत कम हुआ है। गंभीर परिस्थितियों में ऐसा कभी नहीं किया गया। वस्तु की शिथिलता में ही पात्रों को अधिक बोलने का अवसर मिला है। इनकी भाषा भी कथनोपकथन की स्वाभाविकता पर आघात पहुँचाती है। सौभाग्य से इनकी कला ज्यों-ज्यों विकसित होती गई त्यों-त्यों यह बात दूर होती गई। साधारण बोलचाल में प्रायः लोग आलंकारिक शैली में नहीं बोलते। यदि हम उन्हें कभी ऐसा करते पाते हैं तो हमें संदेह

होने लगता है कि उन्होंने ये वाक्य कहीं से रट कर याद कर लिए हैं।

हास्य की योजना—प्रसाद जी गंभीर प्रकृति के मनुष्य थे। इनकी भावुकता में भी गंभीरता छिपी रहती थी। इनके स्मित में वेदना मिली रहती थी। फिर भी अनेक नाटकों में हास्य का पुट रखा ही गया है। मुख्य वस्तु से असंबद्ध हास्य की योजना नहीं की गई है। कभी-कभी यह अवश्य हुआ है कि हास्य मुख्य कथा के लिए अनिवार्य नहीं था। पर उसका भी कुछ उद्देश्य अवश्य होता है। इसकी योजना से गंभीर घटनाओं के घटाटोप के बीच में पाठकों को थोड़ा-सा विश्राम मिल जाता है। इसलिए इसे अनावश्यक नहीं कहा जा सकता। 'अजातशत्रु' का राजवैद्य वसंतक ऐसे ही हास्य की सृष्टि करता है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में जब कश्यप दक्षिणा लेने आता है तो हास्य की कुछ सामग्री मिल जाती है। 'स्कंदगुप्त' में हँसाने का काम मुद्गल करता है। उसे जितनी अपने पेट की चिंता है उतनी और किसी बात की नहीं। वह गंभीर राजनीतिक प्रश्नों के बीच में भी ऐसी बातें कहता हुआ पाया जाता है "जै हो देव! पाकशाला पर चढ़ाई करनी हो तो मुझे आज्ञा मिले। मैं अभी उसका सर्वस्वांत कर डालूँ।" मुद्गल संस्कृत नाटकों के पेटू विदूषकों से मिलता-जुलता है। पेटू ब्राह्मणों ने संस्कृत नाटकों में हँसाने का सर्वाधिकार ले लिया था और आज दिन तक इस काम के लिए उनकी आवश्यकता पड़ ही जाती है। बाबू अन्नपूर्णानंद जी ने भी ब्राह्मण-भोजन नामक लेख में उनका स्मरण किया है। और भी अनेक नाटकों में प्रसाद जी ने हास्य-रस की योजना की है।

सिद्धांत—देश-प्रेम की भावनाओं से इनके नाटक ओतप्रोत हैं। नागयज्ञ, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त, इत्यादि नाटकों में अनेक देशभक्त पात्रों की योजना की गई है जो मातृभूमि की वेदी पर सब कुछ समर्पित करने को प्रस्तुत रहते हैं। चंद्रगुप्त तथा चाणक्य इत्यादि के प्रयत्न,देश की विजातियों से रक्षा करने को हुए थे। स्कंदगुप्त का जीवन व्रत ही अपने देश का विदेशीयों के अत्याचार से उद्धार करना था। प्रसाद जी आशा, प्रेम, क्षमा और स्वाभिमान का संदेश देते हैं। इनके प्रेम में कुत्सित

वासना का योग नहीं रहता। ऐसी वासना रखनेवाले सब पात्रों का पतन दिखाया गया है। नियतिवादी होते हुए भी कर्म की सार्थकता पर विश्वास रखते हैं। उनके सिद्धांत 'स्कंदगुप्त' की कमला के शब्दों में ये हैं:-

"कौन कहता है तुम अकेले हो ! समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जाग्रत करो ! यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ !-तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते ?—समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उसमें पुरुषार्थ का समुद्र पूर्ण हो जाता है। उठो स्कंद ! आसुरी वृत्तियों को नाश करो, सोनेवालों को जगाओ, और रोनेवालों को हँसाओ ! आर्यावर्त तुम्हारे साथ होगा ! और उस आर्यपताका के नीचे समग्र विश्व होगा। उठो वीर !"

नाटकों की अभिनयोपयुक्तता—प्रसाद जी ने अपने नाटकों की रचना अभिनय का ध्यान रखकर की है। परंतु जटिल कथावस्तु के प्रवाह में अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं। थोड़ा-सा परिवर्तन करने से नाटकों का अभिनय किया जा सका है। काशी के साहित्यिकों के सम्मिलित उद्योग से चंद्रगुप्त नाटक का अभिनय किया गया था और उसमें बहुत कुछ सफलता भी मिली थी। लेखक ने इस अभिनय के लिए स्वयं अनेक परिवर्तन कर दिए थे। फिर भी युद्ध इत्यादि के दृश्य दिखाने में कठिनाई पड़ी थी। युद्ध के दृश्य लड़कों के खेल से प्रतीत होते थे।

जब नाटककार स्वयं अभिनय की आवश्यकताओं का निकट का परिचय नहीं रखता तो कुछ त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक है। शेक्सपियर तो रंगमंच पर काम भी कर चुका था पर उसके भी कई नाटकों के विषय में विद्वानों की सम्मति है कि उसका अभिनय नहीं किया जा सकता। प्रसाद जी को रंगमंच की अंतरंग आवश्यकताओं का विशेष परिचय नहीं था। ऐसी अवस्था में त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक

है। फिर भी कुछ परिवर्तन, नाटकों को अभिनय के योग्य बना सकते हैं।

आधुनिक प्रभाव--इनके कई नाटकों पर आधुनिक युग का प्रभाव भी पड़ा है। नागयज्ञ नाटक के कश्यप के साथी ब्राह्मण आजकल के ब्राह्मणों से मिलते-जुलते हैं। सम्भवतः उस युग में तो ब्राह्मणों का ऐसा पतन न हुआ होगा। स्कंदगुप्त नाटक में बौद्धों और ब्राह्मणों के बीच बलिदान के प्रश्न पर जो झगड़ा खड़ा किया है वह आजकल के हिंदू मुसलमानों के झगड़े से बहुत कुछ मिलता है। 'नागयज्ञ' की मनसा स्वभाव इत्यादि से आधुनिक मेमों से मिल जाती है। संभव है प्रसाद जी के पास इन सब बातों के ऐतिहासिक प्रमाण हों पर साधारण पाठक के हृदय पर कुछ ऐसा ही प्रभाव पड़ता है।

यदि प्रसाद जी के नाटकों में अभिनय की दृष्टि से कुछ त्रुटियाँ रह भी गई हों तो भी उनका साहित्यिक महत्त्व है और उनसे हमारी भाषा गौरवान्वित हुई है।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'—आपने महात्मा ईशा नामक नाटक अभिनय की आवश्यकताओं का ध्यान रख कर लिखा है। उसका अभिनय सुविधापूर्वक हो सकता है। पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत स्वाभाविक हुआ है। नाटक में देवता, राक्षस, साधारण मनुष्य, राक्षसियाँ और देवियाँ सब मिलती हैं। 'हेरोदिया' साक्षात् राक्षसी है और 'शांती' देवी की प्रतिमा। प्रायः सब मुख्य रसों का समावेश हुआ है। करुणा, शांत, वीर, हास्य इत्यादि सब रसों का सुंदर परिपाक हुआ है। पाठकों के हृदय पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। एकाध स्थल पर कुछ अस्वाभाविकता अवश्य आ गई है पर ऐसा बहुत कम हुआ है। द्वितीय अंक के पंचम दृश्य में एक वृद्ध कोढ़ी के पास बैठने के लिए किसी आदमी को लाने गया। कुछ वाक्यों के पश्चात् उस वृद्ध का पुनः प्रवेश होता है और वह कहता है "कोई नहीं मिला। द्वार-द्वार पर मैंने अपनी दुःखपूर्ण कहानी का वर्णन किया।" द्वार-द्वार घूमने में जितना समय लगना चाहिए था उतना नहीं लगा। इसकी ओर दर्शकों का ध्यान जाने से कुछ अस्वाभाविकता आ सकती है। आपने कई एकांकी नाटक भी

लिखे हैं जो अभिनय के उपयुक्त हुए हैं। अफजल वध नामक एकांकी नाटक बहुत सुंदर हुआ है। वध-प्रसंग अन्य पात्रों के द्वारा सूचित कर दिया है, दिखाया नहीं गया है। सम्भवतः प्राचीन आचार्यों के वर्जित दृश्यों के सिद्धांत का अनुसरण कर ऐसा किया गया है। 'उजबक, तथा 'चार बेचारे' प्रहसन भी अच्छे हुए हैं। पांडेय जी शिष्ट हास्य को उद्दीप्त करने की अच्छी सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इनकी कृतियों से हमारे साहित्य को बड़ी आशा थी, पर इधर कुछ दिनों से आपके सिनेमा-कंपनी में चले जाने से आपकी कोई साहित्यिक कृति जनता के सामने नहीं आई।

'डित गोविंदवल्लभ पंत—आपने 'वरमाला' नाम का एक छोटा सा नाटक लिखा है जिसकी कथा मारकण्डेय पुराण से ली गई है। नाटक में केवल ५-६ पात्र हैं, जिनमें नायक नायिका ही मुख्य हैं। अभिनेताओं के लिए 'भाव' दिखाने को पर्याप्त स्थान है। द्वितीय दृश्य में मूक अभिनय की योजना की गई है। पर इसमें कुछ अस्वाभाविकता सी प्रतीत होती है। अवीक्षित, वैशालिनी का हरण करके ले जाता है। सारी सभा में गड़बड़ मच जाती है। उस सभा में संसार के चुने हुए वीर एकत्र थे। ऐसी अवस्था में मूक दृश्य के द्वारा उनका गड़बड़ मचाना अधिक स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। यह नाटक बड़ी सुविधा से खेला जा सकता है। नाटक छोटा है अतः अभिनय में समय भी थोड़ा लगेगा और दर्शक ऊबने भी न पावेंगे। आपका इस कृति से बड़ी आशा हुई थी पर न जाने क्यों आपने इस क्षेत्र में और अधिक कार्य न किया।

पंडित माखनलाल जी चतुर्वेदी—इनका 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक बहुत प्रसिद्ध है। इसका अभिनय जबलपुर-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर बड़ी सफलता से हुआ था। एक बार श्रीकृष्ण ने चित्रसेन के वध की प्रतिज्ञा की थी। अर्जुन को इसका पता न था और उन्होंने उसकी रक्षा करने का वचन दे दिया। अतः कृष्ण और अर्जुन के बीच—भगवान और भक्त के बीच—युद्ध होना अनिवार्य हुआ। जिस समय श्रीकृष्ण के आघात से अर्जुन घायल होकर गिर पड़ता है उस समय का दृश्य बड़ा हृदयस्पर्शी हुआ है। अर्जुन को महाभारत युद्ध

की उस घटना का स्मरण हो आता है जब भिष्म के कराल बाणों से व्याकुल होकर कृष्ण को रक्षा के लिए पुकारा था। आज भी वह कृष्ण को इन शब्दों में पुकारता है "कृष्ण सँभालो...भीष्म के बाण, तोड़ो भाई... अपना प्रण"। कृष्ण उसे गोद में ले लेते हैं। नाटक के प्रारंभ में विद्यार्थियों को अमरकोष का पाठ पढ़ाना अस्वाभाविक हुआ है। इस ग्रंथ की रचना—जैसा कि सब लोग जानते हैं—बहुत पिछले समय में हुई थी। गालव ऋषि में शाप देने की शक्ति थी, ऐसी अवस्था में उनके शिष्यों का अपने गुरुदेव का मजाक उड़ाना उचित नहीं प्रतीत होता। गालव ऋषि आजकल के-से क्रोधी बाबा जी के समान हो गए हैं। ऐसी ही कुछ अस्वाभाविकताएँ आ गई हैं। फिर भी नाटक अच्छा हुआ है। इसके प्रारंभ में प्राचीन शैली के अनुसार प्रस्तावना की योजना की गई है।

पंडित बदरीनाथ जी भट्ट—आपने चंद्रगुप्त, तुलसीदास, वेन-चरित्र आदि अनेक नाटक लिखे हैं। आपकी 'दुर्गावती' ने बहुत प्रसिद्धि पाई है। दुर्गावती गढ़मंडले की रानी थी। उसने महाराणा प्रताप के समान मुग़ल बादशाह से अपने देश, अपनी मातृभूमि तथा अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए सब कुछ विसर्जित कर दिया। उसका चरित्र बहुत ही प्रभाव डालनेवाला हुआ है। देश-द्रोही बदनसिंह का चरित्र दुर्गावती से भिन्न प्रकार का हुआ है। उसके लिए सिवा घृणा और तिरस्कार के पाठक कुछ नहीं दे सकते। उसकी पत्नी सुमति अपनी वीरता तथा त्याग से हमारी श्रद्धा को जागरित करती है। वह अपने देश-द्रोही पति की स्वयं हत्या करती है।

स्थान-स्थान पर हास्य की भी योजना की गई है। गंभीर परिस्थितियों के बीच में अनावश्यक हास्य की योजना करने से भावों पर कुछ आघात पहुँचता है। जो लोग अधारसिंह को छुड़ाने गए थे वे उस गम्भीर भयानक परिस्थिति में भी परिहास करना नहीं छोड़ते। दृश्यों का सन्निवेश अभिनय का ध्यान रखकर किया गया है। भाषा सरल तथा व्यावहारिक हुई है। यदि गीत और साहित्यिक होते तो अच्छा हुआ होता।

आप हास्य-रस भी अच्छा लिख लेते थे। हास्य-रस के छोटे-छोटे

प्रहसन सफल हुए हैं। कानपुर के 'प्रताप' में गोलमालानंद के नाम से लिखा करते थे। आपका हास्य सोद्देश्य होता था।

पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र—आपने अशोक, संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य आदि नाटक लिखे हैं। कुछ नाटक आपके प्रकाशित भी होनेवाले हैं। आपकी कला तथा प्रतिभा विकास की ओर उन्मुख है। आपसे बड़ी आशा है। 'अशोक' की अपेक्षा 'मुक्ति का रहस्य, तथा 'संन्यासी' नाटक में अधिक सफलता मिली है। आपने पिछले नाटकों में स्वाभाविकता का बहुत ध्यान रखा है। पिछले नाटकों में स्वगत इत्यादि अस्वाभाविक प्रणालियाँ भी छोड़ दी गई हैं। सामाजिक नाटक लिखने में आपको अच्छी सफलता मिली है। 'अशोक' को देखकर अधिक आशा नहीं होती थी। पर 'मुक्ति का रहस्य' इत्यादि नाटक उज्ज्वल भविष्य की सूचना दे रहे हैं। 'अशोक' में अभिनय की दृष्टि से बहुत सी त्रुटियाँ रह गई हैं। उदाहरण के लिए रंगमंच पर वह दृश्य दिखाना कठिन होगा जिसमें अशोक एक शेर के पीछे घोड़ा दौड़ाता हुआ आ रहा है और शेर घूमकर आक्रमण करता है। मीक पात्रों की योजना भी केंद्रिय कथा के लिए अनावश्यक है। कलिंग के कुमार जनक का बिना परिचय के धर्मनाथ को आधी सेना का सेनापति बना देना अत्यन्त अस्वाभाविक हुआ है। अशोक नाटक का धर्मनाथ प्रसाद जी के चंद्रगुप्त नाटक के चाणक्य की भद्दी नकल है। मित्रा [illegible] का [illegible] परिहास भी हुआ है। अशोक के चरित्र का महत्त्व कम कर दिया गया है। जिस समय का नाटक है उस समय की परिस्थिति [illegible] नहीं मिलती। [illegible] इत्यादि आभूषणों का [illegible] किया गया है जो कदाचित् उस समय [illegible] न होते रहे होंगे। ऐतिहासिक [illegible] सामाजिक नाटकों [illegible] प्रसिद्ध हैं।

गई है। अभिनय का ध्यान रखा गया है। युद्ध इत्यादि को सूच्य बनाकर सुविधा कर दी गई है। ऐसी परीस्थितियों को बचा दिया गया है जिनका रंगमंच पर दिखाना कठिन या असंभव होता है। फिर भी युद्धभूमि के बहुत पास तक दर्शक जा सकते हैं। अभिनय की सुविधा के लिए नवरोज के मेले का वह दृश्य जिसमें पृथ्वीसिंह की पत्नी चंडी बनकर अभिमानी अकबर के छक्के छुड़ा देती है सूच्य वस्तु के अंतर्गत कर दिया गया है। यह घटना रंगमंच पर दिखाने से नाटक की प्रभविष्णुता बढ़ जाती। बाबू राधाकृष्णदास ने महाराणा प्रताप नाटक में इस घटना को दृश्य वस्तु के अंतर्गत बहुत सुन्दर योजना की गई है। राणा प्रताप तथा उनके भाई शक्तसिंह के वैमनस्य का जो कारण दिखलाया गया है वह संभवतः कल्पित है। इनकी कल्पना राणा के महान व्यक्तित्व को ध्यानमें रखकर नहीं की गई है। शिकार ऐसी तुच्छ बात के लिए अपने सगे भाई से भिड़ जाने से राणा कुछ अविचारी से प्रतीत होने लगते हैं। नाटक के प्रारंभ में प्रजा का प्रतिनिधि चंद्रावत, जगमल को सिंहासन च्युत करता है। इस दृश्य में कुछ अस्वाभाविकता सी आ गई है। इतनी सरलता से प्रायः लोग नहीं छोड़ देते। कई दृश्यों में रस का परिपाक अच्छा हुआ है। प्रताप के स्नेहसिक्तशब्दों में कितनी ममता, कितनी वेदना तथा कितनी करुणा भरी हुई है "पुकारो तो शक्त, पुकारो तो भैया, एक बार मुझे फिर प्यार से भैया कहकर पुकारो तो।" प्रताप का संधि-पत्र पाने पर पृथ्वीसिंह तथा अकबर की बातचीत बहुत ही स्वाभाविक हुई है। गंगासिंह की योजना से हास्य का भी योग किया गया है। अंत में नाटक समाप्त करने में कुछ अधिक शीघ्रता कर दी गई है।

और भी अनेक लेखक इस क्षेत्र में कुछ-कुछ काम कर रहे हैं। श्री सुदर्शन जी ने 'अंजना' तथा एकांकी 'चंद्रगुप्त' लिखकर संभवतः केवल कहानियाँ ही लिखते रहने का विचार कर लिया है। इनमें नाटक लिखने की अच्छी प्रतिभा है। श्री मैथिलीशरण गुप्त जी ने 'चंद्रहास' के अतिरिक्त 'यशोधरा' में भी कुछ नाटकीय तत्व लाने का प्रयत्न

किया। श्री रामकुमार जी वर्मा ने भी कुछ एकांकी नाटक लिखे हैं। श्री जी० पी० श्री वास्तव ने कई नाटकों के अनुवाद अँगरेजी से किए हैं और एकाध मौलिक रचनाएँ भी की हैं। श्रीप्रेमचंद्र जी के 'कर्बला' इत्यादि को तो लोगों ने उत्साह से नहीं अपनाया था पर आशा है उनकी 'बलिवेदी' से लोगों का मनोरंजन होगा। जिस उत्साह से उपन्यास तथा काव्य-क्षेत्र में काम हो रहा है उस उत्साह से नाटक-क्षेत्र में नहीं। हिंदीवालों के पास कोई अपना रंगमंच नहीं है। जब तक इसकी व्यवस्था नहीं हो जाती तब तक इस क्षेत्र में अधिक आशा नहीं। यदि विद्वान लोग विदेशी आदर्शों के पीछे भटकने के बदले में अपनी साहित्यिक परंपरा के अनुकूल कुछ अपने आदर्श बनाकर नाटक रचना की ओर प्रवृत्त हों तो अधिक उचित हो।

अनुवाद और अनुवादक

अच्छी और बुरी संगति से गुणों और दोषों की उत्पत्ति होती है यह बात जितनी मनुष्यों के पारस्परिक सम्बंध में सत्य है उतनी ही भाषाओं के भी। अन्य समुन्नत भाषाओं के सम्पर्क में आने से पिछड़ी हुई भाषाएँ क्रमशः अपने स्वरूप को समुन्नत करने लगती हैं और अनेक गुणों के ग्रहण करने के साथ-साथ कभी-कभी अवांछनीय दोषों को भी अपनाने लग जाती हैं। दो भिन्न-भिन्न भाषाओं का सम्बंध स्थापित करने में अनुवादों से बहुत सहायता मिलती है। अपनी भाषा की श्रीवृद्धि तथा ज्ञानवृद्धि के लिए अन्य भाषाओं के उच्चकोटि के ग्रंथों के अनुवाद अत्यंत आवश्यक हैं। योरोपीय भाषाएँ इतनी समुन्नत होने पर भी अन्य भाषाओं की श्रेष्ठ पुस्तकों की सामग्री अनुवाद रूप में ग्रहण करती ही जाती हैं। हमारे साहित्य में अनुवादों का क्रम बहुत ही प्राचीन काल में प्रारंभ हो गया था। तुलसीदास, सूरदास आदि अनेक श्रेष्ठ कवियों तक की श्रेष्ठ भावनाओं पर संस्कृत-साहित्य की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। केशवदास जी की तो प्रायः कृतियाँ संस्कृत ही से अपना आधार ग्रहण करती हैं। रीति काल के कवियों को भी संस्कृत-साहित्य का ऋणी होना पड़ा। आधुनिक

काल में भी भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र के समय से ही अनुवादों का क्रम चल चुका था। उस प्रारंभिक काल में अनुवादों की क्या अवस्था रही उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन प्रसंगानुसार पीछे आ चुका है। मध्य काल में भी अनेक पुस्तकों के अनुवाद प्रस्तुत किए गए। द्विवेदी जी के संपादन काल में ही पंडित रूपनारायण पांडेय तथा बाबू रामचन्द्र वर्मा अनुवादक-रूप में सामने आ चुके थे। आप दोनों की शक्ति क्रमश: विकासोन्मुख रही। वर्मा जी अँग्रेजी, बँगला, गुजराती, मराठी, उर्दू इत्यादि अनेक भाषाओं से अनुवाद करते हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं पर इतना अधिकार और किसी अनुवादक का नहीं है। ये अनुवाद के एक बहुत ही उच्च आदर्श को अपने सम्मुख रखते हैं। मूल के भावों को सदा सत्यता तथा निष्कपटता से प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं। हिंदी भाषा की प्रकृति का भी इन्हें पूर्ण परिचय है अत: इनके अनुवादों में अन्य भाषाओं की अवांछनीय प्रयोगिक विशेषताओं की छाप नहीं पड़ने पाती। हिंदी अपने स्वरूप की पूर्ण रक्षा करते हुए प्रांजल ढंग से आगे बढ़ती रहती है। विदेशी मुहावरों इत्यादि के भी अनुवाद बड़ी सतर्कता से किए गए हैं। प्राय: अपनी भाषा के मिलते हुए मुहावरों से काम चला लिया गया है।

पंडित रूपनारायण पांडेय ने प्राय: बँगला से अनुवाद किए हैं। कुछ अनुवाद पद्य में भी किए गए हैं। प्राय: अनुवादकों की भाषा में सब बातों पर ध्यान रखते हुए भी कुछ शिथिलता सी आ जाती है। मूल की कसावट अनुवादों में वैसी नहीं रह पाती। पांडेय जी की भाषा की यह विशेषता है कि वह अन्य भाषाओं के भावों को उतनी ही प्रौढ़ता से व्यक्त कर लेती है जितनी से वे मूल में व्यक्त किए गए थे। पंडित रामचंद्र शुक्ल ने भी अनेक पुस्तकों के अनुवाद प्रस्तुत किए। संभवत: हमारी भाषा के अनुवादकों में आपका आदर्श सबसे ऊँचा है। जितने प्रयत्न से अक्षर-अक्षर का ध्यान रखते हुए आपने अनुवाद प्रस्तुत किए हैं उतने प्रयत्न से किसी ने नहीं किए। प्राय: अनुवादों की पुस्तकों का महत्त्व मौलिक रचनाओं से कम ही होता है पर आपके अनेक अनुवाद इतने सुंदर हुए हैं कि मूल की त्रुटियों इत्यादि को बचाकर पुस्तक को एक और

भी समुन्नत-स्वरूप प्राप्त हुआ है। राखालदास के 'शशांक' का अनुवाद प्रस्तुत करने में जितना प्रयत्न किया गया है उतना अनेक लेखक मौलिक पुस्तक की रचना करने में भी नहीं करते। नवीन ऐतिहासिक अन्वेषणों के आधर पर 'शशांक' में अनेक परिवर्तन करने पड़े। एक आध पात्र के चरित्र-चित्रण में भी कुछ परिवर्तन किए गए। ये विषय मूल के साथ ऐसे मिल गये हैं कि कहीं भी अलग नहीं पहचाने जाते। राखालदास ऐसे इतिहास के विद्वान को भी शुक्ल जी द्वारा किए गए परिवर्तनों को देखकर प्रसन्नता हुई थी।

संस्कृत से भी अनेक महत्त्वपूर्ण अनुवाद प्रस्तुत किए गए हैं। पंडित ऋषीश्वरनाथ भट्ट ने कादंबरी का अनुवाद प्रस्तुत कर एक बहुत ही प्रशंसनीय साहित्यिक अनुष्ठान पूरा किया। मूल के भावों की रक्षा के साथ उनका आनंद तथा प्रवाह भी अक्षुण्ण रखा गया है। कादंबरी के अनुवाद प्रस्तुत करने के कई प्रयत्न किए गए थे पर लेखकों को सफलता न मिली। भट्ट जी को पूर्ण सफलता मिली है। पंडित चंद्रशेखर शास्त्री ने वाल्मीकि-रामायण के प्रसिद्ध अनुवाद के अतिरिक्त महाभारत के अनुवाद का भी क्रम चलाया था। गीता प्रेस गोरखपुर से भी अनेक संस्कृत की पुस्तकों के अच्छे अनुवाद प्रकाशित किए गए हैं। यह प्रेस भागवत के एक सुंदर अनुवाद निकालने का भी प्रयत्न कर रहा है। प्रयाग के इंडियन प्रेस से भी महाभारत का अनुवाद निकल रहा था जो अब समाप्त हो गया है। मराठी से माधवराव सप्रे ने दासबोध तथा गीता रहस्य के अनुवाद बहुत पहले ही किए थे। दासबोध का एक सुंदर अनुवाद बा० रामचंद्र वर्मा ने भी प्रस्तुत किया है। पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी ने भी मराठी से अनेक पुस्तकों के अनुवाद किए हैं। पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे ने कुछ अंग्रेजी से अनुवाद करने के अतिरिक्त मराठी से अनेक संतों की जीवनियों के सुंदर अनुवाद प्रस्तुत किए हैं।

श्री धन्यकुमार जैन आजकल श्री रवींद्रनाथ टैगोर के ग्रंथों के अनुवाद कर रहे हैं जो धारावाहिक रूप में 'विशाल भारत' में प्रकाशित होते हैं।

गुजराती से भी बा० रामचंद्र वर्मा, पं० हरिभाऊ उपाध्याय तथा श्री काशीनाथ जी त्रिवेदी ने अनेक पुस्तकों के अनुवाद किए हैं।

अँगरेजी से भी अनुवाद करने का क्रम चल रहा है। पं० छबिनाथ जी ने अनेक पुस्तकों के भावानुवाद प्रस्तुत किए हैं। श्री प्रेमचन्द्र तथा जी० पी० श्रीवास्तव जी ने अँगरेजी से कुछ नाटकों तथा उपन्यासों के अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी का 'बलिदान' अनुवाद भी बहुत सुंदर हुआ। श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने अँगरेजी के सुप्रसिद्ध उपन्यास (Eternal City) का अनुवाद 'अमरपुरी' नाम से किया। पं० जनार्दन भट्ट एम० ए० ने टालसटाय की कुछ पुस्तकों के अनुवाद प्रस्तुत किए। और भी अनेक लेखक इस क्षेत्रमें काम कर रहे हैं।

इसमें संदेह नहीं कि प्रौढ़ लेखकों के द्वारा अनेक सुंदर पुस्तकों के अच्छे अनुवाद प्रस्तुत किए गए हैं पर ऐसे भी अनेक लेखक हैं जिन्होंने अनुवाद करने को सरल व्यवसाय समझकर अपनाया है। ये, न अपनी भाषा पर अधिकार रखते हैं न विदेशी भाषा का समुचित परिचय। इनके द्वारा बहुत ही रद्दी पुस्तकें प्रस्तुत हो रही हैं जिनसे हमारी भाषा का गौरव बढ़ता हुआ नहीं प्रतीत होता। अनेक लेखकों ने बँगला आदि भाषाओं की अनेक बहुत ही साधारण पुस्तकों के अनुवाद किए जिनसे साहित्य को कुछ भी लाभ न हुआ। अनुवादों की ओर अधिक प्रवृत्ति हो जाने से अपनी भाषा के स्वतंत्र विकास पर भी कभी-कभी आघात पहुँचता दीखता है।

पत्र तथा पत्रिकाएँ

भारतेंदु काल के उत्तरार्द्ध तक के पत्र-पत्रिकाओं का कुछ परिचय पीछे दिया जा चुका है। उस प्रारंभिक काल में कैसी कठिनाइयों का सामना करते हुए पत्र-संचालकों को चलना पड़ता था इसका भी दिग्दर्शन हो चुका है। उस समय पाठक उत्पन्न करने का प्रश्न सम्मुख था। सरस्वती पत्रिका के जन्मकाल के समय से हिंदी पत्रों की संख्या में भी वृद्धि होने लगी और उनका रूप-रंग भी समुन्नत हो चला। कुछ जातीय पत्रिकाएँ भी निकलने लगीं। विशेष-विशेष विषयों को ग्रहण कर कुछ पत्र

सम्मुख आए। सरस्वती के अनुकरण पर, कमला, इंदु, लक्ष्मी, प्रभा, प्रतिभा, शारदा, मनोरमा, मर्यादा आदि अनेक पत्रिकाएँ निकलीं। इनमें से अनेक बहुत सुंदर थीं। तरंगिणी नाम की पत्रिका केवल दो ही वर्ष तक चल पाई। इसके संस्कृत साहित्य-संबंधी लेख अत्यंत गवेषणापूर्ण तथा पठनीय होते थे। हास्यविनोद के लेख आरा की मनोरंजन पत्रिका में तथा कानपुर के हिंदी मनोरंजन में रहा करते थे। कौशिक जी के संपादकत्व में हिंदी मनोरंजन ने पाठकों का बहुत दिनों तक मनोरंजन किया। पंडित रूपनारायण पांडेय द्वारा संपादित लखनऊ के नागरीप्रचारक ने तथा बिहार के बाबू ब्रजनंदन सहाय द्वारा संचालित आरा की साहित्य-पत्रिका ने भाषा तथा साहित्य के प्रचार में बहुत सहायता की। साहित्य-पत्रिका पीछे से त्रैमासिक रूप में निकलने लगी थी। आलोचना का संभवतः सबसे प्रथम पत्र बाबू गोपालराम गहमरी के संपादकत्व में समालोचक नामक जैपुर से निकला। कुछ दिन तक पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी इसके संपादक थे। पंडित कृष्णबिहारी मिश्र ने गँधौली से समालोचक नामक पत्र निकाला जो बहुत दिन तक साहित्य-सेवा करता रहा। 'देव', 'बिहारी' का झगड़ा इसी पत्र में चलता रहा। पं० हरिभाऊ उपाध्याय ने काशी से मालव मयूर नाम का सुंदर पत्र निकाला था जिसके राजनीतिक लेखों का बहुत महत्त्व समझा जाता था। ज्ञानमंडल काशी से प्रकाशित होनेवाले 'स्वार्थ' के अर्थशास्त्र संबधी लेख बहुत सुंदर निकलते थे। इस पत्र में वैदेशिक विनियम इत्यादि पर भी कई पांडित्यपूर्ण लेख निकले। वैसे प्रौढ़ लेख अब भी हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में कम दिखाई पड़ते हैं। काशी का नवनीत नामक पत्र भी महत्त्व का था। पं० रामजीलाल शर्मा द्वारा संपादित प्रयाग के विद्यार्थी पत्र ने भी अनेक वर्षों तक अच्छा काम किया। दिल्ली के 'महारथी' के वीर रस के लेख भी हिंदी के पाठक भूल न सकेंगे। बड़ोदा का 'व्यायाम' अपने विषय का एक मात्र पत्र है। 'काशी नागरीप्रचारिणी पत्रिका' त्रैमासिक रूप में अपने गवेषणापूर्ण लेखों के द्वारा साहित्य-सेवा में लगी हुई है। हिंदुस्तानी एकेडेमी प्रयाग की मुख्य पत्रिका हिंदुस्तानी, नागरीप्रचारिणी पत्रिका

के ढंग से ही काम कर रही है। काशी विद्यापीठ से भी डाक्टर भगवान-दास तथा श्री नरेन्द्रदेव शास्त्री के संपादकत्व में विद्यापीठ नामक पत्रिका त्रैमासिक रूप में कुछ दिनों तक लोगों की सेवा करती रही। आर्यमहिला, माधुरी, सुधा, विशालभारत, विश्वमित्र, सहेली, चाँद, हंस आदि पत्र-पत्रिकाओं की सेवाएँ हिंदी-भक्तों से छिपी नहीं है। 'सुधा' तो अपने भक्तों को मास में दो बार सुधापान कराने लगी थी। 'त्याग-भूमि' को भी हमारे साहित्य में सदा महत्त्व का स्थान प्राप्त रहेगा। हमारे दुर्भाग्य से वह इस क्षेत्र में अधिक दिनों तक न रह सकी। कुछ दिनों तक साप्ताहिक रूप में दर्शन देकर अंतर्ध्यान हो गई। आध्यात्मिक तथा धार्मिक क्षेत्र में काम करनेवाला वेदोदय अभी तक अपनी सेवाएँ कर रहा है। इसी धार्मिक क्षेत्र में अद्भुत क्षमता से कार्य करने के कारण कल्याण पत्र का भी बहुत महत्त्व है। भौतिकता के इस युग में इतने ग्राहकों के हाथ में धार्मिक पत्र पहुँचा देने का श्रेय इसी के संचालकों को है। प्रयाग की 'माया' अपनी कहानियों की माया से लोगों को मुग्ध कर रही है। बहुत आरंभिक काल में समस्यापूर्ति इत्यादि को लक्ष्य में रख कर कुछ पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारंभ हो गया था। मुजफ्फरपुर के बाबू देवकीनंदन खत्री द्वारा संपादित 'साहित्य सुधानिधि' को पाठक भूले न होंगे। इसी में काशी समस्यापूर्ति का पहला भाग प्रकाशित हुआ था। कुछ दिनों तक रत्नाकर जी भी इसके संपादक थे। राय देवीप्रसाद पूर्ण के संपादकत्व में कानपुर के रसिकमित्र ने बहुत दिनों तक रसिकों का मनोरंजन किया। श्री सनेही जी का कवि अब सुकवि होकर प्रति मास अपनी सरस रचनाएँ सुनाया करता है। समन्वय के आध्यात्मिक लेख भी बहुत महत्त्व के होते थे। बिहार की 'गंगा' बड़े अच्छे ढंग से काम कर रही है। प्रेमा अब बंद हो गई है। वीणा तथा वाणी मध्य भारत की पत्रिकाएँ हैं। प्रयाग के विज्ञान के वैज्ञानिक लेख उच्चकोटि के होते है। साधारण पाठकों के उपयोग की अधिक सामग्री इसमे नहीं रहती। प्रयाग की सेवा तथा भूगोल अपने विषय के एक मात्र पत्र हैं।

अभी कुछ महीनों से लाहौर से भारती नाम की एक सुंदर साहि-

यिक पत्रिका निकलने लगी है। कुछ जातीय पत्र भी निकलते रहे। कुछ अब तक चल रहे हैं, अनेक बंद हो गए हैं।

साप्ताहिक

श्री जायसवाल जी के संपादकत्व में पटना के 'पाटलिपुत्र' का प्रकाशन होता था। इसके ऐतिहासिक लेख अत्यंत गवेषणापूर्ण होते थे। लाहौर की 'आकाशवाणी' भाई परमानंद के संपादकत्व में हिंदू संगठन तथा राजनीति के विषयों में आकाशवाणी किया करती थी। श्री सुंदरलाल जी के संपादकत्व में कर्मयोगी तथा भविष्य नामक पत्र प्रयाग से निकलते रहे। भविष्य नाम का एक पत्र चाँद कार्यालय प्रयाग से भी पीछे से निकला था। श्रीकृष्णसंदेश, हिंदी केसरी (नागपुर), हिंदूपंच सैनिक, तरुण राजस्थान, स्वदेश, देश आदि साप्ताहिक अब बंद हो गए हैं। चित्रमय-जगत अपने ढंग का एक मात्र पत्र है। मराठी भाषा के केंद्र से प्रकाशित होने पर भी बड़ी प्रौढ़ भाषा में निकलता है। इसमें चित्र भी रहते हैं। ग्वालियर का जयाजीप्रताप भी सुंदर पत्र है। महाराज की वर्षगाँठ पर सुंदर विशेषांक निकलता है।

मनसुखा, मतवाला, मौजी आदि अब बंद हो चुके हैं। मनसुखा केवल पाँच महीने के लगभग चल पाया था। यह बड़े आकर्षक रूप में निकलता था। मतवाला की विनोदपूर्ण टिप्पणियाँ बहुत सुंदर होती थीं। अपने ढंग का यह एक ही पत्र था। अभ्युदय आज से पचीसों वर्ष पहिले पंडित मदनमोहन मालवीय की प्रेरणा से निकला था। यह बीच-बीच में बंद होकर अब तक चल रहा है। प्रयाग के लीडर के संचालकों ने भारत नाम का भी एक सुंदर साप्ताहिक निकाला था। वह आज कल दैनिक रूप में है। राजनीतिक क्षेत्र में कानपुर के प्रताप ने भी बहुत काम किया है। इसकी सत्यता तथा निष्कपटता पर पाठकों का सदा विश्वास रहा है। अब इसका दैनिक संस्करण भी निकलता है। 'कर्मवीर' श्री माधवराव सप्रे के संपादकत्व में जबलपुर से निकला था। रतौना का कसाईखाना बंद कराने को इसने घोर आंदोलन किया था। अब यह

खंडवा से श्री माखनलाल चतुर्वेदी के संपादकत्व में निकल रहा है। विश्वमित्र, जागरण, प्रकाश, (रीवाँ) आदि और भी अनेक साप्ताहिक हैं।

दैनिक

अनेक दैनिक पत्र निकलते और बंद होते रहते हैं। दैनिक क्षेत्र में 'आज' ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण काम किया है। इस पत्र की सफलता का बहुत कुछ श्रेय इसके विद्वान् तथा सुयोग्य संपादक बाबूराव विष्णु पराड़कर की लेखनी को है। कानपुर का 'वर्तमान' बहुत दिनों से समाचारों के साथ साथ मनोरंजन की सामग्री दे रहा है। 'प्रताप' का भी दैनिक संस्करण बड़ी सफलता से निकल रहा है। दिल्ली के 'अर्जुन' तथा लाहौर के 'हिंदी मिलाप' के द्वारा अच्छी सेवाएँ हो रही हैं। कलकत्ते से विश्वमित्र, भारतमित्र तथा लोकमान्य पत्र निकल रहे हैं। जबलपुर का उत्साही 'लोकमत' अब बंद हो गया है। मध्यप्रदेश में इसने अच्छा काम किया था। और भी अनेक दैनिक भिन्न-भिन्न स्थानों से निकल रहे हैं।

आयुर्वेद संबंधी भी कई पत्र निकले और बंद हो गए। कुछ अब तक काम कर रहे हैं। सिनेमा तथा नाटक-संबंधी पहिला पत्र रंगमंच नामक कलकत्ता से निकला। अब तक चल रहा है। रंगभूमि, चित्रपट आदि भी इस विषय के पत्र निकल रहे हैं। दलितोद्धार के संबंध में भी अनेक पत्रों का प्रकाशन आरंभ हुआ है। मद्रास का मासिक 'हिंदी प्रचारक' भी अच्छा काम कर रहा है। बर्मा से भी कई हिंदी पत्र निकल रहे हैं। विदेशों से भी हिंदी पत्रों का प्रकाशन आरंभ हुआ है। स्वामी भवानीदयाल के संपादकत्व में दक्षिण अफ्रीका के साप्ताहिक 'हिंदी' ने बहुत सेवा की। फिजी से 'वृद्धि' मासिक रूप में तथा 'फिजी समाचार' साप्ताहिक रूप में निकल रहे हैं। कई बालोपयोगी पत्र भी निकल रहे हैं, जिनमें बालक, बालसखा, खिलौना, वानर, शिशु आदि मुख्य हैं।

—:*:—

खड़ी बोली

नवीन काल

(संवत् १९७५—२०००)

पद्य

किसी व्यक्ति विशेष के सुख-दुख की भावनाएँ उसके जीवन के आनंद तथा अभाव का क्रमशः फल होती हैं ! किसी समाज के अधिक संख्यक लोगों की विशेष प्रकार की भावनाओं का मूल हमें उस समाज की औसत भावनाओं में खोजना चहिए जिनका निर्माण उन प्रेरणाओं से होता है जो समाज की राजनीतिक, सामाजिक इत्यादि परिस्थितियों से प्राप्त होती है। किसी समाज विशेष में रहनेवाले कवि पर उस समाज की भावनाओं का प्रभाव अवश्य पड़ेगा। जब किसी समाज में सुख की परिस्थितियों का अभाव तथा दुःख की परिस्थितियों का बाहुल्य हो जाता है तो इनका प्रभाव उस समाज के प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं पर भी पड़ता है। नवीन शिक्षा के विस्तृत प्रचार से लोगों की महत्त्वाकांक्षाएँ जाग्रत हो गई है, पर राजनीतिक परिस्थितियाँ उनके अनुकूल नहीं पड़तीं। पश्चिम के स्वच्छंद सामाजिक विचारों की भावनाओं से लोग प्रभावित हो चुके हैं पर अपने समाज की रूढ़ियों में बँधे रहने के कारण क्रियात्मक रूप में आगे बढ़ने में असमर्थ हैं। उनके स्वच्छंद विचारों का समाज के संकुचित परंपरागत बंधनों में सामंजस्य नहीं बैठता। आर्थिक परिस्थितियाँ भी सुख से जीवन-निर्वाह करने योग्य नहीं। समाज को रूढ़ियों से मुक्त करने के लिए तथा देश की राजनीतिक उन्नति करने को प्रयत्न किए जा रहे हैं पर उनमें अभी तक कुछ विशेष सफलता नहीं मिली है। इन सब परिस्थितियो ने लोगों के हृदयों में निराशा उत्पन्न कर दी है। इस निराशा का फल हमारे साहित्य में भी दृष्टिगोचर होने लगा है। आधुनिक कवियों की रचनाओं में प्राप्त होनेवाले दुःखवाद, कसक, वेदना, निराशा आदि के बहुत कुछ ये ही कारण हैं।

करुण रस की व्यंजना कवि लोग बहुत प्राचीन समय से करते आते हैं पर आँसुओं की जैसी बाढ़ हमारे साहित्य में आज कल आई हुई है वैसी संभवतः कभी न आई होगी। शोक की इस आधुनिक व्यापक भावना को हम केवल करुण रस के ही अंतर्गत नहीं ले सकते। जिस शोक का संबंध शृंगारी रचनाओं से है, उन्हें हम वास्तविक शोक नहीं मान सकते। वह रतिभाव का ही एक रूप है जो प्रिय की अप्राप्ति की अवस्था में वेदना में परिवर्तित हो जाता है। शृंगार रस में विप्रलंभ की योजना के बिना वैसी प्रौढ़ता प्राप्त नहीं होती। जितने प्रेमियों की कथाओं को काव्य में निबद्ध होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है उन्हें प्रायः वियोग ही में तड़पना पड़ा था और न जाने कितनी रातें आकाश के तारे गिन कर यों ही बिता देनी पड़ी थीं। सुखी प्रेमियों की कथाएँ साहित्य में कम मिलती हैं। कवियों को जितना आनंद वियोगियों के आँसुओं के वर्णन करने में मिलता है उतना संयोग में सुख से दिन बितानेवाले प्रेमियों की चर्चा करने में नहीं। यह प्रेम भी दो प्रकार का होता है। एक वासना से प्रारंभ होनेवाला लौकिक आलंबन पर स्थित रहता है दूसरा जिज्ञासा से श्रद्धा में परिवर्तित होकर पारलौकिक आलंबन पर अपनी प्रतिष्ठा करता है। इस दूसरे प्रकार के प्रेम में जब तक दूरी तथा संकोच रहता है तब तक यह भक्ति-भावना तक ही पहुँच पाता है, पर कुछ और आगे बढ़ सच्चे प्रेम की स्निग्धता में परिवर्तित हो जाता है। तड़पने का अवसर इन दोनों वियोगों में पर्याप्त रहता है। वासना-प्रधान लौकिक प्रेम की कसक-कहानी का अवसान प्रिय की प्राप्ति होते ही हो जाता है। फिर प्रेमी को कहीं भी दुःख नहीं दिखाई पड़ता। जिसे हम अभी आँसू बहाते देख चुके हैं वही यों कहने लगता है:—

"मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए
यह अलस जीवन सफल अब हो गया।
कौन कहता है जगत है दु,खमय
यह सरस संसार सुख का सिंधु है॥"—प्रसाद।

लोकोत्तर आलंबन पर स्थित प्रेम की विकलता कुछ अधिक स्थायी

होती है। भक्त 'उसके' वियोग में तपते-तपते जब वासनाओं को जला चुकता है तो कहीं जाकर उसे अपने प्रियतम की कुछ अस्पष्ट झलक क्षितिज के उस पार से दिखाई पड़ने लगती है। जब यह एकनिष्ठ भावना वेदांत के अद्वैतवाद से अपना पोषण करने लगती है तो उस अनोखे प्रिय के वियोग का सदा के लिए अंत हो जाता है। फिर तो कण-कण में दर्शन होने लगते हैं।

"पत्थर के टुकड़ों में भी तो मिलता प्रियतम का आभास।
उठा हृदय पर रख लेता हूँ करता रहे जगत उपहास॥"—प्रेमी।

लौकिक प्रेम से उत्पन्न होनेवाली विकलता को भी भावुक हृदय सुख ही समझकर सहते रहते हैं। वे क्षण भर को भी यह नहीं चाहते कि उनकी यह वेदना किसी उपचार के द्वारा दूर कर दी जाय।

अब इस दोनों प्रकार के प्रेमों से उत्पन्न वेदना का विश्लेषण कर लिया जाय। आधुनिक हिंदी-सहित्य में जितने वियोगजन्य विकलता के दर्शन होते हैं उतने संयोगजन्य उल्लास और आह्लाद के नहीं। इसका बहुत कुछ कारण हमारी आधुनिक शिक्षा को है। हमारे पश्चिम से मिलते-जुलते आदर्शों की पूर्ति आधुनिक समाज में नहीं होती। वैवाहिक-बंधन संयम की शिक्षा के द्वारा समाज में व्यवस्था की प्रतिष्ठा करता है। वह कुछ लोगों की उच्छृंखल भावुकता को संतुष्ट करने की चिंता न कर समाज में अधिक लोगों के कल्याण तथा मंगल की ओर उन्मुख रहता है। वैवाहिक-जीवन इत्यादि के नियंत्रणों को उपेक्षा से देखते हुए स्वच्छंद विचरण-शीलत्व को लक्ष्य बनाकर प्रेम के जो स्वप्न देखे जा रहे हैं उनमें यदि रोने तड़पने में अधिक अवसर आवें तो आश्चर्य नहीं।

इस निरंकुश प्रेम की भावना में एक बात और भी विचित्र होती है। प्रेम करने का दम भरनेवाले अपनी अयोग्यता, तुच्छता, असुंदरता पर ज़रा भी दृष्टि न रख बहुत ऊँचे अप्राप्य आलंबनों की ओर उन्मुख होने की कल्पना करने लगते हैं। ऐसों को अवश्य ही निराश होना पड़ेगा। ये ही तीनों प्रवृत्तियाँ हमारे आधुनिक साहित्य की शृंगारी रचनाओं के मूल का दिग्दर्शन कराती हैं। घर घर में उमड़ते हुए आँसुओं

के पारावार, जन-जन के हृदय में जलती हुई ज्वालाओं की बड़वाग्नि का बहुत कुछ कारण हमारे आधुनिक समाज की ये ही प्रवृत्तियाँ हैं।

कुछ विचार पारलौकिक प्रेम के विषय में भी कर लेना चाहिए। ऐसे प्रेमियों के लिए आशा रखने के अनेक कारण प्रस्तुत रहते है। यदि प्रियतम की ओर से कोई उत्तर नहीं मिलता तो कम-से कम उसकी ओर से उपेक्षा के भाव भी नहीं प्रकट किए जाते और भक्त को उसकी करुणा का विश्वास सदा बना रहता है। वह समझता है कि एक दिन—वह दिन अभी चाहे कितना भी दूर प्रतीत हो—इस सारी वेदना का अंत हो जायगा।

"एक दिन थम जायगा रोदन तुम्हारे प्रेम अंचल में"।—निराला।

ऐसे भी उद्गार अनेक आधुनिक रचनाओं में मिलते हैं। इन्हें हम भक्ति-भावना से प्रेरित मान सकते हैं, पर इन भक्तों के विषय में एक बात अत्यंत आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। उनकी भक्ति की भावनाओं का उनके जीवन के व्यापार से वैसा सामंजस्य नहीं प्रतीत होता। यदि सूरदास—'अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी' का राग अलापा करते थे तो उनका जीवन भी सच्चे भक्तों ही का-सा था। और भी भक्ति काल के श्रेष्ठ कवियों के विषय में यही बात कही जा सकती है। आधुनिक कवियों के जीवन में सच्चे भक्तों की-सी आर्द्रता सरसता तथा भावुकता नहीं मिलती। भक्ति के ऐसे उद्गारों का—जिनके कवियों के हृदय के अंतस्तल से निकले होने में पाठकों को संदेह हो सकता है—वैसा प्रभाव नहीं पड़ता। ये सब भावनाएँ कभी तो केवल कल्पना-प्रसूत प्रतीत होती है जो केवल चमत्कार-विधान तक—वह विधान चाहे कितना भी सात्विक न हो—पहुँच पाती हैं।

इन दोनों प्रकार के शोको के अतिरिक्त शोक ही से मिलती-जुलती एक और भावना आधुनिक कवियों मे मिलती है। ऐसे कवियों को संपूर्ण जीवन निस्तार प्रतीत होता है। वे सौंदर्य की क्षणभंगुरता की चिंता करने में इतने तल्लीन रहते हैं कि उन्हें जीवन में कुछ भी सरसता नहीं मिलती। इस प्रकार के उद्गारों को हम वैराग्यवृत्ति से प्रेरित मान सकते हैं:—

"क्या शरीर है ! शुष्क धूल का थोड़ा-सा छवि जाल ।
उस छवि में ही छिपा हुआ है वह भीषण कंकाल ॥"—कुमार ।

इस वैराग्य को शांत रस के अंतर्गत लिया जा सकता है पर निर्वेद की इन उक्तियों का भी जब हम जीवन के साथ वैसा सामंजस्य नहीं पाते तो हमें संदेह होने लगता है कि यह श्मशान-वैराग्य से तो कुछ संबंध नहीं रखता ?

कुछ कवियों की दुःखवाद की रचनाओं का कारण उनका दुःखपूर्ण जीवन ही है। इनके प्रकट किए गए उद्‌गारों के प्रति समदुःख-दुखी पाठक अपने हृदय का सामंजस्य स्थापित करने में समर्थ हो सकते हैं और सुख से जीवन-निर्वाह करनेवाले सहानुभूति प्रदर्शन से आगे नहीं बढ़ सकते । 'बेचारा बड़ा दुखी है' आदि वाक्य उनके हृदय पर पड़े हुए प्रभाव का कुछ अभास हमें देंगे। इन कवियों की रचनाओं में ऐसी ही वेदनात्मक बातें रहती हैं:—

"दुख की दीवारों का बंदी निरख सका न सुखी जीवन ।
सुख के मादक स्वप्नों तक से बनी रही मेरी अनबन ॥"—प्रेमी ।

इनके अतिरिक्त दुखिया कवियों की एक टोली और है जिन्हें सिवा रोने तड़पने और कलपने के कुछ आता नहीं। दुख तथा पीड़ा इनके जीवन की आवश्यक सामग्री हो गई है। जैसे साधारण प्राणियों के लिए श्वास-प्रश्वास की क्रिया आवश्यक है वैसे ही इन लोगों के लिये तड़पते रहना ! सुननेवाले दिन-रात की इस आह-कराह से जब दुखी हो जाते हैं तो इनके पास यह पूछने को भी पहुँचते हैं कि आपके इन अद्भुत कृत्यों का आखिर कारण क्या है ? सहानुभूति के इन वचनों को सुनकर वे और भी जोर से रोने तड़पने लगते हैं और किसी भी प्रकार चुपाने से चुप नहीं हो सकते । वे किसी प्रकार अपने हृदय तक पहुँच भी लाएँगे तो वहाँ भी अपनी चिरसहचरी पीड़ा को छोड़ना पसंद न करेंगे ।

"तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा ।"—महादेवी वर्मा ।

काव्य के सामाजिक उद्देश्य की दृष्टि से इस व्यापक शोक दृष्टि का कुछ विचार कर लेना आवश्यक होगा । हमारे यहाँ के प्राचीन आचार्यों

ने निरुद्देश्य काव्य की कल्पना नहीं की थी। वे काव्य के द्वारा भी मनुष्य-हृदय की साधारण वृत्तियों का अनुरंजन करते हुए एक ऊँचे उद्देश्य की ओर उन्मुख होते रहना चाहते थे। करुण-रस के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी वे यह नहीं चाहते थे कि लोग दिनरात बैठे रोया ही करें। इन्हीं सब कारणों से मृत्यु इत्यादि अमांगलिक घटनाओं का प्रदर्शन रंगमंच पर निषिद्ध था। काव्यों में आनेवाले करुण-चित्रों का भी आगे चलकर मांगलिक परिस्थितियों में पर्यवसान कर दिया जाता था। रामायण की कथा से अधिक कारुणिक चित्रों के अंकित करने के अवसर कम कथाओं में मिलेंगे, पर वहाँ भी पाठकों को शोक-सिंधु में मग्न होने के अवसर उतने नहीं दिए गए। राम-निर्वासन, दशरथ-मरण, सीता-अपहरण इत्यादि सारी शोक उत्पन्न करनेवाली घटनाओं का अंत भगवान रामचंद्र की राजगद्दी के अवसर पर हो जाता है।

हमारे आधुनिक कवियों के द्वारा शोक से जो चित्र अंकित किए जाते हैं उनका समाज पर बहुत स्वस्थ प्रभाव पड़ने की संभावना नहीं है। माना कि प्रायः लोग बहुत दुःखी हैं पर इसका क्या अर्थ कि कवि लोग भी उनके साथ बैठकर रोने लग जाँय! ऐसा तो परस्पर सहानुभूति प्रकट करनेवाली स्त्रियाँ स्वयं कर लेती है। एक दुखिया को दूसरी दुखिया मिल ही रहता है, पर हम अपने कवियों से इससे कुछ अधिक आशा करते हैं। हम चाहते है कि वे हमारे हृदयों में संजीवनी आशा का संचार करते रहें, हमें उत्साहित कर उज्ज्वल आदर्शों की ओर उन्मुख करते रहें और सुन्दर भविष्य के आकर्षक चित्र अंकित कर जीवन में सरसता बनाए रखें।

ऊपर प्रेम के आलंबनों की कुछ चर्चा हुई थी। हमारे साहित्य में आधुनिक काल के पहिले जितनी रचनाएँ हुई हैं उनमे रति-वृत्ति प्रेरित उद्गारों को भक्ति-भावना से प्रेरित उद्गारो से सदा अलग किया जा सकता है। मीरा इत्यादि की भावनाओं मे रति-वृत्ति तथा भक्ति-वृत्ति का ऐसा एकीकरण हो गया था कि उसमे पृथक्करण की आवश्यकता ही न थी। उर्दू-साहित्य में प्रेम के उद्गार कुछ ऐसी अस्पष्टता से प्रकट किए

जाते हैं कि उनका लक्ष्य लौकिक भी माना जा सकता है और लोकोत्तर भी। उनमें यह पता नहीं चलता कि इन रचनाओं के उद्गारों का आलंबन कौन है ? वासनाओं का चित्रण इतनी स्पष्टता से होता है कि जो भक्ति की पावन भावनाओं के अनुकूल पड़ ही नहीं सकता; पर कवि लोग यह कभी भी मानने को प्रस्तुत नहीं रहते कि उनका प्रेम वासना-प्रधान है। आलंबन की ऐसी अस्पष्टता हमारे साहित्य में भी आने लगी है। मुसलमान कवियों को सूफियों के संस्कार परंपरा से प्राप्त हैं, पर हमारे यहाँ कोई भी ऐसी साहित्यिक परंपरा नहीं है। पर ऐसी अस्पष्ट श्रृंगारी व्यंजना लोक-कल्याण के प्रशस्त मार्ग को छोड़कर विपरीत दिशा की ओर अग्रसर होने लगती है। यदि कवियों का लक्ष्य ईश्वर की ओर है तो उसकी स्पष्ट व्यंजना क्यों नहीं कर दी जाती ? समाज में अवांछनीय, कुत्सित कृत्यों को अस्पष्ट श्रृंगारी रचनाओं के द्वारा क्यों उभाड़ा जाता है।

इन संस्कारों के साथ-साथ उर्दू, फारसी इत्यादि भाषाओं में प्रयुक्त होनेवाले कुछ प्रतीक भी आने लगे हैं। प्रत्येक समाज के अपनी-अपनी भावनाओं के अनुकूल प्रतीक होते हैं। इन प्रतीकों की उद्भावना प्राकृतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों की प्रेरणा से होती है। एक देश में प्रयुक्त होनेवाले प्रतीक दूसरे देशों के काव्यों में शोभा नहीं दे सकते। योरोप ऐसे ठंढे देशों में शीतलता, प्रिय तथा वांछनीय नहीं है पर हमारे देश की प्रखर गरमी शीतलता को प्रिय बना देती है। योरोप में ठंढक, जड़ता मृत्यु इत्यादि की प्रतीक मानी जा सकती है पर हमारे देश में नहीं। मुसलमानी भाषाओं में प्रेम के माधुर्य के लिए शराब का प्रतीक प्रयुक्त होता है। उनके यहाँ जब धर्म ने इसके पीने का निषेध कर दिया तो कवि लोग काव्य में उसके नाम ही का प्रयोग करके कुछ आनंद लेने लगे। विदेशियों के साथ-साथ यह प्रतीक हमारे यहाँ भी आया। कुछ व्रजभाषा के काव्यों को भी इसने आकृष्ट किया। एकाध बार बाबू हरिश्चंद्र जी ने भी 'प्रेम प्याला' पीने का उपदेश दिया था। पर सौभाग्य से हमारे कवियों को जितना आनंद अमृत की लालसा प्रकट करने में

मिलता था उतना शराब पीने में नहीं। यद्यपि संभवतः उस प्रिय वस्तु की प्राप्ति उन्हें न हो पाई होगी पर उस लालसा में भी एक आनंद था। शराब का तामसी प्रतीक हमारे सात्विक आर्य संस्कारों के अनुकूल नहीं पड़ता। आजकल के कुछ कवियों को इसके पान करने की लालसा पुनः उत्पन्न हुई है। और वे मैखाना इत्यादि की स्थापना हिंदी-काव्य के पावन रंगमंच पर भी करना चाहते है।

कवियों के आदर्शों को भी हमने पश्चिम से उधार लेना प्रारंभ कर दिया है। हमारे यहाँ कविगण प्रायः पीयूषवर्षी ही हुआ करते थे पर अब वे अग्नि शिखा की ज्वाला भी होने लगे हैं। ऐसे कवि योरोप में तो तापने के काम आ सकते हैं पर हमारे भारतवर्ष में सिवा लोगों को जलाने के और कोई प्रयोजन उनसे सिद्ध नहीं हो सकता।

"अरे तुम अग्नि शिखा की ज्वाल।
तुम्हारा सुधा पूर्ण गायन ॥"—भगवतीचरण वर्मा।

सुधा पूर्ण गान करने वाले कवि हमारी संस्कृति के अधिक अनुकूल पड़ते हैं, अग्नि-शिखा की ज्वाला नहीं। हमारे आदर्श तो इन पंक्तियों में मिलते हैं:—

"नश्वर को अविनश्वर करते तत्काल।
तुम अपने ही अमृत के पावन मृदु सिंचन से।"—निराला।

इसी प्रकार कुछ कवियों के हृदयों में ऐसी ज्वालाएँ भी जलने लगी हैं जिनके शांत होने के कोई लक्षण नहीं दिखाई देते। सूर्य के अस्त हो जाने पर, चंद्रमा के बादलों से छिप जाने पर, बिजली के मेघों की कारा में बंदी हो जाने पर ये ज्वालाएँ धधकती ही रहती हैं। ये न जाने किस बात के प्रतीक हैं। यह कौन-सी नई ज्वाला उत्पन्न हो गई है जो शांत न होगी! तुलसीदास इत्यादि अनेक कवि भी लोक-मंगल के लिए व्याकुल होते थे पर ऐसी ज्वालाओं से वे भी कभी जलते नहीं देखे गए। यहीं तक नहीं, कुछ कविगण तो संपूर्ण संसार में प्रलय मचवा देने की प्रार्थनाएँ करने लगते हैं। अपने जीवन से निराश होकर यदि कवि अपने सर्वनाश की कामना करें तो उनसे सहानुभूति रखते हुए

भी पाठकों को उनके इस अधिकार को स्वीकार करना ही होगा, पर संपूर्ण संसार ने उनका कौन-सा अपराध किया है जो वे प्रलय मचवाये बिना न मानेंगे ?

गगन पर घिरो मंडलाकार !
अवनि पर गिरो वज्र सम आज !
गरजकर भरो रुद्र हुँकार,
यहाँ पर करो नाश का साज !
मचे तांडव नर्तन फिर आज,
चुका ले महाकाल निज ब्याज ॥"—भगवतीचरण वर्मा ।

उधर बिहार के एक और कवि प्रलय की कामना कर रहे हैं । ऐसे कवि संसार के किस काम आवेंगे ? मान लिया कि वे संसार की कुछ त्रुटियों से क्षुब्ध हो उठे हैं और अपना एक भिन्न लोक बनाने की योजना प्रस्तुत कर रहे हैं पर जब तक वह योजना पूरी न हो जाय तब तक इस संसार को यों ही चलाने दिया जाय तो अच्छा हो । पर सौभाग्य से सब कवि ऐसे निराशावादी नहीं है । कुछ ऐसे भी है जो संसार के पाप दूर करने की कामना करते हैं, उसके सर्वनाश की नहीं ।

गरज गगन के गान गरज गंभीर स्वरों में ।
भर अपना संदेश उरों में औ अधरों में ॥
बरस धरा में, बरस सरित गिरि सर सागर में ।
हर मेरा संताप, पाप जग का क्षण भर में ॥"—पंत ।

कवियों की सृष्टि लोक के अनकूल होते हुए भी कल्पना के द्वारा कुछ विशेष रूप को प्राप्त करती है । कवि असुंदर पदार्थों को सुंदरता प्रदान करता है, अभव्यता के स्थान में भव्यता की स्थापना करता है:—

"फूलते नहीं है फूल वैसे वसंत में,
जैसे तव कल्पपा की डालों पर खिलते हैं ।"—निराला ।

कल्पना काव्य की सहायता कर सकती है पर यह परम साध्य नहीं हो सकती । एक प्रकार की कल्पना तो काव्य की उच्चभूमि तक पहुँचती है पर एक केवल चमत्कार-विधान तक । सत्काव्य में प्रथम प्रकार की

कल्पनाओं का ही महत्त्व है। पुष्पों पर भौंरे आते-जाते रहते हैं। पुष्पों में इतनी संजीवता नहीं है कि वे भौंरों के इस व्यापार से सुख या दुःख का अनुभव कर सकें, पर इस क्रिया तथा दृश्य का मनुष्यसमाज में प्राप्त होनेवाले प्रेमियो के व्यापार से कुछ साम्य है। कवि इस साम्य का कल्पना के द्वारा प्रेम के वर्णनों में उपयोग करता है। कभी एक का आरोप दूसरे पर करता है कभी दूसरे का पहले पर। कभी उत्प्रेक्षा से सहायता लेता है कभी अन्योक्ति से। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। कुछ कल्पनाएँ चमत्कार-विधान से आगे नहीं बढ़ती। ऐसी कल्पना बच्चों में भी पाई जाती है। बच्चे गिरी हुई स्याही के धब्बों में हाथी, घोड़े आदि की भावना कर लेते हैं। पर ऐसी कल्पनाएँ काव्य में अधिक सहायता नहीं पहुँचा सकतीं। काव्योपयोगी कल्पनाओं को तो इससे आगे बढ़ना होगा। एक उदाहरण—स्वच्छ आकाश में चंद्रमा उगा हुआ है। चतुर्दिक तारे छितराए हुए है। कोई कवि कल्पना करता है कि ये तारे चंद्रमा-रूपी पथिक के मार्ग के काँच के टुकड़े हैं। सूझ दूर की है, पर अपने मूल रूप में यह सत्य नहीं है। चंद्रमा को तारों के कारण चलने में बाँधा पहुँचती है यह मान लेने का कौन-सा आधार है?

अन्य भाषाओं के संपर्क से हमारी भाषा की आलंकारिक शैलियों पर भी प्रभाव पड़ रहा है। संस्कृत-साहित्य के संपर्क से अलंकारों की अनेक शैलियाँ हमारे साहित्य में सैकड़ों वर्षों से प्रचलित है। संस्कृत के कवियों का प्रकृति-निरीक्षण बहुत ही सूक्ष्म था। प्रकृति के रमणीय उपादनों की सहायता से जो अप्रस्तुत विधान किया जाता था वह बहुत ही मार्मिक तथा हृदयाकर्षक होता था। पीछे आनेवाले कवियो ने अपनी-अपनी प्रतिभा तथा उद्भावना से कुछ नवीन उपमानों का अन्वेषण तथा प्राचीन उपमानों की योजना में विशेष चमत्कार को लक्ष्य में रखकर परिवर्तन किए। पर नवीन उद्भावनाएँ प्राचीन काल में प्रयुक्त होनेवाले उपमानों की रमणीयता में कमी न कर सकीं। हमारी सौंदर्यवृत्ति जिन दृश्यों पर अनादि काल से मुग्ध होती आइ है उनका आकर्षण कभी कम हो ही नहीं सकता। किसी पुष्कर विशेष का कोई एक कमल अपने

दिन पूरे करके मुरझा जायगा। पर कवियों के मानस में कमलों ने अपने जिस रमणीय स्वरूप की प्रतिष्ठा कर ली है वह सदा डहडहा रहेगा। वर्षा-ऋतु में नीले-नीले, काले-काले उन्नमित मेघों को देखकर हमारा हृदय सदा ही आनंद-विभोर होकर नाच उठेगा। शरच्चन्द्र की रमणीयता अजर है, अमर है अतः यह तो कभी भी आशा नहीं की जा सकती कि हमारे नवीन कवि—चाहे वे अँगरेजी के उच्च कवियों का अध्ययन करें चाहें फारसी के— प्राचीन रमणीय उपमानों की सहायता के बिना अपनी अप्रस्तुत-विधान की आकांक्षा की पूर्ति करते चलेंगे। हाँ यह बात दूसरी है—और वांछनीय भी है कि नवीन कवियों के द्वारा परंपरा से प्राप्त प्राचीन उपमानों की योजना में भी कुछ अभिनव चमत्कार की स्थापना तथा उद्भावना हो।

मीन तथा खंजन नेत्रों के उपमान न जाने कब से होते आए हैं, पर अब तक सहृदय कवि उनकी रमणीयता पर मुग्ध हो ही रहे हैं—

"प्रथम, भय से मीन के लघु-बाल जो
थे छिपे रहते गहन-जल में, तरल
उर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी।
कमल पर जो चारु दो खंजन, प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते,
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को।" सुमित्रानंदन पंत।

कुछ प्राचीन उपमानों की रमणीयता नीचे की पंक्तियों में और देख लीजिए:—

"विद्रुम सीपी संपुट में, मोती के दाने कैसे ?
है हंस न, शुक यह फिर क्यों चुगने को मुक्ता ऐसे ?—"प्रसाद।

अब कुछ नवीन ढंग की योजनाओं को भी देख लिया जावे। कुछ अलंकार तो सीधे अँगरेजी से लिए गए हैं। अँगरेजी के प्रायः अलंकारों की योजना प्रयोजनवती लक्षणा पर निर्भर रहती है। इसका मूल हमारे

यहाँ भी मिल जाता है। कुछ नवीन योजनाएँ प्राचीन शैलियों में परिवर्तन कर देने से प्राप्त हुई हैं। पंत जी की 'ग्रंथि' का नायक एक बार किसी ताल में निमग्न हो गया था। वह किसी रमणी के द्वारा निकाला गया। जब उसे चैतन्य प्राप्त हुआ तो उसने अपने को उसी के पास पाया। उस रमणी की बाहों ने निमग्न-व्यक्ति के लिए अमृत-सा ही कार्य किया। पर अमृत सजीव नहीं है इसलिए दोनों में कुछ व्यतिरेक रह ही जाता है। इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर नीचे कैसा सुंदर अप्रस्तुत-विधान किया गया है। यह बात दूसरी है कि 'लहरों के' प्रयोग की 'के' व्याकरण भक्तों के हृदय में चुभेगी।

"नित्य ही मानव तरंगों में अतल
मग्न होते हैं कई, पर इस तरह
अमृत की जीवित-लहर के बाँह में
जगत में कितने अभी भूले भला ?"

निम्नलिखित पंक्तियों में कैसी सुन्दर सूझ से काम लिया गया है। मोती-सी-ज्योत्स्ना के बदले में 'मोती की' कहने में कैसी सुंदर व्यंजना है। इस साम्य पर कवि इतना मुग्ध है कि वह साम्य-स्थापन से आगे बढ़ जाता है। वह ज्योत्स्ना मोती की ही बनी हुई थी। बंद सीपी के भीतर छिपे हुए मोतियों को हम देख नहीं सकते हैं। इसलिए 'सस्मित' विशेषण की योजना की गई है। मुसकराती हुई सीपी से खुली हुई सीपी का भाव है। पर सस्मित शब्द की व्यंग्यात्मक स्थापना के द्वारा दृश्य के आह्लादजनकत्व की कैसी सुंदर व्यंजना की गई है:—

"सिकता की सस्मित-सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर"—पंत।

चंचल लहरों के परदे के भीतर प्रतिबिंबित तारों का कैसा सुंदर वर्णन इन पंक्तियों में हुआ है:—

"विस्फारित नयनों से निश्चल, कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर नभ का अंतस्तल
जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किए अविरल
फिरतीं लहरें लुक-छिप पल-पल।"—सुमित्रानंदन पंत।

इन उदाहरणों में प्राचीन शैली का नवीन उद्भावना के साथ बहुत सुंदर योग हुआ है। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है जिसमें कवि ने एक नवीन शैली रखी है:—

"इंदु पर, उस इंदु-मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था।"

प्रारंभिक पंक्तियों में क्रम का कैसा सुंदर निर्वाह किया गया है। इन पंक्तियों का मुख्य शब्द 'अपूर्व' है। 'पूर्व' शब्द के संसर्ग से 'अपूर्व' शब्द में भी उसी से संबद्ध विपरीत दिशा की कुछ आभा मिलती है। इस चमत्कार पर मुग्ध होकर पाठक अपूर्व शब्द के दूसरे अर्थ अद्वितीय की ओर पहुँचता है। नीचे की पंक्तियों में 'लाल' शब्द का भी वैसा ही चमत्कारपूर्ण प्रयोग हुआ है। नीलोत्पल शब्द के नील विशेषण के पश्चात् जब 'लाल' शब्द आता है तो हमारे हृदयों में क्षण-भर को एक रंग विशेष की भावना उत्पन्न हो जाती है। कथा-प्रसंग इस भावना को टिकने नहीं देता पर एक अद्भुत चमत्कार का आनंद पाठक को अवश्य मिल जाता है।

"बाल-रवि-किरणों से हँसते नव नीलोत्पल!
साथ लिये लाल को
घूमते समोद थे नयन-मनोरम तुम" —निराला।

शब्दालंकारों की भी योजना आधुनिक कवियों की रचनाओं में होती हैं। पर व्रजभाषा के कुछ कवियों की रचनाओं की तरह भावों का बलिदान कर शब्दमैत्री की उपासना नहीं की जाती। नीचे की पंक्तियों में शब्द-साम्य की कैसी सुंदर योजना है:—

"निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,"

लाक्षणिक प्रयोगों की सहायता से भी कुछ कवियों ने सुंदर अप्रस्तुत-विधान किया है:—

"दीनता के ही विकंपित पात्र में
दान बढ़कर छलकता है प्रीति से।"

'दानपात्र' प्रयोग में 'पात्र' शब्द का लाक्षणिक व्यवहार न जाने कब से होता आता है। कवि ने अपनी प्रतिभा से उसका कैसा सुंदर काव्योचित प्रयोग किया है। 'विकंपित' तथा 'छलकता' का योग भी कितना सुंदर है। काँपते हुए पात्र में जल अवश्य छलकेगा। दीनता के कारण काँपते हुए व्यक्ति को यदि कुछ मिल जायगा तो उसे कितना आनंद होगा। उसके हृदय में आनंद छलकने लगेगा। ऊपर की पंक्तियों का प्रत्येक शब्द महत्त्वपूर्ण है और रमणीय ध्वनि की स्थापना में अद्भुत योग दे रहा है। दीन व्यक्ति के लिए दीनता शब्द का प्रयोग भी निरर्थक नहीं है। दीन व्यक्ति के पास अपना व्यक्तित्व कहाँ रह जाता है? वहाँ तो केवल दीनता-ही-दीनता दिखाई पड़ती है। ऐसा ही एक प्रयोग नीचे की पंक्तियों में भी हुआ है। तुच्छ व्यक्ति किसी के भी द्वारा सहानुभूति का दान पाकर आँसुओं के द्वारा अपने भावों को प्रकट करता है। संकुचित शब्द के साथ उमड़ती शब्द का प्रयोग भी बहुत सुंदर हुआ है।

"अल्पता की सकुचित आँखें सदा
उमड़ती हैं अल्प भी अपनाव से।"

कुछ सूक्ष्म भावनाओं की अनुभूति हमें इतनी गंभीर होती है कि हमारे हृदयचक्षु के सम्मुख उनका एक गोचर-सा स्वरूप उपस्थित रहता है। अल्पता आदि शब्दों के प्रयोग में जिस चमत्कार की योजना है वह इसी अनुभूति पर निर्भर है। इसी से कुछ मिलती हुई एक शैली और है जिसमें किसी अधिकरण में विशेष प्रकार से पाई जानेवाली विशेषता का आरोप इस प्रकार से किया जाता है कि वह अधिकरण दृष्टि से ओझल हो जाता है और वह विशेषता ही काव्य के रंगमंच पर अपनी गोचर प्रतिष्ठा कर लेती है। नीचे की पंक्तियों में इसी ढंग से सुंदर व्यक्ति को सौंदर्य कहा गया है:—

"हे लाज भरे सौंदर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यों ?"—पंत।

लक्षणा ही की सहायता से विशेषण विपर्यय इत्यादि अलंकारों की योजना होती है। किसी बिछुड़े हुए प्रिय की स्मृति में नेत्र सजल हो जाते हैं। इस सजल को नेत्रों से हटाकर सुधि के साथ कितनी सार्थकता से बैठाया गया है:—

"कल्पने ! आओ, सजनि उस प्रेम की,
सजल सुधि में मग्न हो जावें पुनः।"

हमारी प्राचीन लाक्षणिक पद्धति पर नवीन कल्पनाएँ तथा उद्भावनाएँ करने का समुचित अवसर है। अँगरेजी-साहित्य में प्रयुक्त होनेवाले प्रयोगों को भी हमारी शैली में स्थान है। लाक्षणिक प्रयोगों की शरण या तो कवि तब लेते हैं जब किसी भाव को व्यक्त करने के लिए उनकी भाषा की अभिधा-शक्ति असफल हो जाती है, अथवा जब किसी रमणीय भाव विशेष की वक्रतापूर्ण व्यंजना करनी होती है। केवल ऐसे चमत्कार की स्थापना करने के लिए जिससे काव्य-ध्वनि में सहायता नहीं मिलती, जो लाक्षणिक प्रयोग किए जाते हैं वे निरर्थक ही होते हैं। कवियों को लक्षणा करते समय समाज विशेष की अनुभूति-परंपरा तथा विचार-परंपरा का ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा। इनके बिना या तो लाक्षणिक प्रयोग केवल तमाशा हो जायेंगे अथवा बोधगम्य न रहेंगे। व्यथाओं का सोना, जागना तो कहा जा सकता है क्योंकि अभिलाषाओं को जगते सोते हम सभी मानते हैं पर जब अभिलाषाएँ करवट बदलने लगती हैं अथवा व्यथाएँ [illegible] लगती हैं तो एक अद्भुत दृश्य उपस्थित हो जाता है। [illegible] पलकें करवटें बदली जाती हैं पर यहाँ जगना [illegible] पर निर्भर है। इसके आधार पर और भी आगे बढ़ने [illegible] ?

पर अब वह बैठकर सिसकने भी लगा है:—

"सिसकते, अस्थिर मानस से
बाल-बादल-सा उठकर आज
सरल, अस्फुट उच्छ्वास!"—पंत।

जिस प्रकार अँगरेजी की लाक्षणिकता का प्रभाव हमारी भाषा पर पड़ रहा है उसी प्रकार उसके मुहावरों तथा पदावली आदि का भी। 'दृष्टिकोण' आदि अँगरेजी की पदावली के अनुकरण पर बनाए हुए शब्द तो पहले से प्रयुक्त होते आते हैं, इधर अनुकरण पर कुछ और शब्द भी बनाए गए हैं। नीचे की पंक्तियों में अजान और अनजान शब्दों का प्रयोग अँगरेजी के Innocent शब्द के भाव की सहायता से हुआ है—

"कान से मिले अजान नयन
सहज सजा था सजीला तन"—पंत।

* * * *

"आह अनजान शेर अफगन"—भगवतीचरण वर्मा

नीचे की पंक्तियों में 'अतिरिक्त' शब्द भी अँगरेजी के ढाँचे पर प्रयुक्त हुआ है:—

"फैल गया अतिरिक्त दीप्तिमय
आँखों में उत्कट उल्लास।"—सियारामशरण गुप्त।

निम्नलिखित पंक्तियों के मुहावरे का प्रयोग भी अँगरेजी के अनुकरण पर हुआ है:—

"नये जीवन का पहिला पृष्ठ
देवि तुमने उलटा है आज।"—भगवतीचरण वर्मा।

खड़ी बोली ही नहीं, इस काल में रचना करनेवाले व्रजभाषा के कवियों पर भी अँगरेजी की वक्रता का प्रभाव पड़ा है। 'रत्नाकर' जी की नीचे की पंक्ति में Vacant look का स्पंदन देखिए:—

"इमि बिलखत बतरात चकित चितवत चख रीतैं"

शब्दों के प्रयोग में एक विशेषता और आ रही है जिस पर हमारी भाषा में पहले अधिक ध्यान नहीं दिया गया। प्रसन्नता की बात है कि

श्री सुमित्रानंदन जी पंत इसकी बड़ी सुंदर योजना अपनी रचनाओं में करते हैं। इस विशेषता का नामकरण ध्वनि की भावानुरूपता किया जा सकता है। कुछ शब्द ऐसे हैं जो अपने उच्चारण ही से अपने भाव का आभास दे देते हैं। 'भयंकर' शब्द का भाव भी भयंकर है और उच्चारण भी। 'तमाचा' शब्द अपने उच्चारण ही से प्रहार सा करता प्रतीत होता है। 'दुलार' शब्द में जो लाड़ भरा है वह प्यार में नहीं है। 'पुचकारना' शब्द प्रयोग करनेवाले से पहले ही पुचकारने को आगे बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। 'बवंडर', 'तहल' आदि शब्द भी अपने भाव का चित्र उच्चारण ही से अंकित कर देते है।

वाक्यों के संगठन पर भी अँगरेजी भाषा का प्रभाव पड़ रहा है। किसी विशेष चमत्कार को दृष्टि में रखकर अपनी भाषा में यदि नये ढंग के वाक्यों का प्रयोग किया जावे तो उतना बुरा नहीं, पर आवश्यकता के बिना अपनी भाषा की प्रकृति तथा स्वभाव पर आघात पहुँचना बहुत अनुचित है। व्याकरण की भी उपेक्षा की जाने लगी है। भावावेश में कुछ त्रुटियाँ क्षम्य हैं। तुलसीदास आदि कवियों में भी च्युतसंस्कृति के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, पर थोड़ा सा ध्यान देकर यदि त्रुटियाँ बचाई जा सकती है तो उनका बचा देना ही उचित है।

आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियों पर विचार करते समय रहस्यवाद पर भी कुछ कह देना अत्यन्त आवश्यक है। वेदांतियों का शुष्क अद्वैतवाद जब हृदयक्षेत्र में पहुँचकर भावनाओं के अनुकूल हो जाता है तो रहस्य-वाद की सृष्टि होती है। यह भावधारा जब एकनिष्ठ हो जाती है तो भक्ति के ठोस स्वरूप में परिवर्तित हो जाती है। इसके लिए यह आव-श्यक नहीं है कि भक्ति का आलंबन गोचर ही हो। अगोचर आलंबन के आश्रय से भी भक्ति-भावना में एकनिष्ठता आ जाती है। पर यहाँ से निर्गुण अव्यक्त सत्ता पर कुछ गुणों का आरोप अवश्य प्रारंभ हो जाता है; क्योंकि राग-विराग की प्रवृत्तियों के व्यायास के लिए कुछ गुणों का आरोप अनिवार्य है। हृदय किसी ठोस आधार ही पर टिक सकता है, एकदम निराधार पर नहीं। अगोचर, अनिर्वचनीय ब्रह्म करुणासिंधु

दीनानाथ इत्यादि होकर भक्ति के अनुकूल हो सकता है चाहे वह चतुर्भुजधारी विष्णु के रूप में अथवा और भी कुछ आगे बढ़ कर राम, कृष्ण रूप में अपने को व्यक्त न भी करे। इस ठोस भक्तिवाद तथा शुष्क अद्वैतवाद के बीच की भावना रहस्यमयी होती है। यह किसी देश विशेष की निजी संपत्ति नहीं है। भावुक हृदय सब देशों, सब कालों में, इस भावना से प्रभावित होते रहे हैं।

सूफियों के रहस्यवाद ने आगे चलकर सांप्रदायिक स्वरूप प्राप्त कर लिया था। योरोप में पहुँचकर इसका ऐसा विकास हुआ जो इसके मूल रूप से बहुत आगे बढ़ गया। कविवर रवीन्द्रनाथ ने सांप्रदायिक रहस्य भावना पश्चिम से ही उधार ली है। पर संप्रदाय की भूमि को छोड़कर सब भावुकों के हृदय-क्षेत्र की अनुभूति के अनुकूल पड़ती हुई जो रहस्योन्मुख उक्तियाँ है वे बहुत ही मार्मिक हैं। रवि बाबू ऐसे महान् व्यक्ति का प्रभाव औरों पर भी बिना पड़े नहीं रह सकता था। पहुँचे हुए भक्तों के संसर्ग में अनेक लोग भक्त बन जाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो भक्त होने का ढोंग करने लगते हैं, पर इन बने हुए भक्तों को सरलता से पहचाना जा सकता है। रवि बाबू की देखादेखी जिन लोगों ने अपनी हृत्तंत्री के तार तोड़ने आरंभ किए उनको लोगों ने तुरंत ताड़ लिया। अब वे अनंत के स्वप्न देखते हुए कहाँ दिखाई पड़ते हैं? जिन लोगों को सच्ची अनुभूति थी उनकी रचनाओं में इस नवीन भावना का अच्छा योग होने लगा है। हिंदी के अनेक कवि ठोस आलंबनों को छोड़-छोड़ कर उस अनजाने 'कौन?' की ओर बढ़ने लगे हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद जी की रचनाएँ ली जा सकती हैं। इनकी प्रारंभिक कविताओं में भक्ति की भावना तो अवश्य मिलती है पर रहस्यमयी जिज्ञासा के दर्शन नहीं होते। आधुनिक रचनाओं पर रहस्यवाद का पूरा प्रभाव पड़ रहा है। किसी किसी कवि ने सांप्रदायिक रहस्यवाद के अनुकूल भी रचनाएँ की हैं। पर ऐसी रचनाएँ साधारण भावुकों की अनुभूति से अलग हटी हुई हैं। हमारे देश में भक्ति-भावना की ऐसे मधुर रूप में प्रतिष्ठा हुई है कि कोरा रहस्यवाद यहाँ अपने प्रसार के

लिये पर्याप्त क्षेत्र पा नहीं सकता। पंत जी की "मौन निमंत्रण" में प्रकट की हुई जिज्ञासा आगे चलकर अपना उत्तर पा जाती है, वह उत्तर भक्ति-भावना के अधिक अनुकूल पड़ता है:—

"न जाने कौन, अये द्युतिमान!
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान,
अहे सुख-दुख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन!"

आगे चलकर इन 'कौन?' का पता चल जाता है। वे अपने जाने-पहचाने 'मेरे सुकुमार' रूप में परिवर्तित हो जाते हैं—

"कभी उड़ते-पत्तों के साथ, मुझे मिलते मेरे सुकुमार;
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ, बुलाते फिर मुझको उस पार;
नहीं रखती मैं जग का ज्ञान, और हँस पड़ती हूँ अनजान!
रोकने पर भी तो सखि! हाय, नहीं रुकती तब यह मुसकान!"

हमारे आधुनिक कवियों का प्रकृति के प्रति अधिक अनुराग हो चला है। आलंकारिक रूप में प्राकृतिक रमणीय उपादानों का उपयोग तो बहुत दिनों से होता आता है पर उनमें कवियों के हृदय का अनुराग लक्षित नहीं होता था। उद्दीपन-विभाव की परिपाटी के अनुसार भी प्रकृति को कोई महत्त्व का स्थान नहीं मिलता था। आधुनिक वर्णनों में प्रकृति स्वयं कवि तथा पाठक के आलंबन रूप में आती है। इन वर्णनों को चाहे हम रस-परिपाटी के अनुसार किसी रस में न गिन सकें पर इनका महत्त्व अवश्य है। संस्कृत-साहित्य में भी कवियों ने बड़े अनुराग से रम्य प्राकृतिक दृश्यावली की योजना की है। पर आधुनिक वर्णनों को बहुत कुछ उत्तेजना अँगरेजी-साहित्य के संपर्क से प्राप्त हुई है।

इस नवीन युग में भी कविगणों के हृदयों में राम, कृष्ण के प्रति अनुराग बना ही हुआ है। इन दोनों अवतारों का हमारे जीवन से इतना संपर्क स्थापित हो गया है कि नवीन-से-नवीन भावनाओं से प्रभावित

होने पर भी हम उनके बिना नहीं रह पाते। नवीन युग के अनुसार भक्ति-भावना में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए हैं। पहले के कवि काम, क्रोध आदि शत्रुओं की शिकायत भगवान से करने में लगे रहते थे और गणिका तथा गीध के उदाहरण के भरोसे भगवान से स्वर्ग पाने की आशा किए रहते थे। आधुनिक कवि अपने व्यक्तिगत दुःखों और अभावों को ही भगवान के सम्मुख नहीं रखते किन्तु संपूर्ण देश के दुखियों की आर्त्त पुकार भी भगवान तक पहुँचाने में लगे रहते हैं।

अब छंदों के विषय में भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है। अपनी नवीन भाषा के उपयुक्त छंदों के चुनाव का प्रश्न कवियों के सम्मुख था। इसके लिए कुछ कवियों ने तो संस्कृत के छंदों को चुना जिनमें खड़ी बोली की रचनाएँ की जा सकती थीं। और कुछ लोगों ने नवीन छंदों की उद्भावनाएँ भी कीं। एक धार्मिक पुरुष के लिए धर्मशास्त्र के प्रत्येक वचन का पालन करना आवश्यक हो सकता है, पर कवियों के लिए प्राचीन छंदों ही की गुलामी करना कभी भी बुद्धि-संगत नहीं माना जा सकता। काव्य की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर कविगण नवीन छंदों की उद्भावनाएँ अवश्य कर सकते हैं। कबीरदास ने अपनी अटपटी वाणी में छंदों की बहुत पाबंदी नहीं की है। दोहे ऐसे साधारण छंद की मात्राओं का भी उनसे समुचित निर्वाह न हो सका। फिर भी उनकी वाणी का आज तक आदर है। सूरदास आदि भक्त कवियों के पदों में भी गाने की सुविधा को छोड़कर और कौन से छंदों का ध्यान रखा गया है? नवीन कवियों को भी सुविधा के अनुसार नवीन छंदों की उद्भावनाएँ करते रहना ही पड़ेगा। अतुकांत कविताओं की प्रणाली भी नई नहीं। संस्कृत में तो इसी का प्रयोग होता है। खड़ी बोली के लिए अंत्यानप्रासरहित पद्य की आवश्यकता का अनुभव सबसे पहले पं० अंबिकादत्त व्यास ने किया था। उनका 'कंसवध' नामक काव्य बरवा छंद में लिखा गया है, पर अंत में तुक नहीं मिलाई गई है। फिर भी पढ़ने में कोई ऐसी असुविधा नहीं होती। नीचे की पंक्तियों को देखिए:—

"मथुरा जाने की है, मुझको चाह।
बाबा से भी आज्ञा, आवा, पाय॥
मेरे खेल तमाशे, सदा बनाय।
हाय भई तू उलटी, मुझसे आज॥"

मुक्त छंद के प्रयोग पर भी बहुत आक्षेप किया जाता है। इस ढंग पर भी अनेक सुंदर रचनाएँ हुई हैं। 'निराला' जी की 'जूही की कली' नामक सुंदर रचना कैसे सुंदर प्रभाव से आगे बढ़ती है। ऐसे छंदों के प्रयोग के लिए भी प्रतिभा और योग्यता की आवश्यकता है। मुक्त छंद को सरल व्यवसाय समझकर कोई सफल नहीं हो सकता।

कुछ कविगण

श्री जयशंकर 'प्रसाद'—प्रसाद जी की कविता का एक मुख्य विषय प्रेम है। यह प्रेम अलौकिक आलंबन का आश्रय ग्रहण कर भक्ति में परिवर्तित हो जाता है और लौकिक आलंबन पर स्थित हो रति-भाव के अनुकूल पड़ता हुआ चलता है। इनकी रचनाओं में लौकिक वासना-प्रधान प्रेम की व्यंजना भी इस रूप में हुई है कि वह आगे चलकर लोकोत्तर प्रेमालंबन की ओर उन्मुख होने लगता है। जीवन की सच्ची तथा मार्मिक अनुभूति का जब कोमल कल्पना से योग होता है तो वास्तविक कवित्व के दर्शन होते हैं। प्रसाद जी को जीवन की रसिकता तथा मार्मिकता का सच्चा अनुभव है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इनकी प्रेम की व्यंजना संयम की पवित्र तथा वांछनीय मर्यादा का उल्लंघन करती चलती है। इनकी वेदना तथा अनुभूति अश्लीलता के अस्पृश्य तट को सदा बचाती चलती है। वह उस स्पृहणीय मार्ग से आगे बढ़ती है जिसके एक ओर स्वर्ग की सीमा है दूसरी ओर संस्कृत, शिष्ट मनुष्यता की। यदि कोई एक ओर भटक जाय तो स्वर्गीय हो जाय। दूसरी ओर भटकने से भी कोई मनुष्यता से नीचे नहीं गिर सकता, फिर भी स्वर्ग का दिव्य क्षितिज उसकी आँखों से ओझल न हो सकेगा। इनका प्रेम दृश्य लौकिक सौंदर्य पर कुछ देर टिक कर अलौकिक लावण्य की ओर उन्मुख हो जाता है। पहले इनके वासना-प्रधान प्रेम की व्यंजना देख ली जावे।

ये प्रेम के क्रमिक विकास पर विश्वास नहीं करते। इनके अनुसार सच्चा प्रेम प्रथम परिचय में ही उत्पन्न हो जाता है। प्रथम गुणों का परिचय प्राप्त कर, पारस्परिक कुल-शील का विवेचन कर, तोल-तोलकर प्रेम का व्यापार नहीं होता। न जाने हृदय की कौन-सी सूक्ष्म वृत्ति बुद्धि से सहायता बिना लिए ही, इस कार्य को स्वयं कर लेती है। वह किसी अपरिचित को भी—संभवतः जिसके दर्शन पहले-पहल हुए हैं—अपना समझ बैठती है :—

"मधु राका मुसुक्याती थी पहले देखा जब तुमको,
परिचित से जाने कबके तुम लगे उसी क्षण हमको।"

वे दिन ही न जाने कैसे होते हैं; किसको हृदय देना, किसको नहीं, यह सोचने-विचारने का समय ही किसके पास रहता है :—

"प्रथम यौवन मदिरा से मत्त प्रेम करने की थी परवाह
और किसको देना है हृदय, चीन्हने की न तनिक थी चाह।"

संसार में अनेक लोग हैं पर प्रेमी को अपना प्रिय सबसे अनोखा दिखाई पड़ता है। उसका जो हृदय में प्रभाव पड़ता है वह कुछ और ही होता है:—

"प्रतिमा में सजीवता सी बस गई सुछबि आँखों में।
थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में।"

अपने प्रियतम को पाकर प्रेमी निहाल हो जाता है, उसके सब अभाव दूर हो जाते हैं, उसे संसार में सर्वत्र सुख ही-सुख दिखाई पड़ने लगता है। वह दुःख के अस्तित्त्व को भी मानने को प्रस्तुत नहीं रहता:—

"मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये,
यह अलस जीवन सफल अब हो गया।
कौन कहता है जगत है दुःखमय,
यह सरस संसार सुख का सिंधु है।"

पर इस प्राप्ति में न तो सदा स्थायित्व रहता है न सब का ऐसा सौभाग्य होता है। प्रेम की सार्थकता वियोग में ही है। कवियों के संयोग के चित्रों में उतनी मार्मिकता नहीं आने पाती जितनी वियोग के—विप्रलंभ

के—चित्रों में। संसार के काव्यों में जितने प्रेमियों को स्थान मिला है वे सब प्रायः वियोगी ही थे। इसका कारण यही है कि मनुष्यों को प्रयत्न तथा प्राप्त्याशा में जितना आनंद मिलता है उतना वास्तविक प्राप्ति में नहीं। प्रसाद जी के ऐसे भी कुछ चित्रों को देख लिया जाय।

कभी-कभी तो प्रेमी यह जानते हुए भी कि उसे सफलता नहीं मिलेगी आत्मनियंत्रण नहीं कर पाता। ऐसे मार्ग पर अग्रसर होकर वह अपने प्रति निर्दयता करता है। वह प्रिय की करुणा पाने की आशा लगाए रहता है। क्या प्रेमी की दीनावस्था देखकर प्रिय कभी यह भी न कहेगा कि 'बेचारा बड़ा दुखी है'। इस सहानुभूति का भी महत्त्व है:—

"औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा इसका मुझको दुःख नहीं
जिसके तुम हो एक सहारा वही न भूला जाय कहीं।
निर्दय होकर अपने प्रति, अपने को तुमको सौंप दिया
प्रेम नहीं, करुणा करने को क्षणभर तुमने समय दिया।"

इस प्रकार अचानक मुग्ध हो जाने को प्रिय चाहे मूर्खता समझे पर प्रेमी ऐसा नहीं समझता। वह तो समझता है कि यदि प्रिय भी कहीं अपने को देख पावे तो वह भी मुग्ध हुए बिना न रह सकेगा:—

"देखकर जिसे एक ही बार, हो गये हम भी हैं अनुरक्त।
देख लो तुम भी यदि निज रूप, तुम्हीं हो जाओगे आसक्त।"

प्रेम की मादकता सारे दुःखों को सुख से मुसकराते हुए सह लेने की शक्ति देती है। अपने प्रिय चंद्र का हृदय में ध्यान करने से चकोर जलते हुए अंगारे भी चुग लेता है। सच्चे प्रेम में कुछ ऐसी सुधा है जो अमर बना देती है तथा मर-मर के जी उठने की शक्ति देती है:—

"रे चन्द्र हृदय में बैठा, उस शीतल किरण सहारे
सौंदर्य सुधा बलिहारी, चुगता चकोर अँगारे।"

जब दुखिया संसार में औरों को सुखी देखता है तो उसे अपना अभाव और भी खटकने लगता है :—

"मधुमालतियाँ सोती हैं, कोमल उपधान सहारे।
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर गिनता अंबर के तारे।"

उस प्रिय की मुट्ठी में कितना सुख बंदी रहता है। उसे पाने से संपूर्ण संसार सुखमय हो जाता है, उसे खोने से सर्वत्र दुख ही दुख दिखाई पड़ता है:—

"इतना सुख जो न समाया, अन्तरिक्ष में, जल-थल में
उनकी मुट्ठी में बन्दी था, आश्वासन के छल में।"

पर वे इतने निष्ठुर बने नहीं रह सकते, आहों का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ेगा। वेदना से जब आहें शिथिल हो चलेंगी तो वे अवश्य खिंच आवेंगे और उस व्यथा को देखकर स्वयं दुखी होंगे:—

"इस शिथिल आह से खिंचकर तुम आओगे, आओगे,
इस बढ़ी व्यथा को मेरी, रो रो कर अपनाओगे।"

व्यथा को अपनाने से पहले व्यथित पहले ही अपनाया जा चुकेगा। पर उनके न आने पर भी वेदना के ताप से चढ़ा हुआ रंग उतर नहीं सकता। आँसुओं की अनवरत रूप से प्रवाहित होनेवाली धारा से बह जाने के बदले वह और भी निखरता आता है:—

"अब छुटता नहीं छुड़ाये रँग गया हृदय है ऐसा।
आँसू से धुला निखरता यह रंग अनोखा ऐसा।"

इस मार्ग पर कुछ दूर अग्रसर होकर लौटने का विचार करनेवाले को कवि आश्वासन देता है—'घबड़ाओ मत, कुछ दूर और इस आह को सँभाले चलो, अब कितनी दूर है, बस, प्रलय तक ही न':—

"पड़ रहे पावन प्रेम फुहार, जलन कुछ कुछ है मीठी पीर।
सम्हाले चल कितनी है दूर, प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर॥"

इस मार्ग में जलन तो सदा बनी ही रहती है, चाहे आलंबन लौकिक हो चाहे लोकोत्तर। पर जो प्रेम ईश्वरोन्मुख होता है वह परम शांति-दायक होता है। उस जलन में भी एक कमनीय मिठास बनी रहती है। नीचे की पंक्तियों में प्रसाद जी उसी दिव्य प्रेम की ओर संकेत कर रहे हैं:—

"घने प्रेम-तरु-तले,
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले।

छाया है विश्राम की श्रद्धा-सरिता कूल,
सिंची आँसुओं से मृदुल है परागमय धूल।"

प्रसाद जी की भक्ति-भावना में क्रमशः विकास तथा परिवर्तन होता आया है। इनकी उपासना गोचर सगुण से क्रमशः अव्यक्त अगोचर की ओर बढ़ती गई। प्रारंभिक रचनाओं में राम, कृष्ण अवतारों के आधार पर भक्ति के उद्गार प्रकट किए गए है। पर उस समय भी विचारों में संकोच अथवा सांप्रदायिकता नहीं थी। राम, कृष्ण के साथ-साथ 'विश्व-गृहस्थ' की उपासना चलती रहती थी:—

"जिसके हैं आराम प्रकृति-कानन ही सारे।
जिस मन्दिर के दीप इन्दु, दिनकर औ तारे॥
उस मन्दिर के नाथ को, निरुपम निरमम स्वस्थ को।
नमस्कार मेरा सदा पूरे विश्व-गृहस्थ को॥"

पर उस समय इनका ईश्वर अव्यक्त अगोचर हो जाने पर भी सगुण ही रहता था:—

"जब प्रलय का हो समय, ज्वालामुखी निज मुख खोल दे,
सागर उमड़ता आ रहा हो, शक्ति-साहस बोल दे।
ग्रहगण सभी हों केंद्रच्युत लड़कर परस्पर भग्न हों,
उस समय भी हम हे प्रभो! तव पद्मपद में लग्न हों॥"

धीरे-धीरे इनकी भावना रहस्योन्मुख होने लगी। जो राम और कृष्ण रूप में जाना पहचाना था वह कुछ अनजान-सा हो चला:—

"माझी, साहस है खे लोगे?
अनजाने तटकी मदमाती
लहरें क्षितिज चूमतीं आतीं,
ये झिटके झेलोगे?"

पर इनका उपास्य रहस्यमय हो जाने पर भी केवल बुद्धि के व्यायाम की वस्तु नहीं हो पाता। वह अब भी प्रेम करने योग्य रहता है। भक्त अब भी उसके स्वरूप पर मुग्ध हो लेता है और प्रेम के सुंदर संबोधन 'छलिया' का अब भी प्रयोग कर लेता है:—

"भरा नैन में मन में रूप,
किसी छलिया का अमल अनूप।
जल-थल, मारुत व्योम में जो छाया है सब ओर;
खोज-खोज कर खो गई मैं, पागल-प्रेम विभोर॥"

आगे चलकर यह रहस्य-भावना अद्वैतवाद तक पहुँचती है। पर यह बुद्धि की शुष्क जिज्ञासा का फल नहीं है, हृदय की खोज का फल है:—

"हृदय तू खोजता किसको छिपा है कौन सा तुझमें।
मचलता है बता क्या दूँ छिपा तुझ से न कुछ मुझमें।
हृदय! तू है बना जलनिधि, लहरियाँ खेलतीं तुझमें।
मिला अब कौन सा नवरत्न, जो पहले न था तुझमें।"

एक अव्यक्त वेदना उनके हृदय में सदा कसका करती है, पर वह अकर्मण्य बना देनेवाली अथवा जीवन को नीरस कर देनेवाली नहीं है। वह ऐसी है जिसकी आँच में तप-तपकर शुद्ध होता हुआ साधक अपने अंतिम ध्येय की ओर अग्रसर होता रहता है। वह ज्वालामयी होने पर भी शांतिदायिनी है। वह मणिदीपके समान दिन-रात साधक के मार्ग में प्रकाश किया करती है। जीवन की विपत्तियों तथा कलुषित कामनाओं की आँधी उसे बुझा नहीं सकती:—

"मणिदीप विश्व-मन्दिर की, पहने किरणों की माला।
तुम एक अकेली तब भी, जलती हो मेरी ज्वाला।"

जीवन की नश्वरता का कैसा मार्मिक चित्र नीचे की पंक्तियों में अंकित किया गया है। यह नश्वरता तथा क्षणभंगुरता इतनी भयानक है कि कवि उसे सुनना भी नहीं चाहता:—

"मत कहो कि यही सफलता, कलियों के लघु जीवन की,
मकरन्द भरी खिल जाये, तोड़ी जायें वे मन की।"

इनका अप्रस्तुत-विधान भी बहुत कलापूर्ण हुआ है। जीवन के विस्तृत निरीक्षण तथा अनेक दृश्य विधायिनी कल्पना के योग से कवि को इस विषय में अच्छी सफलता मिली है। प्राचीन अप्रस्तुत भी इनकी प्रतिभा की खराद पर चढ़कर निखर आए है। अनेक अभिनव कल्पनाएँ भी

की गई हैं। कुछ नवीन अलंकारों का प्रयोग भी हुआ है। लाल लाल ओठों पर छिटकी हुई मुसकान के लिए कवि कैसा सुंदर तथा रमणीय दृश्य उपस्थित करता है:—

"विकसित सरसिज-वन वैभव, मधु-ऊषा के अंचल में,
उपहास करावे अपना जो हँसी देख ले पल में!"

उषाकाल की अरुणिमा के अंचल में कमलों की पंक्तियाँ कैसी मुसकाती हुई प्रतीत होती हैं। इस दृश्य के द्वारा प्रस्तुत के वर्ण तथा भाव दोनों के अनुरूप अप्रस्तुत विधान हुआ है। हँसी देखकर उपहास कराने के प्रयोग में शब्दों की प्रयौगिक वक्रता भी अपूर्व बन पड़ी है। आँखों में कवियों द्वारा काले, श्वेत तथा लाल रंगों का वर्णन किया जाता है। इसके लिए कैसा सुंदर अप्रस्तुत-विधान किया गया है। श्वेत वर्ण के लिए मदिरा के झागों की कल्पना की जा सकती है। नेत्रों को देखने से नशा चढ़ता है पर मदिरा को देखने से नशा चढ़ता नहीं सुना गया है। इस कमी को यदि कवि दूर कर सकता तो और भी सुंदर हुआ होता:—

"काली आँखों में कितनी, यौवन के मद की लाली,
मानिक-मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली।"

नीचे एक 'असंगति' दी जाती है। अलकें तो किसी की बिखरी हैं और उलझन में किसी अन्य बेचारे का जीवन पड़ा है। आँखों में तो मादकता किसी के है और नशा किसी दूसरे देखनेवाले को चढ़ा है:—

"मेरे जीवन की उलझन, बिखरीं थीं उनकी अलकें,
पी ली मधु मदिरा किसने थीं बन्द हमारी पलकें।"

संकोचपूर्ण स्मित के लिए नीचे की पंक्तियों में कैसा व्यंजनापूर्ण अप्रस्तुत-विधान किया गया है:—

अधरों के मधुर कगारों में, कल कल ध्वनि की गुंजारों में,
मधु सरिता सी यह हँसी तरल अपनी पीते रहते हो क्यों?"

पुराने उपमानों के आधार पर स्थित एक स्वरूप-विधान भी देखिए:—

"बाँधा विधु को किसने, इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भर हुआ हीरों से?"

शब्दों का प्रयोग भी काव्योचित वक्रतापूर्ण लाक्षणिकता से किया गया है। पर यह लाक्षणिकता कभी ऐसे ढंग से आई है जो हमारी भाषा में एकदम नई होने से कुछ लोगों को अनुचित प्रतित होती है। व्याथाओं का सोना तथा जगना उतना नया नहीं लगता जितना अभिलाषाओं का करवट बदलना तथा अँगड़ाई लेना :—

"अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना।"

पर ऐसा अधिक स्थानों पर नहीं हुआ है। उनींदी या अलस उषा अथवा उर्मिल निर्मलता इत्यादि प्रयोग बहुत सुंदर हुए हैं। अत्यंत सुंदर व्यक्ति को देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह निरी सुघराई का गढ़ा हुआ हो अथवा साक्षात् सौंदर्य ही हो। ऐसी ही भावना करनेवाली हृदय की वृत्ति की सहायता से लिखा गया है:—

"हे लाज भरे सौंदर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों?"

बौद्धों की दार्शनिकता से प्रसाद जी बहुत प्रभावित हैं। वास्तव में बुद्ध के चरित्र पर ये मुग्ध हैं। इनके अनेक नाटकों में बौद्धकालीन भारत के चित्र अंकित किए गए हैं। सारनाथ की मूलगंधकुटी विहार के प्राण प्रतिष्ठा-महोत्सव पर 'वरुणा की शांत कछार' नामक बड़ी भावपूर्ण रचना की थी। उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिए:—

"अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!
छोड़कर पार्थिव भोग विभूति, प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार।
पिता का वक्ष भरा-वात्सल्य, पुत्र का शैशव-सुलभ दुलार॥
दुःख का करके सत्य निदान; प्राणियों का करने उद्धार।
सुनाने आरण्यक संवाद, 'तथागत' आया तेरे द्वार॥"

मानव सृष्टि के लिए करुणा की अत्यंत आवश्यकता समझते हैं। अनेक रचनाओं का विषय यही करुणा है।

"करुणा-कादम्बिनी बरसे—
दुख से जली हुई यह धरणी प्रमुदित हो सरसे।

प्रेम-प्रचार रहे जगतीतल दयादान दरसे ।
मिटे कलह शुभ शांति प्रकट हो अचर और चर से ।"

देश के प्रति भी इनके हृदय में अनुराग है जिसके दर्शन अनेक स्थलों पर होते हैं। अनेक गेय पद्य देश को प्रशंसा में बनाए हैं। कुछ, पंक्तियाँ देखिए:—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।"

श्रीसूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'—ये मस्तिष्क से अद्वैतवादी हैं पर हृदय से भक्ति तथा प्रेमवादी। इनकी अनेक रचनाओं पर दार्शनिकता की छाप स्पष्ट है। 'जागरण', 'मैं और तुम', 'कण' आदि अनेक रचनाएँ तो सूक्ष्म दार्शनिक विचारों ही से ओतप्रोत हैं। और भी अनेक रचनाओं में कवि दार्शनिक विचारों की ओर उन्मुख होने लगता है। 'पंचवटी-प्रसंग', जागो फिर एक बार, आदि रचनाओं में ऐसा ही हुआ है। पंचवटी-प्रसंग में 'प्रलय' की व्याख्या करते समय रामचंद्र जी ने ब्रह्म-जीव का जो विवेचन किया है उसे हम निराला जी के दार्शनिक सिद्धांतों का सार मान सकते हैं। ये ही विचार 'जागो फिर एक बार" नामक रचना में इन शब्दों में आए हैं:—

"पर, क्या है,
सब माया है—माया है,
मुक्त हो सदा ही तुम,
बाधा-विहीन-बंध छंद ज्यों,
डूबे आनंद में सच्चिदानंद-रूप।
महामन्त्र ऋषियों का
अणुओं-परमाणुओं में फूंका हुआ—
"तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्',
है नश्वर यह दीन भाव,

कायरता, कामपरता,
ब्रह्म हो तुम,"

सिद्धांत-रूप में इन दार्शनिक सिद्धांतों को मानते हुए भी इनके हृदय को इनसे संतोष नहीं होता। ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है। जीव भी ब्रह्म होकर आनन्द-स्वरूप हो जायगा। पर क्या उस अवस्था में वह उस आनन्द का अनुभव स्वयं कर सकेगा? यदि नहीं, तो आनन्द-स्वरूप होने से क्या लाभ हुआ। सुरभित गुलाब के पुष्प की कमनीयता, सुकुमारता तथा सौरभ की सफलता गुणग्राही के द्वारा उपभुक्त होने में है। गुलाब ही बन जाने में क्या सार्थकता? इसी से निराला जी उपासक ही बने रहना चाहते हैं। इन्हीं विचारों को लक्ष्मण ने पञ्चवटी प्रसंग में यों व्यक्त किया है:

"बहता हूँ माता के चरणामृत-सागर में,
मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे, काफी है।
सुधाधर की कला में अंशु यदि बनकर रहूँ
तो अधिक आनन्द है
अथवा यदि होकर चकोर कुसुम नैशगन्ध
पीता रहूँ सुधा इन्दु-सिन्धु से बरसती हुई
तो सुख मुझे अधिक होगा।
इसमें सन्देह नहीं,
आनन्द बन जाना हेय है,
श्रेयस्कर आनन्द पाना है"

ये ही अंतिम दोनों पंक्तियाँ निराला जी की भक्ति का आधार हैं। अतः निराला जी सोऽहम् की रट नहीं लगाए रहते। ये करुणानिधान, भक्तवत्सल भगवान पर भरोसा किए रहते हैं:—

"भर देते हो
बार बार प्रिय, करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।
मेरे अंतर में आते हो देव निरन्तर,

कर जाते हो व्यथा भार लघु
बार बार करकंज बढ़ा कर"

विपत्ति में पड़कर और भक्तों की भाँति निराला जी भी करुण-स्वर में अपने भगवान को पुकारते हैं:—

"डोलती नाव, प्रखर है धार,
सँभालो जीवन-खेवनहार !"

उन्हें पूर्ण विश्वास है कि एक दिन उस प्रिय के अंचल में भक्त की सारी वेदना, विकलता तथा पीड़ा शांत हो जायँगी:—

"एक दिन थम जायगा रोदन
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में,"

अद्वैतावाद पर पूर्ण आस्था रखने के कारण तथा भक्तोचित भावुकता में मग्न रहने के कारण अस्पष्ट रहस्यवाद इनकी कृतियों में टिकने नहीं पाता। इनके मस्तिष्क के पास पहुँच कर वह सोऽहम् से मिलती हुई भावना से परिवर्तित हो जाता है तथा हृदय में पहुँचते ही प्रेम की सुकुमारता में, जो एक ओर परोक्ष प्रिय पर अवलंबित है दूसरी ओर उसी के व्यक्त गोचर स्वरूपों पर। परोक्ष प्रिय का मधुर आकर्षण सोऽहम् को शुष्क भावना को टिकने नहीं देता, भक्त हृदय की भावुकता में परिणत कर देता है। संसार के दुःखी भाइयों की करुण पुकार इनके हृदय की करुणावृत्ति को उच्छ्वसित किए बिना नहीं रहती। ब्रह्मवादी तो करुणावृत्ति को भी माया ही न समझते हैं। यदि यह माया है तो कवि इसी में फँसे रहने ही में आनन्द मानता है:—

"मैंने" "मै" शैली अपनाई,
देखा दुखी एक निज भाई
दुःख की छाया पड़ी हृदय में मेरे
झट उमड़ वेदना आई;
उसके निकट गया मै धाय,
लगाया उसे गले से हाय !
फँस माया में हूँ निरुपाय,
कहो, फिर कैसे, गति रुक जाय !"

नीचे की पंक्तियों में रहस्योन्मुख-भावना कैसे भक्ति-भावना में लीन हो गई है :—

"फिर किधर को हम बहेंगे, तुम किधर होगे,
कौन जाने फिर सहारा तुम किसे दोगे?
हम अगर बहते मिले,
क्या कहोगे भी कि हाँ, पहचानते?
या अपरिचित खोल, प्रिय चितवन
मगन बह जावगे पल में
परम-प्रिय-सँग अतल जल में?"

ऊपर कवि के हृदय की करुणा का उल्लेख हुआ है। यह करुणा अपनी संजीवनी-शक्ति का विस्तार मनुष्य-समाज ही तक नहीं करती है। इसका विस्तार मनुष्य-समाज की परिधि के बाहर पत्रों, पुष्पों तक है। सुंदर-से-सुंदर पुष्पों को माली कुछ फूटी कौड़ियों के लिए तोड़ लेता है। उस निठुर माली के प्रति क्षोभ तथा उस सुकुमार पुष्प के लिए सहानुभूति इन पंक्तियों में प्रकट की गई है :—

"तुम्हारा इतना हृदय उदार
व, क्या समझेगा माली निष्ठुर निरा गँवार-
स्वार्थ का मारा यहाँ भटकता—
फूटी कौड़ी पर विनोदमय जीवन सदा पटकता-
तोड़ लिया लचकाई ज्यों ही डाली,
पत्थर से भी कठिन कलेजे का है
चला गया जो वह हत्यारा माली।"

इसी प्रकार कवि के हृदय की सहानुभूति अपनी आत्मीयता का विस्तार मार्ग में उपेक्षित पड़े हुए फूल तक करती है :—

ढके हृदय में स्वार्थ लगाए ऊपर चन्दन,
करते समय नदीश नंदिनी का अभिनंदन,
तुम्हें चढ़ाया कभी किसी ने था देवी पर,
दिन भर मे जब मुरझाए;

रूप-सुवास-रंग चरणों पर यद्यपि अर्पित कर पाए
किंतु देख कर तुम्हें जरा से जर्जर,
फेंक दिया पृथ्वी पर तुमको
रक्खे हुए हृदय में अपने उस निर्दय ने पत्थर"

ऐसी उक्तियों में पुष्प इत्यादि को अप्रस्तुत ही समझकर केवल अन्योक्ति मानना उचित नहीं। अन्योक्ति की सहायता से तोड़े हुए पुष्पों आदि के प्रतीक के द्वारा उपेक्षित, तिरस्कृत मनुष्यों के प्रति सहानुभूति प्रकट की जाती है। पर यहाँ पर कवि के हृदय का विस्तार इतना है कि वह पुष्प, लता आदि के साथ भी रागात्मक संबंध स्थापित करता है, अतः उसके लिए ये सब प्रस्तुत ही हैं। पाठक अपनी रुचि के अनुसार इन्हें अप्रस्तुत मान कर अन्योक्ति मान सकते हैं, पर कवि की दृष्टि से यह संकुचित विचार होगा।

निराला जी निराशावादी नहीं हैं, पर ऐसे आशावादी भी नहीं हैं कि दुःखों के अस्तित्व की उपेक्षा करें। सुख-दुःख का द्वंद्व संसार की विशेषता है। हमारी संपूर्ण वासनाओं की तृप्ति यहाँ नहीं होती। ऐसी अवस्था में हम एक लोकोत्तर लोक की कल्पना कर लेते हैं, जहाँ जगत में अपूर्ण रूप से प्राप्त होनेवाले दुःखों, अभावों इत्यादि का अस्तित्व ही न होगा। उस कल्पित लोक में हम अपनी संपूर्ण इच्छाओं की पूर्णता की आशा करते हैं। निराला जी ने भी उस लोक की लालसा प्रकट की है:—

"हमें जाना है जग के पार—
जहाँ नयनों से नयन मिले
ज्योति के रूप सहस्र खिले,
सदा ही बहती नव-रस धार
वहीं जाना, इस जग के पार"

इनकी रचनाओं का प्रेम भी एक विषय है। पर वह प्रेम अत्यंत पावन है, क्षुद्र वासनाओं के ऊपर उठा हुआ है:—

"प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निःसीम भू पर।

प्रेम की महोर्मि माला तोड़ देती क्षुद्र ठाट,
जिससे संसारियों के सारे क्षुद्र मनोवेग,
तृण सम बह जाते हैं:—'

प्रेम की इस पावन धारा में सर्वसाधारण स्नान करने का साहस ही कहाँ कर सकते हैं:—

"दिव्य देह-धारी ही कूदते हैं इसमें प्रिये
पाते हैं प्रेमामृत
पीकर अमर होते हैं।"

इस प्रेम की परम सार्थकता आश्रय तथा आलंबन के एकीकरण में है। पर यह एकीकरण 'प्रलय' वाला न हो। दोनों, आश्रय तथा आलंबन, अपने-अपने अस्तित्व का अलग अनुभव करते हुए भी एक रागात्मक सूत्र में गुँथ जायँ। यह प्रेम की, भक्ति की, चरम सीमा है; ज्ञान की नहीं। ज्ञान में तो 'उभय' का नाम ही नहीं रहता। निराला जी वैसा एकीकरण नहीं चाहते। उनकी कामना है:—

"एक अनुभव बहता रहे उभय आत्माओं में।"

प्रेम की इस साधना के लिए न जाने कितने कष्ट झेलने पड़ते हैं। हरिश्चंद्र जी के 'पगन में छाले परे नाघिवे को नाले परे' वाले कष्टों से कम कष्ट निराला जी के प्रेमी को भी नहीं झेलने पड़ते:—

"बिछे हुए थे काँटे उन गलियों में
जिनसे मैं चलकर आई,—
पैरों में छिद जाते जब
आह मार मैं तुम्हें याद करती तब
राह प्रीति की अपनी—वही कंटकाकीर्ण,
अब मैंने तै कर पाई।"

पर इतने ही से क्या? राह तै कर लेने पर भी प्रिय यों ही मिल जायँगे? वहाँ तो द्वार बंद है। वह वंचिता फिर करुण-स्वर से पुकार रही है:—

"बंद तुम्हारा द्वार!
मेरे सुहाग-शृंगार!

द्वार यह खोलो—!
सुनी भी मेरी करुण-पुकार ?
जरा कुछ बोलो !
कुसुमित कुंज-द्रुमों से सुरभित साज
संचित कर लाई, पर कब से वंचित।"

'जलद के प्रति', 'जागो फिर एक बार', महाराज शिवाजी का पत्र' इत्यादि अनेक रचनाओं में देशभक्ति का भाव भी मिलता है। इस विषय की अनेक रचनाएँ अत्यंत ओजपूर्ण तथा उत्साहवर्द्धक हुई हैं। 'जागो फिर एक बार' से कुछ पंक्तियाँ:—

"जागो फिर एक बार।
समर में अमर कर प्राण,
गान गाए महासिंधु-से
सिंधु-नद तीरवासी!—
सैंधव तुरंगों पर
चतुरंग चमूसंग,
"सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्द सिंह निज
नाम जब कहाऊँगा"
किसने सुनाया यह
वीर-जन मोहन अति
दुर्जय संग्राम-राग,"

आप में चित्र अंकित करने की पूरी क्षमता है। जो काम कुशल चित्रकार अपनी तूलिका से करता है वही निराला जी शब्दों से कर लेते हैं। नीचे की पंक्तियों में एक भिक्षुक का करुणापूर्ण चित्र देखिए:—

'वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,

मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।"

नीचे की पंक्तियों में संध्या-सुंदरी का स्वरूप देख लीजिए:—

"दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या-सुंदरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिराञ्चल में चचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर,—"

सायंकाल की नीरवता का वर्णन इन पंक्तियों में कैसा सुंदर हुआ है:—

"सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप चुप चुप"
है गूँज रहा सब कहीं—
व्योम मण्डल में—जगतीतल में—
सोती शान्त सरोवर पर उस अमल कमलिनी-दल में—"

अपनी रचनाओं में आए हुए पात्रों के चरित्र भी बड़े कौशल से चित्रित किए हैं। नीचे की पंक्तियों में लक्ष्मण के शील संकोच का कैसा सुंदर वर्णन हुआ है:—

"सीता— कितना सुबोध है!
आज्ञा पालन के सिवा कुछ भी नहीं जानता,
आता है सामने तो झुका सिर
दृष्टि चरणों की ओर रखता है,
कहता है बालक इव क्या है आदेश माता।"

धनुषयज्ञ-प्रसंग में जो लक्ष्मण उतने उग्र थे वे यहाँ कैसे भोले हो गए हैं। ऊपर ही से नहीं, उनके हृदय में भी देखिए कैसा भोलापन है:—

"माँ की प्रीति के लिये ही चुनता हूँ सुमन-दल
इसके सिवा कुछ भी नहीं जानता—
जानने की इच्छा भी नहीं है कुछ।"

निराला जी की भावव्यंजना बहुत ही गंभीर तथा मार्मिक हुई है। इनकी भावोद्रेक करने की शैली अत्यंत वक्रतापूर्ण है। 'यमुना के प्रति' नामक रचना की निम्नलिखित पंक्तियाँ कृष्ण के समय का कैसा मार्मिक चित्र अंकित करती हैं :—

"बता, कहाँ अब वह वंशीवट ?
कहाँ गये नटनागर श्याम ?
चल चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दाधाम ?
कभी यहाँ देखे थे जिनके
श्याम-विरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछती वे दृगनीर ?
कहाँ छलकते अब वैसे ही
ब्रज नागरियों के गागर ?"

नीचे की पंक्तियों में किसी वियोगिनी के कैसे करुण-उद्गार हैं। वह देखती है कि अनेक प्रेमियों को अपने प्रिय की प्राप्ति हो गई। पर वह बेचारी अभी तक वियोगिनी बनी है। आकार-प्रकार से तो 'वे' कुसुम से कोमल हैं। पर अपने दर्शन न देकर बड़ी कठोरता कर रहे हैं। तब क्या वे पत्थर से कठोर हैं ? होंगे। अपने प्रिय को कौन ऐसा कहे ? यही कठोरता—"कौन हैं ?" के द्वारा कितनी मार्मिकता तथा वक्रता से कही गई है :—

"आह ! कितने विकल-जन-मन मिल चुके;
हिल चुके, कितने हृदय हैं खिल चुके।
तप चुके वे प्रिय-व्यथा की आँच में
दुःख उन अनुरागियों के झिल चुके।

क्यों हमारे ही लिए वे मौन हैं।
पथिक, वे कोमल कुसुम हैं—कौन हैं ?"

इस प्रकार की वक्रतापूर्ण व्यंजना कवि के स्वभाव की एक विशेषता है। कभी-कभी इस व्यंजना की स्थापना कुछ प्रश्नवाचक वाक्यों की योजना से की गई है। इन प्रश्नों में जिज्ञासा नहीं रहती; केवल एक व्यंजना रहती है। 'महाराज शिवाजी का पत्र' नामक रचना जयसिंह को संबोधन करके लिखी गई है। वह मुगलों के लिए दक्षिण के प्रांतों को जीतने गया था। शिवाजी उससे कहना चाहते हैं कि 'मुसलमान तुम्हें भी काफिर समझते होंगे और तुम भी उनके निकट एक गुलाम से अधिक नहीं हो।' यही बात नीचे की पंक्तियों में प्रश्न-रूप में कैसी सुंदरता से कही गई है। प्रश्न की योजना से कथन की तीक्ष्णता भी बढ़ गई है:—

"करते अभिमान भी किन पर ?
विदेशियों - विधर्मियों पर ?
काफ़िर तो कहते न होंगे कभी तुम्हें वे ?
विजित भी न होंगे तुम औ गुलाम भी नहीं ?"

अलंकार-योजना, भावव्यंजना की आवश्यकता को ध्यान में रखकर की गई है। अनावश्यक आलंकारिक योजना के पक्ष में ये नहीं हैं। पुराने कवियों के द्वारा प्रयुक्त अप्रस्तुत भी आए हैं और नई कल्पनाएँ भी की गई हैं। निराला जी ने उन्हीं पुराने उपमानों को अपनाया है जो प्रकृति-निरीक्षण तथा वास्तविकता के अनुकूल पड़ते हैं। 'नयन' की नीचे की पंक्तियों में नेत्रों के पुराने उपमान कितनी सुंदरता से आए हैं। कवि ने इस पुरानी कल्पना में अपनी ओर से कितना योग दिया है। संदेहालंकार की योजना भी अत्यंत सार्थक हुई है। कवि अपने उपमान को पाठकों के सिर मढ़ नहीं देता। वह यही कहता है 'हमें कुछ ऐसा प्रतीत होता है', 'शायद ऐसा हो':—

'मदभरे ये नलिन-नयन मलीन हैं।
अल्प-जल में या विकल लघु मीन हैं ?',

'विधवा' नामक रचना की इन पंक्तियों में कैसी सुंदर आलंकारिक योजना की गई है। प्रत्येक उपमान कितनी सार्थकता से प्रयुक्त हुआ है। कराल काल ने तांडव करते समय उस बेचारी विधवा के जीवन-धन के जीवन-दीप को बुझा दिया। उस तांडव की एक कठोर रेखा रह गई है। वहीं यह विधवा है :—

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।"

विशेषण विपर्यय अलंकार का भी अच्छा प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण:—

"चल चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृंदा धाम ?"

वास्तव में तो उस पनघट पर स्नान करनेवाली गोपियाँ किसी के लिए व्याकुल थीं। वह घाट व्याकुल नहीं था। यही विपर्यय किया गया है। ऐसे विपर्यय किसी भावना के आधिक्य की व्यंजना करने को प्रयुक्त होते हैं।

निर्जीव पदार्थों के साथ कुछ ऐसे विशेषणों की योजना कर जो सजीव के साथ आते हैं एक विशेष चमत्कार की योजना की गई है। जैसे यहाँ पर निद्रित विशेषण:—

"आज निद्रित अतीत में बंद
ताल वह, गति वह, लय वह छंद"

नीचे की पंक्तियों में अगोचर 'विनोद' का कैसा गोचर विधान किया गया है। जिन भावनाओं की अनुभूति अधिक गंभीर तथा प्रभाव डालनेवाली होती है हम अपने हृदय में उनके गोचर रूप की प्रतिष्ठा कर लेते हैं:—

"किस विनोद की तृषित गोद से
आज पोंछतीं वे दृग-नीर ?"

आपने छंदों के प्रयोग में स्वतन्त्रता से काम लिया है। खड़ी बोली में काव्य-रचना प्रारंभ होने के समय से उपयुक्त छंदों के चुनाव का कठिन तथा आवश्यक प्रश्न कवियों के सामने था। आपने अपने ढंग से इस प्रश्न को हल किया है। इसमें आपको अच्छी सफलता मिली है। भिन्न तुकांत का प्रारंभ तो आपसे पहले हो चुका था। स्वच्छंद छंद का प्रयोग आपने ही प्रारंभ किया है। आपके स्वच्छंद छंदों के दो मुख्य भेद हैं। एक में तुक के नियम का पालन किया गया है। एक में तुक का पालन भी नहीं है, और ऊपर नीचे की पंक्तियों में मात्राएँ भी समान नहीं हैं। प्रत्येक पंक्ति अपने ही में पूर्ण है और भावों की आवश्यकतानुसार अल्पकायिक अथवा विस्तृत है। पर एक दृष्टि से प्रत्येक पंक्ति दूसरी की आश्रित भी है। छंद में एक मधुर लय तथा ध्वनि का ध्यान रखा गया है जिसके अनुशासन का पालन सब पंक्तियों को करना पड़ता है। संगीत की धारा को अक्षुण्ण बनाए रखने में प्रत्येक पंक्ति को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रखना पड़ता है। यह बात नीचे की पंक्तियों में देखी जा सकती है :—

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी स्नेह-स्वप्न-मग्न-
अमल-कोमल-तनु तरुणी-जुही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल पत्रांक में,
वासन्ती निसा थी,"

शब्दों के प्रयोग के विषय में आप उदार व्यवहारिकतावादी हैं। सौंदर्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिए संस्कृत की कोमल-कान्त-पदावली को अपनाते हुए भी व्यवहार में आए हुए अरबी, फारसी के शब्दों के बहिष्कार के पक्षपाती नहीं हैं। प्रारंभ में आपको बड़े विरोध का सामाना करना पड़ा था। पर आपकी प्रतिभा ने साहित्य में आपके लिए महत्त्व का स्थान बना दिया है। युवकों पर आपका पर्याप्त प्रभाव है। आधुनिक नवीन साहित्यिक विचार-धाराओं तथा भाव-धाराओं के निर्माण में आपका कितने महत्त्व का स्थान है इसका निर्णय भविष्य करेगा।

श्री सुमित्रानंदन पंत—मधुर गुंजन करनेवाले इस सुकुमार कवि को हम एक बार मधुप-कुमारी से कुछ ऐसी प्रार्थना करते हुए पाते हैं:—

"सिखा दो ना, हे मधुप-कुमारि !
मुझे भी अपने मीठे-गान ,
कुसुम के चुने-कटोरों से
करा दो ना, कुछ-कुछ मधुपान ?"

कवि की यह प्रार्थना व्यर्थ नहीं जाती। प्रकृति ही उसे काव्य की सुंदर विभूतियों से विभूषित करती है। वह अपने विषय खोजने पुस्तकों में नहीं जाता। सुरम्य प्रकृति के आकर्षणों से अपने हृदय का रागात्मक संबंध स्थापित कर विषयों की विभूति पाता है। भोली कलियाँ तथा गुंजन करनेवाले भौंरे ही उसे काव्य का वास्तविक संदेश दे देते हैं:—

"आज शिशु के कवि को अनजान
मिल गया अपना गान !
खोल कलियों ने उर के द्वार
दे दिया उसको छवि का देश ;
बजा भौंरों ने मधु के तार
कह दिए भेद भरे संदेश ;"

फिर तो पक्षियों के समान वह कलरव करने लगता है, उन्हीं में मिल जाता है। उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि इन पक्षियों को भी उसी ने गान सिखाया हो :—

"विजन-वन में तुमने सुकुमारि ,
कहाँ पाया यह मेरा गान ?
मुझे लौटा दो, विहग-कुमारि
सजल मेरा सोने का गान।"

इनके विषयों में से एक विषय प्रेम है। इसकी व्यंजना, सच्ची अनुभूति तथा उर्वर कल्पना के सुंदर सम्मिश्रण से हुई है। उधार ली हुई अनुभूति पर प्रेम की व्यंजना करनेवाले कवियों में उतनी सरसता नहीं आ पाती। हरिश्चंद्र आदि अनेक कवियों की रचनाओं में हमें उनके हृदय के स्पंदन

तथा कसक का आभास मिलता है। रूढ़ि का पालन करनेवाली रचनाओं में वह बात नहीं आ पाती। कल्पना अद्भुत दृश्यों का विधान कर सकती है। हृदय पर प्रभाव डालने के लिए किसी और ही बात की आवश्यकता होती है। पंत जी की प्रेम की अनुभूति सच्ची है। फलस्वरूप इनकी रचनाओं में प्रभविष्णुता तथा सत्यता है। प्रेमवृत्ति की परिधि के अंतर्गत आनेवाली जितनी सुकुमार भावनाओं की व्यंजना 'ग्रंथि' से छोटे ग्रंथ में हुई है उतनी कम स्थानों पर मिल सकती है। यह एक ही पुस्तक कवि को हिंदी-साहित्य में अमरत्व प्रदान करने में पर्याप्त समर्थ है।

नेह का व्यापार, न चलाने से चलता है, न रोकने से रुकता है। प्रेम, बिना प्रयास यों ही हो लेता है और अचानक चला जाता है:—

"किए भी हुआ कहाँ संयोग ? टला टाले कब इनका वास ?
स्वयं ही तो आया यह पास, गया भी, बिना प्रयास।"

प्रेमवृत्ति की कुछ अनोखी प्रणालियाँ देखिए। नेत्रों से सीधे देखने के बदले में इसे कनखिओं से देखना अधिक रुचता है। प्रिय जितना ही दूर होता जाता है उतना ही यह बढ़ता है। इसमें जातपाँत का भी उतना विचार कहाँ हो पाता है ? 'पानी पी घर पूछिबो' की कहावत यहाँ ही चरितार्थ होती है। दुष्यंत को भी शकुंतला की जाति पूछने की सुध तब आई थी जब वह इस मार्ग पर इतनी दूर बढ़ गया था कि लौटना असंभव था:—

'यह अनोखी-रीति है क्या प्रेम की, जो अपांगों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है, तथा वारि पीकर पूछता है घर सदा ?'

पर इसमें स्थिरता कहाँ रहती है ? अनेकों के भाग्य में वेदना से विकल होना ही लिखा रहता है:—

"और, भोले प्रेम ! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल-हाथों से ? जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है।"

पर यहाँ एक बार हृदय लेकर फिर लौटाया नहीं जाता। कोई

लौटाना चाहता भी है तो कहाँ लौट पाता है ? इस बात को कैसे भोले ढंग से कवि कह रहा है:—

"पाणि ! कोमल-पाणि ! निज बन्धूक की
मृदु हथेली में सरल मेरा हृदय
भूल से यदि ले लिया था, तो मुझे
क्यों न वह लौटा दिया तुमने पुनः ?"

वियोग की, विकलता की, कैसी सजीव व्यंजना इन पंक्तियों में हुई है:—

"पर, हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन-विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न-भावी को डुबा दे आँख-सी ।"

अपनी विकलता में वियोगी को सर्वत्र दुःख-ही-दुख दिखाई पड़ता है । देखिए:—

"कौन दोषी है ? यही तो न्याय है !
वह मधुप बिंधकर तड़पता है, उधर
दग्ध-चातक तरसा है—विश्व का
नियम है यह; रो, अभागे हृदय ! रो !!"

वियोगजन्य विकलता का कवि पर इतना प्रभाव पड़ता है कि वह यह मानने लगता है कि सर्व-प्रथम कविता किसी वियोगी के गान-रूप में ही प्रस्फुटित हुई होगी । यह बात सत्य भी है । क्रौंचमिथुन के वियोग को देखकर ही आदि कवि के कंठ से काव्य-धारा उमड़ पड़ी थी । वह कवि स्वयं वियोगी नहीं था पर उसके सुकुमार हृदय में इतनी पर-दुख-कातरता थी कि वह उस पक्षी के दुख से उतना प्रभावित हुआ । पंत जी का प्रथम कवि स्वयं वियोगी रहा होगा । इस कल्पना में भी सार्थकता है । इस विशेष अवस्था में मनुष्यों का हृदय सुकुमार वृत्तियों से पूर्ण हो जाता है । दुखी को दूसरों के दुःख समझने की भी शक्ति प्राप्त होती है । सहानुभूति की पावन भावना का विस्तार होने लगता है:—

"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान ;
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान !"

विरह का एक सुंदर चित्र और देखकर पाठक आगे बढ़ें:—

"शून्य-जीवन के अकेले-पृष्ठ पर
विरह !—अहह कराहते इस शब्द को
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोंक से
निष्ठुर-विधि ने अश्रुओं से है लिखा !"

आधुनिक रचनाओं में व्यापक-रूप से प्राप्त होनेवाले दुखवाद का इनकी रचनाओं पर कैसा प्रभाव पड़ा है इसका भी विचार कर लेना चाहिए। इनकी शोक की व्यंजनाओं का विश्लेषण कर हम तीन विभाग कर सकते हैं। प्रेमवृत्ति के अंतर्गत आनेवाले शोक के उद्गारों को हम रति-भाव के अनुकूल ही मानेंगे। 'ग्रंथि' में प्रकट किए गए शोक के उद्गारों को साधारण सिद्धांत-कथनरूप में नहीं लिया जा सकता। कुछ उद्गार वैराग्य प्रेरित हैं। इन्हें हम शांत रस के अंतर्गत मान सकते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त शोक के उद्गारों को दुःखवाद के अंतर्गत लिया जा सकता है। पंत जी की वाणी नैराश्य से आशा की ओर बढ़ रही है। 'पल्लव' की निराशा ने 'गुंजन' में आकर एक परिवर्तित रूप धारण किया। इन पंक्तियों में कैसी निराशा प्रकट की गई है:—

"हाय री दुर्बल भ्रान्ति !—
कहाँ नश्वर-जगती में शान्ति ?
सृष्टि ही का तात्पर्य अशान्ति !
जगत अविरत जीवन-संग्राम,
स्वप्न है यहाँ विराम !"

पर ऐसे उद्गार प्रायः प्रेमजगत् के अंतर्गत आनेवाली वियोग-जन्य विकलता के फलस्वरूप है। साधारण सिद्धांत रूप में संसार में सुख तथा दुःख का द्वन्द्व स्वीकार किया गया है:—

"रुदन, क्रीड़न, आलिंगन
भरण, सेवन, आराधन

शशि की-सी ये कलित कलाएँ किलक रही हैं पुर पुर में।"

आगे चलकर विचारों में और सूक्ष्मता आती है। कवि ईश्वर की सृष्टि को वह जैसी है उसी रूप में उसे अच्छा समझने लगता है। अत्यन्त सुख भी अच्छा नहीं। जीवन का आनन्द सुख तथा दुःख के मिले रहने ही में है:—

"जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव जग में बँट जावें
दुख सुख से औ सुख दुख से।"

तथा

"मैं नहीं चाहता चिर-सुख
चाहता नहीं अविरत दुख,
सुख दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख"

कवि जीवन की सच्ची दार्शनिकता तक पहुँचता है। किसी अभिप्रेत प्रिय वस्तु की प्राप्ति में तभी आनन्द मिलता है जब साधक उसकी प्राप्ति के लिए कुछ दिन प्रयत्न कर लेता है। बिना प्रयत्न के प्राप्त हुई सिद्धि में उतना आनन्द नहीं। प्रयत्न से प्राप्ति की मिठास बढ़ जाती है। वास्तविक जीवन साधना ही में है, साध्य की प्राप्ति में नहीं। प्रयत्न तथा प्राप्त्याशा में जो आकर्षक लालसा तथा माधुर्य है वह प्राप्ति में नहीं:—

"तरसते हैं हम आठो याम
इसी से सुख अति-सरस, प्रकाम;
झेलते निशि-दिन का संग्राम,
इसी से जय अभिराम;
अलभ है इष्ट, अतः अनमोल,
साधना ही जीवन का मोल।"

इन्हीं भावों को निम्नलिखित पंक्तियों में और भी सूक्ष्मता से प्रकट किया है। "जानै ऊख मिठास को जो मुख नीव चबाय" वाली उक्ति

प्रसिद्ध है। उसमें निहित सिद्धांत की सूक्ष्मता का भी सहृदयों ने अनुभव किया होगा। दिन रात सुख की सुकुमार क्रोड़ में पला व्यक्ति उस सुख के वास्तविक महत्त्व को कहाँ समझ पाता है? भूख से व्याकुल दीन-हीन मनुष्य को सूखी रोटी भी मीठी लगती है। पर अमीरों को सुंदर पदार्थों में भी आनंद नहीं आता। एक बात और, सुंदर वृत्तियों के व्यायाम के लिए भी संसार में असुंदरता का अस्तित्त्व आवश्यक है। दया और क्षमा ऐसी सात्विक वृत्तियों का अस्तित्त्व दीन और अपराधियों के अस्तित्त्व पर निर्भर है। यदि जगत् में अपराधी न रहेंगे तो क्षमा करके क्षमाशील कहलाने की आकांक्षा की पूर्त्ति कहाँ हो पावेगी? अतः संसार में बुराइयों का अस्तित्त्व भी उस करुणासिंधु जगदीश की सुंदर सूझ का फल है:—

"बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार;
दीन दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया क्षमा औ' प्यार।"

इस रहस्य का अनुभव कर कवि, आशा तथा स्फूर्ति की ओर बढ़ता है। फिर वह कहीं निर्जन में जाकर रोने का उपदेश नहीं देता। ऐसे आशामय उद्गार उसके हृदय से निकलते हैं:—

"हँसमुख प्रसून सिखलाते
पल भर है, जो हँस पाओ,
अपने उर की सौरभ से
जग का आँगन भर जाओ।"

जब कवि संसार से उदास रहता है तो वह इस जगत् के उस पार कहीं कल्पित स्वर्ग के सुख का अस्तित्त्व मानने लगता है:—

"समस्या स्वप्न-गूढ़ संसार,
पूर्ति जिसकी उस पार;"

तथा

"यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,
अरे, जग है जग का कंकाल!!

वृथा रे' ये अरण्य-चीत्कार,
शान्ति, सुख है उस पार !"

ये उद्गार प्रारंभिक हैं जिनका मेल उस निराशा से बैठता है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। पर कवि इस निराशा से आगे बढ़ जाता है और जीवन के वास्तविक सिद्धांत का अनुभव करता है। फिर 'उस पार' की लालसा भी समाप्त हो जाती है। इसी संसार को स्वर्ग बनाने की कामना उत्पन्न हो जाती है। ऐसी प्रार्थना होने लगती है:—

"जग के उर्वर-आंगन में,
बरसो ज्योतिर्मय जीवन ।
बरसो लघु लघु तृण, तरु पर
हे चिर अव्यय, नित-नूतन ।"

यह निश्चय है कि इस कामना के पहले संसार के प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाना चाहिए:—

"प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, तरु, पशु, पत्नी, नर सुरवर,"

'उस पार' की कामना में तथा उपर्युक्त पंक्तियों में व्यक्त किए गए भावों में कितना अंतर है। यह कवि की भावधारा तथा विचारधारा का विकास है ।

जो जीवन पहले नीरस-सा हो चला था उसमें अब 'मधु' मिल चुका है उस मधु के संचय को प्राणों में स्पंदन उठने लगा है:—

"रे गूँज उठा मधुवन में
नव गुंजन, अभिनव गुंजन,
जीवन के मधु-संचय को
उठता प्राणों में स्पन्दन !"

कवि अपने हृदय की सहानुभूति का प्रसार सम्पूर्ण दुखी जगत् तक करता है। इतना ही नहीं, वह दूसरों के दुःख में दुखी होता है:—

'तप रे मधुर मधुर मन;
विश्व-वेदना में तप प्रति पल,

जग जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्वल औ, कोमल
तप रे विधुर-विधुर मन"

ऐसी ही कामना 'छाया' नामक रचना में प्रकट की गई है—

"चूर्ण-शिथिलता-सी अँगड़ा कर
होने दो अपने में लीन
पर पीड़ा से पीड़ित होना
मुझे सिखा दो, कर मद-हीन"

कवि को अपने सन्ताप दूर करने के साथ ही जग का पाप दूर करने की चिन्ता भी सदा बनी रहती है:—

'गरज, गगन के गान ! गरज गंभीर-स्वरों में,
भर अपना सन्देश उरों में, औ' अधरों में,
बरस धरा में, बरस सरित, गिरि, सर सागर में,
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षण भर में।"

पन्त जी का ज्ञान में विश्वास नहीं है और न ये मुक्ति के लिए उत्कण्ठित हैं। देखिए ज्ञान को ये क्या समझते हैं:—

"ज्ञान ? यह तो इन्द्रियों की शान्ति है,
शून्य जृम्भा-मात्र निद्रित-बुद्धि की !"

ब्रह्म में मिल जाने पर आनन्द मिलेगा इसका क्या निश्चय ? जब जीव आनन्द-स्वरूप ही हो जावेगा तो आस्वाद सुख की सम्भावना उसमें कहाँ रहेगी ? इसी से पंत जी ब्रह्म में मिल जाने की कामना नहीं करते। उसके 'दर्शन' की कामना से भक्त साधना के सात्विक मार्ग पर आगे बढ़ता जाय यही बहुत है:—

"उठ उठ लहरें कहतीं यह, हम कूल विलोक न पावें,
पर इस उमंग में बह-बह नित आगे बढ़ती जावें।"

वे मन की मुक्ति को बन्धन समझते हैं। वे उसे अपार्थिव नहीं बनाना चाहते हैं कि वह और भी मूर्तिमान बने:—

"तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन, गंध हीन तू गंध-युक्त बन;
निज अरूप में भर स्वरूप मन ! मूर्तिमान बन निर्धन !"

वे मन को विरज नहीं करना चाहते। उसे और भी रज-रंजित करना चाहते हैं; पर, यह रज उनके चरणों का हो:—

"चरण-कमल में अर्पण कर मन,
रज रंजित कर तन
मधु-रस-मज्जित कर मम जीवन
चरणामृत-आशय में।"

प्रारंभिक प्रवृत्ति-निरूपण प्रसंग में दिखाया जा चुका है कि पंत जी का रहस्यवाद भक्ति-भावना समन्वित है। उसका अंत शुष्क जिज्ञासा में नहीं हो जाता। साधक अपने साध्य का और भी साक्षात् दर्शन कर लेता है और क्रमशः आगे बढ़ता हुआ उसे अपने सुकुमार रूप में पाता है। यद्यपि अभी तक उस ध्रुव के दर्शन नहीं हुए हैं पर भावना की दृष्टि से उस प्रिय का इतना साक्षात्कार अवश्य हो जाता है कि भक्त उसे 'मेरे' 'अपने' आदि नामों से पुकारने लगता है। भक्त की इस भावना का परोक्ष आलंबन भी शुष्क नहीं है, तटस्थ नहीं है। वह यद्यपि अभी तक अपने दर्शन नहीं देता पर पथप्रदर्शक रूप में आगे बढ़ने में सहायता करता रहता है। उस द्युतिमान के उज्वल प्रकाश में भक्त अपना मार्ग स्पष्ट देख सकता है। 'दर्शन कब होगा ?' यह लालसा बनी रहती है। पर इस अतृप्त लालसा से जीवन में नीरसता अथवा उदासी नहीं आने पाती। एक अनिर्वचनीय सरसता बनी रहती है। मार्ग का अंत नहीं दिखाई पड़ता, पर भक्त बड़े आनंदोद्रेक में आगे बढ़ता रहता है:—

कहाँ छुरे हो मेरे ध्रुव !
हे पथ-दर्शक ! द्युतिमान !
दृगों से बरसा यह अपिधान
देव ! कब दोगे दर्शन-दान !"

अब इनके कलापक्ष पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। अप्रस्तुत-विधान के महत्त्वपूर्ण प्रश्न को उठाने के प्रथम 'वर्णयोजनाकला'* का परिचय प्राप्त कर लिया जाय। काव्य में कवियों की कुछ रंगों का उप-

* Sence of colour (रंग परिज्ञान)

योग करना पड़ता है। हिंदी-साहित्य के प्रायः कवियों की दृष्टि इस विषय में कुण्ठित ही रही। उनके लिए नीले, काले तथा हरे रंग एक ही समान थे। पीले और लाल में भी भेद करने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी। पर संस्कृत-साहित्य में ऐसा नहीं होता था। बाणभट्ट ऐसे चित्रकारों ने अपनी तूलिका के लिए रंगों का चुनाव बड़ी सूक्ष्मता से किया था। हर्ष का विषय है कि पंत जी की 'वर्णयोजना' में सूक्ष्मता रहती है। वे प्रकृति-निरीक्षण तथा भावुकता के सुंदर योग से बहुत सुंदर चित्र अंकित करते हैं। पत्तों के नवीन कोपल कितने सुन्दर होते हैं। उनका रंग कुछ गुलाबी-सा होता है। साधारण दृष्टि इससे आगे नहीं बढ़ती। पर कवि साम्य की स्थापना के लिए नवल-प्रवाल को हमारे सम्मुख लाता है। दोनों के रंगों का कितना साम्य है:—

"अरे ये पल्लव-बाल!
सजा सुमनों के सौरभ-हार,
गूँथते वे उपहार;
अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल,

नीचे की पंक्तियों में आम के बौरों तथा भौंरों के रंगों का कितनी सूक्ष्मता से निरीक्षण किया गया है:—

"रुपहले, सुनहले, आम्र-बौर,
नीले, पीले, औ, ताम्र भौंर,"

निम्न उदाहरणों में इस कला को और भी देखा जा सकता है:—

"प्रात का सोने का संसार
जला देती संध्या की ज्वाल।"

*

गहरे, धुँधले धुले, साँवले
मेघों से मेरे भरे नयन।"

यहीं तक नहीं, कवि की दृष्टि ने और सूक्ष्मता प्राप्त की है। अनेक पदार्थ दृश्य होते हैं पर हम उन्हें छू नहीं सकते। उदाहरण के लिए धूप तथा अंधकार लिए जा सकते हैं। पर कल्पना के द्वार हृदय पर पड़े हुए इनके प्रभाव को दृष्टि में रखकर इनके स्पर्श की विशेषता की भी

कल्पना की जा सकती है। यह स्पर्शज्ञान साधारण ज्ञान से भिन्न है। गुलाबी रेशमी पत्थर यद्यपि छूने में कठोर होगा पर नेत्रों को वह मुलायम सा लगेगा। ऐसी ही भावना से प्रेरित होकर पंत जी ने अनेक सुंदर उद्भावनाएँ की हैं। नीचे की पंक्तियों में श्यामल तम को कोमल कहा गया है। यदि वह काला अंधकार होता तो उसे कठोर विशेषण अवश्य प्राप्त हुआ होता। रंगों का सूक्ष्म ज्ञान न रखनेवालों को तो काले तथा श्याम में कुछ भेद न प्रतीत होगा। पर सूक्ष्म बुद्धि संपन्न कवि इन ठोस भेदों ही की अनुभूति नहीं करता है, उसे तो श्याम तथा श्यामल में भी कुछ भेद प्रतीत होता है। श्याम कुछ गहरा तथा कठोर होगा। श्यामल के 'लकार' ने उसे उच्चारण-माधुर्य के साथ साथ स्पर्श की सुकुमारता भी प्रदान की है:—

"मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील-नील, कोमल-कोमल,
छाया तरु-वन में तम श्यामल।

इनके दृश्यों के वर्णनों में चित्रोपमता रहती है। इन चित्रों में केवल जड़ पदार्थ ही नहीं अंकित किए जाते, पाठक उनकी रेखाओं के जाल के भीतर से गतिशील क्रियाओं का भी निरीक्षण कर सकते हैं। उन चित्रों में भौंरों की उड़ान, बिल्लियों की क्रीड़ाएँ आदि भी अंकित हो सकती हैं। उनके चित्र सिनेमा-घरों के-से चलते फिरते होते हैं। शब्दों की ध्वनि भी भावों को केवल व्यक्त ही नहीं करती, प्रसंग-प्राप्त भावों की ध्वनि का भी आभास देती चलती है। दो प्राकृतिक चित्रों को देखिए:—

"भींग मालिन की तरल जलधार से
एक मधुकर मूल में गिर कर, सजल
भग्न-आशा से छदों को पोंछ कर
पुनः उड़ने को विकल था हो रहा।
* * *
तूल-सी मार्जार-बाला सामने
निरत थी, निज बाल-क्रीड़ा में कभी
उछलती थी; फिर दुबक कर ताकती
घूमती थी साथ फिर फिर पूँछ के।"

इनके शब्दों के प्रयोग में भी अद्भुत चमत्कार रहता है। कुछ शब्दों का प्रयोग श्लेष अलंकार से कुछ-कुछ मिलता हुआ होता है। पर इसे हम केवल श्लेष ही कह के संतोष नहीं कर सकते। प्रायः श्लिष्ट शब्दों के दोनों अर्थ साक्षात् संकेतित होते हैं। पर इनके श्लेषों में यह वैचित्र्य रहता है कि दोनों अर्थों में-से एक अर्थ तो साक्षात् संकेतित अवश्य होता है। पर दूसरा अर्थ लक्षणा के द्वारा प्राप्त होता है। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी:—

"तरणि के ही संग तरल तरंग से,
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।"

नाव के साथ लगनेवाला 'डूबना' तो अभिधा से आगे नहीं बढ़ता। पर सूर्य के 'डूबने' में अस्त होने का अर्थ लक्षणा से प्राप्त होता है। ऐसा ही कुछ चमत्कार नीचे की पंक्तियों में हैं। 'मन खींचना' प्रयोग में खींचने से आकर्षित करने का भाव लक्षणा से प्राप्त होता है। भौं के साथ वह अपनी साक्षात् शक्ति से ही चरितार्थ हो लेता है:

"सहम सखियों के निठुर-आक्षेप से,
सुभ्रुवों के साथ मन को खींचती,"

शब्दों के प्रयोगों में प्रसंगों प्राप्त भाव का सदा ध्यान रखा गया है। नीचे की पंक्तियों में लहर का कुछ रुक कर आगे सरकना शब्दों के उच्चारण ही से व्यंजित हो जाता है :—

"नवोढ़ा-बाल-लहर, अचानक उपकूलो के
प्रसूनों के ढिंग रुक कर, सरकती है सत्वर;"

खड़ी बोली का जैसा मधुर प्रयोग इनकी रचनाओं में हुआ है वैसा किसी अन्य कवि की रचना में नहीं। इनकी अनेक कविताएँ तो व्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ मधुर उच्चारणवाली रचनाओं के पास बैठाई जा सकती हैं।

इनकी भावुकता मनुष्य-समाज के बाहर स्वच्छंद प्रकृति से भी अपनी हृदय का रागात्मक संबंध स्थापित करती है। जैसे पिंजर में आबद्ध कीर स्वच्छंद उपवनों को उड़ जाने को सदा उत्सुक रहता है वैसे ही इनका शरीर नगरों में रहते हुए भी हृदय रमणीय प्रकृति के सुरम्य

दृश्यों का स्वप्न देखा करता है। आलंकारिक रूप में भी आए हुए प्राकृतिक-उपादान हृदय के अनुराग तथा लालसा की सूचना देते हैं। नीचे की पंक्तियों में इनके एक प्रकृति-चित्र को देखें:—

पावस-ऋतु थी, पर्वत-प्रदेश; पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार नीचे जल में निज महाकार;
—जिसके चरणों मे पला ताल दर्पण-सा फैला है विशाल!!"

इस उद्धरण में आए हुए शब्दों की योजना कितनी सार्थक है। प्रारंभिक पंक्तियाँ पल-पल होनेवाले परिवर्तनों की सूचना अपने उच्चारण ही से देती चलती हैं। 'मेखलाकार' 'अपार' की अपारता की सूचना देता है तथा 'महाकार' अपने उच्चारण ही से अपने बड़े आकार की सूचना दे देता है।

इनका अप्रस्तुत-विधान भी बहुत भावपूर्ण हुआ है। कल्पनाओं में नवीनता तथा सार्थकता है। नवीनता से अभिप्रेत चमत्कार की सृष्टि होती है तथा सार्थकता भावव्यंजना में सहायता देती है। जब किसी शब्द को हम महत्त्व का समझते हैं तो उसे रेखांकित कर देते हैं। इस साधारण व्यापार-निरीक्षण का काव्योचित उपयोग नीचे की पंक्तियों में हुआ है। काली अलक पर रेखा का आरोप किया गया है। शशि के वदन के बीच में रजनी का डोलना कैसा चमत्कार-पूर्ण है :—

"बाल रजनी-सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में
अचल, रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य मे।"

मोहर लगाने की क्रिया आधुनिक आविष्कारों से संबंध रखती है। पर कवि तो यह मानता है कि इस प्रणाली का उपयोग इससे पहले भी हो चुका है। देखिए रति ने मोतियों की लूट देखकर अपनी मंजूषा पर कैसी मोहर लगवा दी है! उस मोहर का रंग भी आजकल की मोहरों से मिलता जुलता है:—

"देख रति ने मोतियों की लूट यह
मृदुल-गालों पर सुमुखि के लाज से
लाख-सी दी त्वरित लगवा, बन्द कर
अधर विद्रुम-द्वार अपने कोष के।"

ऐसी ही एक कल्पना और देखिए:—

"लाज की मादक-सुरा-सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन 'गुलाब से
छलकती थी बाढ़-सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित-गाढ़ों से, सीप-से।"

नीचे की पंक्तियों से सहोक्ति अलंकार का चमत्कार देखिए। हम 'साथ ही' के प्रयोग से चाहे इसे सहोक्ति कह लें पर इसका चमत्कार कुछ और ही है। पहली क्रिया दूसरी क्रिया का कारण भूत है। कार्य और कारण के साथ ही संघटित होने से एक विशेष पकार की अतिशयोक्ति का चमत्कार भी मिला हुआ है। 'उठाने' शब्द का प्रयोग भी अद्भुत है। इसके दोनों अर्थ लक्षणा की अपेक्षा रखते हैं। 'पलक उठाने' प्रयोग से पलक ऊपर करने का तात्पर्य है तथा विकलता के साथ इसका अर्थ 'दूर करना' लिया जायगा:—

"निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से, मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल, निज, स्नेह-श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप-सी"

वसन्त के आगमन समय में सुमन विकसित हो उठते हैं। पर इसका वास्तविक कारण क्या है? कवि भौतिक विज्ञानवादियों के उत्तर से संतुष्ट नहीं है। वह इसके कारण की कुछ और ही कल्पना करता है:—

"जानकर ऋतुराज का नव-आगमन
अखिल कोमल-कामनाएँ अवनि की
खिल उठी थीं मृदुल-सुमनों में कई
सफल होने को अवनि के ईश से।"

नीचे की पंक्ति में यौवन की क्षणभंगुरता, मादकता, उल्लास तथा क्रांति की एक साथ ही कैसी सुंदर योजना की गई है:—

"आह सुरा का बुलबुला यौवन धवल
चन्द्रिका के अधर पर अटका हुआ,"

सांगरूपकों के ढंग का अप्रस्तुत-विधान भी बहुत सुंदर हुआ है। इसको सांगरूपक कहने में कुछ संकोच इसलिए होता है कि रूढ़ियों की वैसी योजना न होने से अलंकारों की कट्टर कवायत के अनुयायी इस नाम को पसंद न करेंगे। नीचे एक तापस-बाला के दर्शन कीजिए:—

"तापस-बाला-सी गंगा कल शशि मुख से दीपित मृदु-करतल,
लहरे उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर लहराता तार-तरल सुन्दर,
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी-विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर।"

आँखों को कवियों ने खंजन, मछली, कमल इत्यादि माना है। पंत जी अपने प्रिय की आँखों को आकाश मानते हैं। उस अकूल आकाश में उनकी 'चित्त-चिरैया' उड़ते उड़ते खो गई:—

"तुम्हारी आँखों का नीलाकाश,
सरल आँखों का नीलाकाश—
खो गया मेरा खग अनजान;
मृगेक्षिणी! इनमें खग अज्ञान!"

आँखों की लाली को कुछ कवियों ने मद की लाली माना है जिससे लोग झुक झुक पड़ते हैं। पंत जी के खग ने उस लाली को उषा-विलास समझा; वह अपना निवास खोजने निकला। पर वह नादान, भोला, बाल-विहग स्वयं खो गया:—

"देख इनका चिर करुण प्रकाश,
अरुण कोरों में उषा विलास,
खोजने निकला निभृत निवास,

न जाने ले क्या क्या अभिलाषा
खो गया बाल-विहग-नादान"

नीचे की पंक्तियों में सूर्यास्त का वर्णन है। सूर्य पर विहग का कैसा सुंदर आरोप हुआ है:—

"गंगा के चल-जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु-दल।
लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर-शिशिर से डर
तरु शिखरों से वह स्वर्ण-विहग, उड़ गया खोल निज पंख सुभग
किस गुहा-नीड़ में रे किस मग!"

लहरों पर पहले सुनहली किरणें पड़ रही थीं। अब अंधकार का प्रसार हो चला है। सुनहली किरणें नीली पड़ने लगी हैं। अधरों की ललाई शीतकाल से नीली-सी हो जाती है। इन दोनों व्यापारों में कैसा काव्योचित साम्य है। कवि इतने ही से संतोष नहीं करता। वह इस कल्पना के अन्तर्गत एक और मधुर कल्पना की सृष्टि करता है। भय से नीले पड़ जाने की बात साधारण अनुभूति की है। अधरों की ललाई मानों प्रखर शिशिर से डरकर नीली पड़ जाती हो:—

"लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर-शिशिर से डर।"

नीचे की पंक्तियों में नक्षत्रों का वर्णन देखकर इस प्रसंग को समाप्त किया जाय:—

"अहे तिमिर चरते शशि-शावक!
मूर्छित-आतप!, शीतानल!
दिवस-स्रोत से दलित उपल दल!
स्वप्न नीड़! तम ज्योति धवल!"

नक्षत्रों से अंधकार दूर नहीं हो पाता पर जिस स्थान पर वे उगे रहते हैं वहाँ कुछ प्रकाश रहता है। कवि, कल्पना करता है कि वे शशि के शावक हैं तथा अंधकार रूपी तृण को चुँग रहे हैं। अन्य उपमानों का माधुर्य्य तथा सूझ देखी जा सकती है।

अलंकारों की सहायता के बिना भी बहुत सुंदर वर्णन कर लेते हैं। नीचे की पंक्तियों में एक बालिका का कैसा सुंदर वर्णन हुआ है:—

"बालिका ही थी वह भी
सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषण,
कान से मिले अजान-नयन
सहज था सजा सजीला-तन।"

इस बालिका की मुसकान भी देखिए:—

छपी-सी, पी-सी मृदु मुसकान।

वह सदा मुसकाती रहती थी। ऐसा प्रतीत होता था मानों हँसी उसके मुँह पर छाप दी गई हो। वह संकोच से अपने स्मित को रोकना चाहती थी, पीना चाहती थी। पर वह कहाँ रोक पाती थी? यही भाव 'पी-सी' के द्वारा व्यक्त किया गया है। इसी पर 'प्रसाद' जी कहते हैं:—

"मधु सरिता सा यह हँसी
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों?"

इनकी कुछ रचनाओं पर अंग्रेजी के कुछ कवियों की भावनाओं का प्रभाव पड़ा है। पर इसे हम भावापहरण के नाम से नहीं पुकार सकते। प्रत्येक कवि की भावधारा अन्य कवियों से प्रभावित होती रहती है। जब भावुक कवि दूसरे की सुंदर सूझ से प्रभावित हो जाता है तो उसकी रचनाओं पर भी उसका प्रभाव अनायास पड़ जाता है।

आपके शब्दों के लिंग निर्णय के विषय में कुछ अपने विचार हैं। इन्हीं के शब्दों में देखिए:—मैंने अपनी रचनाओं में कारणवश, जहाँ कहीं व्याकरण की लोहे की कड़ियाँ तोड़ी हैं यहाँ कुछ उसके विषय में भी लिख देना उचित समझता हूँ। मुझे अर्थ के अनुसार ही शब्दों के स्त्री-लिंग पुल्लिंग मानना अधिक उपयुक्त लगता है। जो शब्द केवल अकारान्त-इकारान्त के अनुसार ही पुल्लिंग अथवा स्त्री-लिंग हो गए हैं और जिनमें लिंग अर्थ के साथ सामंजस्य नहीं मिलता, उन शब्दों का ठीक-ठीक चित्र ही आँखों के सामने नहीं उतरता; और कविता में उनका

प्रयोग करते समय कल्पना कुण्ठित सी हो जाती है। वास्तव में जो शब्द स्वस्थ तथा परिपूर्ण वर्णों में बने हुए होते हैं उनमें भाव तथा स्वर का पूर्ण सामंजस्य मिलता है और कविता में ऐसे ही शब्दों की आवश्यकता भी पड़ती है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यदि संस्कृत का 'देवता' शब्द हिंदी में आकर पुंल्लिग न हो गया होता तो स्वयं देवता ही हिंदी कविता के विरुद्ध हो गए होते।

'प्रभात' और प्रभात के पर्यायवाची शब्दों का चित्र मेरे सामने स्त्रीलिंग में ही आता है, चेष्टा करने पर भी मैं कविता में उनका प्रयोग पुंल्लिग में नहीं कर सकता।

"सौ सौ साँसों में पत्रों की
उमड़ी हिम-जल सस्मित-भोर", के बदले
"........उमड़ा हिम-जल सस्मित-भोर", तथा—
"रुधिर से फूट पड़ी रुचिमान
पल्लवों की यह सजल प्रभात" के बदले
"रुधिर से फूट पड़ा रुचिमान
पल्लवों का यह सजल प्रभात"

इसी प्रकार अन्य स्थानों में, भी "प्रभात" आदि को पुँल्लिंग मान लेने पर मेरे सामने प्रभात का सारा जादू, स्वर्ण, श्री, सौरभ, सुकुमारता आदि नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, उनका चित्र ही नहीं उतरता।

'बूँद,' 'कम्पन' आदि शब्दों को मैं उभय लिंगों में प्रयुक्त करता हूँ। जहाँ छोटी सी बूँद हो वहाँ स्त्री-लिंग, जहाँ बड़ी हो वहाँ पुंल्लिंग, जहाँ हलकी सी हृदय की कम्पन हो वहाँ स्त्री-लिंग, जहाँ जोर जोर से धड़कने का भाव हो वहाँ पुंल्लिग।

अपने इन सिद्धांतों के अतिरिक्त भी आपने कुछ ऐसे प्रयोग किए हैं जो व्याकरण अनुमोदित नहीं हैं और जिनके लिए आप भी कोई कारण उपस्थित न करेंगे। अनेक स्थानों पर तो थोड़ी-सी सतर्कता से संस्कार की रक्षा की जा सकती थी।

श्री मैथलीशरण जी गुप्त—आप की विस्तृत चर्चा पीछे हो चुकी है। यहाँ केवल 'झंकार' के विषय में कहना है। इस पुस्तक की रचनाएँ आधुनिक युग की विशेषताओं से युक्त हैं। कुछ रचनाओं में प्राचीन ढंग की रूपक तथा अन्योक्ति-पद्धति से भी काम लिया गया है। 'हाट' नामक रचना में कबीर की शैली का अनुकरण है। स्वयमागत, आय का उपयोग, विहंगम, स्वरभंग, हाट, आत्मसमर्पण, आहट, आँखमिचौनी इत्यादि अनेक रचनाएँ अत्यन्त सुंदर हुई हैं। एक उदाहरण:—

"किसी शान्त एकान्त कुञ्ज में तुम जाकर सो जाओ,
भटकूँ इधर उधर मैं इसमें क्या रस है बतलाओ,
यदि मैं छिपूँ और तुम खोजो अनायास ही पाओ,
कहाँ नहीं तुम जहाँ छिपूँ मैं जाने भी दो आओ।
करें बैठ रँग रेली, अच्छी आँख मिचौनी खेली।"

श्री गोपालशरणसिंह—आप द्विवेदी जी के समय से रचनाएँ करते आते हैं। आपकी रचनाओं पर मुग्ध होकर स्वयं द्विवेदी जी ने एक आलोचना लिखी थी। आप की खड़ी बोली में ब्रजभाषा की-सी मिठास मिलती है। प्रचलित पदावली का प्रयोग करते हैं जिसमें उर्दू के शब्द भी आते रहते हैं। दम मारना, आँख भर आना, साथ देना, दिल दुखना, अपने पैरों खड़ा होना आदि मुहावरों का सुंदरता के साथ प्रयोग हुआ है। भाषा अत्यंत स्वाभाविक तथा विषयोपयुक्त है। उपमा रूपक, संदेह, उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारों का भी कलापूर्ण प्रयोग हुआ है। आपकी भावोन्मुख कल्पना भी बहुत उर्वर है। शृंगारी भावनाएँ अत्यंत हृदयग्राही हुई है। श्रीकृष्ण तथा ब्रजभूमि-संबंधिनी रचनाएँ भक्ति-भाव युक्त तथा सरस है। इन विषयों के साथ-साथ आप देश तथा अछूतों को भी नहीं भूले हैं। आप की प्रेम की अनेक उक्तियाँ अत्यंत व्यंजनापूर्ण हैं; जैसे:—

(क) "योंही दुख दारुण तू नित्य मुझे देता रह,
कौन कहता है नहीं तुझे अधिकार है।

प्यारा मुझको है निज दुःखमय जीवन ही,
क्योंकि यह तेरे प्रेम का ही उपहार है।
(ख) खलता न नेक भी है दुःख का उठाना मुझे,
खलता तुम्हारा बस निठुर कहाना है।
(ग) खलती न नेक भी है उनकी पराई पीर,
काम कुछ आता नहीं अश्रु बरसाना भी।
जाना भी न जग से मुझे है उन्हें छोड़कर,
इस लिए कठिन हुआ है मर जाना भी।
(घ) मन तो गया है पहले ही उसके समीप,
किन्तु कभी जाती नहीं मन की कसक है।"

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा'—ये मध्यप्रदेश के एक प्रमुख राष्ट्रीय कार्यकर्ता हैं। खंडवा का प्रसिद्ध पत्र कर्मवीर इन्हीं के संपादकत्व में निकलता है। ये राष्ट्रीय कवि हैं। इनकी रचनाएँ देश-प्रेम के भावों से युक्त रहती हैं। इन्हें अपने ग्रहीत विषय की सच्ची लगन है अतः इनकी रचनाओं में एक सत्यता तथा निष्कपटता दृष्टिगोचर होती है। इनकी रचनाएँ कल्पना के व्यायाम का फल नहीं है, उनका अस्तित्व जीवन की कठोर अनुभूति पर निर्भर रहता है। रचनाओं में सच्ची वेदना के सर्वत्र दर्शन होते हैं:—

(पुष्प की अभिलाषा)

"मुझे तोड़ लेना बनमाली!
उस पथ में देना तुम फेंक!
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावे बीर अनेक।"

कुछ रचनाओं से रहस्यपूर्ण सांकेतिकता समन्वित भक्ति-भावना के भी दर्शन होते हैं। पर किसी भी अवस्था में ये ठोस जीवन की वास्तव-विकता को नहीं भूलते। जिस प्रकार पक्षी कितनी भी दूर उड़े पर अपने नीड़ का सदा ध्यान रखता है उसी प्रकार ये क्षितिज के उस पार की

रहस्यमय अनुभूतियों से क्रीड़ा करने को ललचा उठने पर भी मातृभूमि को कभी नहीं भूलते। वेदांतपूर्ण भक्ति की कुछ पंक्तियाँ:—

"अरे अशेष! 'शेष' की गोदी
तेरा बने बिछौना सा।
आ, मेरे आराध्य! खिलालूं
मैं भी तुझे खिलौना सा॥"

श्री सियारामशरण गुप्त—आपकी भावुकता, सहानुभूति तथा पर-दुःख-कातरता में प्रकट होती है। आपकी रचनाओं में करुणाधारा प्रवाहित होती रहती है। अंकित किए हुए दृश्य कवि के हृदय के स्वतः आलंबन हैं तथा उनमें इतनी क्षमता रहती है कि सब सहृदय पाठकों के हृदयों में भावों को जागरित कर सकें। आपकी कवित्वपूर्ण कहानियाँ बहुत सुंदर बन पड़ी हैं। ये छोटे-छोटे सजीव चित्र हैं। दृश्यों के चित्र अंकित करने की आप में अद्भुत क्षमता है। वर्ण्य-दृश्य का ऐसा आकार प्रस्तुत किया जाता है कि पाठक के सामने उसकी स्पष्ट रूप-रेखा खड़ी हो जाती है। एक चित्र देखिए:—

"पत्थरों की सीढ़ी पर सुश्री-भरी
स्नान कर बैठी थी अपूर्व एक सुन्दरी!
भींगा हुआ वस्त्र ही थी पहने,
धारण किए हुए सुवर्ण-रंग,
अङ्ग अङ्ग
उसके बने थे स्वयं गहने!
कलित कपोलों पर छुटे हुए केशदाम
हिल-डुल क्रीड़ा करते थे कान्त कान्तिधाम
उसमें से चूते हुए वारि-बिंदु झलमल
शोभा सरसाते थे,
प्रति पल
नये नये मोती प्रकटाते थे।
बायाँ पैर नीचे लटकाये नील नीर पर,

दायाँ पैर रक्खे हुए सीढ़ी के प्रतीर पर,
अपने नुकीले नेत्र नीचे किये
पत्थर की बट्टी हाथ में लिए
एड़ी मलती थी वह बार बार पानी डाल।"

मनुष्य के भावों के साथ जब प्रकृति सहानुभूतिपूर्ण नहीं रहती तो दुःख इत्यादि की पीड़ा और भी बढ़ जाती है। दुखी मनुष्य अपनी सीमा के बाहर अन्य लोगों के पास जब सुख-सामग्री देखता है तो उसे अपनी पीड़ा और भी कसकने लगती है। गुप्त जी ने कुछ दृश्यों में ऐसी योजना करके भावों को और भी गंभीर कर दिया है। गुलाबचंद नामक मनुष्य ने अपनी स्त्री को छोड़ दिया, क्योंकि उसे मुसलमान भगा ले गए थे। परंतु वह शुद्ध थी। अपने पति के द्वारा पुनः न ग्रहण किए जाने पर वह डूब मरी। उसका पति उसी जलाशय के किनारे दुखी खड़ा है जिसमें उसकी स्त्री अभी-अभी डूबी है। इतनी बड़ी घटना हो गई परंतु प्रकृति की सहज गति पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जल की लोल तरंगें वैसी ही लहराती रहीं:—

"जल लहराता था,
घाट पर पत्थरों के साथ टकराता था।
रोते थे गुलाबचन्द, मुँह पै तमाचा मार,
बार बार"

परंतु प्रकृति को सदा असहानुभूतिपूर्ण दिखाने का कवि का आग्रह नहीं है। अनेक दृश्यों में प्रकृति भी मनुष्यों को दुखी देख कर दुखी-सी प्रतीत होती है। एक उदाहरण। एक अनाथ आश्रयहीना अबला के साथ प्रकृति कैसी दुखी-सी प्रतीत हो रही है:—

"मातृ-मूर्ति की आभा झलकी
उसके मृदु मुख-मण्डल पर
बहा पवन गंगा-प्रवाह पर
गहरी एक साँस भरके।
तट के उस पीपल के पत्ते
सिहर उठे मर्मर करके।"

इसी अनाथ की निस्सहायावस्था का कैसा वर्णन इन पंक्तियों में हुआ है:—

"वैरी हुआ विश्व भर मेरा,
हाय ! कहाँ अब जाऊँ मैं !
मुझ तक ही मेरी सीमा है,
हाय कहाँ फैलाऊँ मैं !

कुछ शब्दों का प्रयोग बड़ी भावपूर्ण वक्रता से किया गया है जो चमत्कार की सृष्टि करने के साथ ही भावानुभूति में योग देते हैं। कुछ उदाहरण:—

(क) "किसी घर में से दीप प्रकाश
ताकने लगा हमारी ओर ;
(ख) दीप उसका कर प्रकाश भी सचेत किया।
(ग) आती थी न काम पै दयामयी
याद उसकी ही मुझे आ गई।
(घ) डाक्टर साहब एक स्वच्छ पत्थर पर बैठे,
नदी किनारे, भाव-नदी में से थे पैठे
(ङ) पैर मलती तू और मैं हाथ मलता
(च) छज्जे के नीचे कोने में—
सिमटी पड़ी जहाँ छाया,"

'आर्द्रा', 'दुर्वादल' और 'विषाद' इनकी फुटकर कविताओं के संग्रह हैं। 'मौर्यविजय' और 'अनाथ' दो छोटे-छोटे काव्य हैं।

पं० मुकुटधर पाण्डेय—ये पं० लोचनप्रसाद पांडेय के छोटे भाई हैं। इनका हृदय सहानुभूतिपूर्ण है। दीन, दुखियों के अभावों को देख कर इन्हें कष्ट होता है। प्रकृति के रमणीय दृश्यों के प्रति अनुराग रखते हैं:—

"जब वर्षा ऋतु की उष्मा में, होकर श्रम से क्लान्त महान।
हल जोतते किसान छेड़ता, है जब अपनी लम्बी तान।
सुन तब उसे वाटिका से निज करता मैं उर-बीच विचार।
खेतों में यों आर्तस्वर से यह किसको है रहा पुकार।"

आधुनिक युग का जिज्ञासापूर्ण रहस्यवाद कुछ-कुछ इनकी रचनाओं में भी आने लगा है :—

"यह स्निग्ध सुखद सुरभित-समीर,
कर रही आज मुझको अधीर।
किस नील उदधि के कूलों से,
अज्ञात वन्य किन फूलों से,
इस नव प्रभात में लाती है,
जाने यह क्या वार्ता गभीर।"

श्री अनूप शर्मा—आपने कवित्त छंद में खड़ी बोली को बड़ी सुघरता से ढाला है। आप वीर रस के प्रसिद्ध कवि हैं। साहित्यिक खड़ी बोली में वीर रस की सुंदर रचनाएँ करने का श्रेय आप ही को है। आप की ऐसी कृतियाँ अत्यंत ओजपूर्ण हुई हैं। कुछ कविताएँ प्राचीन वीर पुरुषों की प्रशस्तियों के रूप में हैं, कुछ स्वतन्त्र उद्बोधन के रूप में। वीर रस के अतिरिक्त अन्य सामयिक विषयों पर भी आप अच्छा लिख लेते हैं। नीचे इनके दो छंद दिए जाते हैं :—

"होता नीच नृत्य महा दारुण दरिद्रता का,
भूख से प्रजा में एक तड़प समाई है।
परम प्रचंड पारतन्त्र के पयोनिधि की,
कहर मचाती हुई लहर सिधाई है।
भौर में पड़ा हुआ समाज का जहाज आज,
डूबा जो नहीं तो डूबने की घड़ी आयी है!
तोष गया रोष गया जोश औ, खरोश गया,
होश क्यों गया तुम्हें कहाँ की नींद आयी है।"

(शिक्षक से)

'दो न विश्ववारिधि को पार करने की सीख,
काग़ज़ की नाव बालुका में अभी खेने दो।
ज्ञान-रवि जीवन-प्रभात मे उगा है नहीं,
शिशुता-उषा के चरणारविन्द सेने दो।

आँख के अखाड़े में कनीनिका की कोर तक,
खेलकर अभिभावकों को सुख देने दो।
फिर न मिलेगा कभी खेलना न छेड़ो इन्हें,
बालक अभी हैं कुछ और खेल लेने दो।"

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—आप अनेक भावों पर रचनाएँ करते हैं। अपने विषयों से सच्चा अनुराग है, अतः आपकी रचनाओं में प्रभविष्णुता रहती है। एक उदाहरण:—

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये,
एक हिलोर उधर से आये।
प्राणों के लाले पड़ जायें,
त्राहि त्राहि रव नभ में छाये।
नाश और सत्यनाशों का,
धुवाँधार जग में छा जाये।"

श्री महादेवी वर्मा—आपकी कविताओं की दो विशेषताएँ हैं, अनन्त विश्वव्यापी दुःख का वर्णन तथा रहस्योन्मुख भावना का चित्रण। आपकी पीड़ा तथा कसक को करुण रस के अंतर्गत नहीं लिया जा सकता। करुण रस में जिस दुःख का संवेदन कराया जाता है उसका उद्गम किसी अभाव से होता है और प्रिय की प्राप्ति तथा अप्रिय के अवसान से उस दुःख का भी अंत हो जाता है। आपके दुःख को हम वैराग्य के अंतर्गत ले सकते हैं। मोहक सौंदर्य के अन्तर्गत प्राप्त होनेवाले असौंदर्य तथा अभाव को देख आप कभी तृप्ति नहीं पातीः—

"विकसते मुरझाने को फूल
उदय होता छिपने को चन्द,
शून्य होने को भरते मेघ
दीप जलता होने को मन्द;
यहाँ किसका अनन्त यौवन ?
अरे अस्थिर छोटे जीवन।"

चतुर्दिक दुःख ही दुःख का अनुभव करने से आप दुःखमयी हो गयीं। वह आपके जीवन के लिए श्वासों-सा आवश्यक हो गया है। अब आप उसके बिना नहीं रह पातीं। किसी दिन जगदीश के सुखमय अंक में पहुँच जाने की संभावना करते हुए भी आप अपनी चिर सहचरी पीड़ा को नहीं भूलना चाहतीं। वहाँ उस आनंदसिंधु में भी आप उसी को खोजेंगी:—

"पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा,
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा
तुम मे ढूँढूँगी पीड़ा।"

यह दुःख ही आपका सर्वस्व है:—

"मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में
मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चोटों में।"

परंतु आप अमर हो कर जन्म-मृत्यु की दुःखद श्रृंखला से छूटना भी नहीं चाहतीं। अपने मर मिटने के प्यारे अधिकार को खोना नहीं चाहतीं:—

"क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार।"

परंतु पीड़ा से छलकती आँखों से भी आप मुसकाती रह सकती है:—

"बिछाती हूँ पथ में करुणेश।
छलकती आँखें हँसते ओठ।"

उस करुणेश से आप यही प्रार्थना करती हैं कि आपके जीवन की अतृप्ति बनी रहे, क्योंकि आपके लिए चिर सुख की संभावना भी दुःख की सीमा है—'है पीड़ा की सीमा यह, दुःख का चिर सुख हो जाना':—

"मेरे छोटे जीवन में, देना न तृप्ति का कण भर
रहने दो प्यासी आँखें, भरती आँसू के सागर।"

अभिलषित वस्तु की प्राप्ति होने पर सुखद प्रयत्न की धारा शुष्क हो जाती है; फिर जीवन नीरस हो जाता है। सुख के क्षितिज के कुछ उस पार ही रहने में आनंद है। प्रयत्न ही सुख है, प्राप्ति नहीं; अतः आप प्रार्थना करती हैं:—

"इस अचल क्षितिज-रेखा से, तुम रहो निकट जीवन के,
पर तुम्हें पकड़ पाने के, सारे प्रयत्न हों फीके।

वह प्रतीक विधायिनी प्रतिभा जिसमें भावनाओं को मूर्त्तरूप दिया जाता है आपमें बहुत अधिक मात्रा में है। आपके ऐसे रूपविधान बहुत मनोरम होते हैं। 'जीवन-दीप' वाली कविता की कुछ पंक्तियाँ:—

"शून्य काल के पुलिनों पर, आकर चुपके से मौन,
इसे बहा जाता लहरों में, वह रहस्यमय कौन!"

नीचे की पंक्तियों में एक सुंदर अप्रस्तुत योजना तथा रहस्य के प्रति जिज्ञासा है:—

"अवनि अम्बर की रुपहली सीप में, तरल मोती-सा जलधि जब काँपता;
तैरते घन मृदुल हिम के पुंज से, ज्योत्स्ना के रजत पारावार में—
सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे, नींद के उच्छ्वास सा, वह कौन है!"

सुख, मनुष्य मनुष्य के बीच दीवालें खड़ी कर देता है। उसकी मादकता में मनुष्य मस्त होकर अपने को भूल जाता है। दुःख मनुष्य को मनुष्यता की सामान्य अनुभूति-भूमि पर प्रतिष्ठित करता है फिर वह सबको अपने अनुराग बंधन में बाँध लेता है। तब उसे सब अपने-से लगने लगते हैं। इसलिए भी आप दुःख की कामना करती रहती हैं। दुःखवाद तथा नैराश्य की छाप जितनी आपकी रचनाओं पर पड़ी है उतनी आजकल के किसी हिंदी कवि पर नहीं। आपके दुःख का ठीक-ठीक विश्लेषण भी नहीं किया जा सकता। आपकी रचनाओं पर अँगरेजी की आलंकारिकता, भाषाशैली, भावधारा इत्यादि का अधिक प्रभाव पड़ा है। भाषा ललित तथा प्रसादगुणयुक्त है। जटिल भावों से भाषा

में जटिलता नहीं आने पाई है। 'निहार', 'रश्मि' तथा 'नीरजा' नामक संग्रह निकल चुके हैं। आशा है आप इसी तरह मातृभाषा की सेवा करती रहेंगी। कौन जाने इस कसक, पीड़ा, वेदना की कहानी से विरक्त होकर कभी आशा, आनंद का संदेश भी सुनावें! जगत दुःखमय मान लेने पर भी हम जब चाहें तब इसे छोड़कर जा भी नहीं सकते। ऐसी अवस्था में कविगण कभी-कभी हमारी आशा की दुर्बल बेलि को सींचते रहें तो अच्छा हो।

श्री सुभद्राकुमारी चौहान—देवी जी की रचनाओं के विषय इसी लोक के हैं। वे क्षितिज के उस पार के धुँधले दृश्यों के मोह में नहीं पड़तीं। अज्ञात प्रिय के लिए तड़प-तड़प कर आस-पास के लोगों की नींद हराम करने की अपेक्षा देश की पुकार पर मर मिटनेवाले पुरुषों और देवियों ही की पावन स्मृति में आँसू बहाने में इन्हें अधिक आनंद प्राप्त होता है। इनकी देशभक्ति की रचनाएँ बहुत प्रभाव डालनेवाली हुई हैं। उनमें न दूर की सूझ है न क्लिष्ट कल्पना, न अद्भुत आलंकारिक योजना; परंतु अंतस्तल में व्याप्त होनेवाली सच्ची अनुभूति तथा निष्कपट योजना ही उनकी सजीवता तथा प्रभविष्णुता के लिए उत्तरदायी हैं। उनकी 'झाँसी की रानी' जितनी लोकप्रिय हुई उतनी आजकल के किसी कवि की कोई रचना न हो सकी। इनकी वात्सल्य रस की रचनाएँ भी बहुत ही हृदयस्पर्शी हुई हैं। मेरा नया बचपन, बालिका, परिचय आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। एक दिन ये बैठी हुई अपने भोले बाल्यकाल का स्मरण कर रही थीं। इतने में इनकी "बिटिया बोलने लगी"। इनको अपनी बिटिया में ही खोया हुआ बचपन मिल गया:—

"मैं बचपन को बुला रही थी
बोल उठी बिटिया मेरी।
नन्दन वन सी फूल उठी
यह छोटी-सी कुटिया मेरी।"

वह कन्या 'माँ' कहकर बुला रही थी। मिट्टी खा रही थी। कुछ अपनी माँ को खिलाने आई:—

"माँ ओ" कह कर बुला रही थी मैंने पूछा "यह क्या लायी!"
मिट्टी खाकर आयी थी। बोल उठी वह "माँ, काओ।"
कुछ मुँह में कुछ लिये हाथ में हुआ प्रफुल्लित हृदय खुशी से
मुझे खिलाने आयी थी। मैंने कहा—तुम्हीं खाओ।"

आपकी शृंगार रस की कविताएँ भी बहुत मधुर तथा संयत हुई हैं। उनमें आजकल के अन्य प्रेमियों ऐसी आँधी नहीं है न प्रिय की निष्ठुरता की शिकायत। देखिए:—

"बहुत दिनों तक हुई परीक्षा
अब रूखा व्यवहार न हो।
अजी, बोल तो लिया करो तुम
चाहे मुझ पर प्यार न हो।"

'ठुकरा दो या प्यार करो' 'मानिनि राधे', 'प्रियतम से' ऐसी ही रचनाएँ हैं। आपकी भाषा बहुत ही सरल तथा स्वाभाविक हुई है। उसमें घरेलू मिठास है। वह वैसी ही परिचित सी है जैसी अपने घरों में माताओं की बोली। 'मुकुल' में आपकी रचनाएँ संग्रहीत हैं। इस संग्रह पर ५००) का सेकसरिया पुरस्कार मिला है। इस विषय पर भी आपने 'पुरस्कार कैसा?' शीर्षक एक रचना झाँसी-सम्मेलन में सुनाई थी। उसकी अंतिम पंक्तियाँ ये हैं:—

"लड़ने की धुन में भाई!
ममता का मधुर स्वाद कैसा!
अपने ही से अपनों का,
डरती हूँ, धन्यवाद कैसा?"

पंडित जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'—द्विज जी अपने प्रिय उपास्य के पास अकेले ही जाते हैं। वहाँ वे रहते हैं और उनका प्रियतम। इनकी रचनाओं में कभी-कभी निराशा तथा दुःखवाद के भी दर्शन होते हैं। परंतु ये निराशावादी नहीं हैं और न सदा रोते रहना चाहते हैं। ये जब अपने प्रिय को पा लेंगे तो इनके आँसू सूख जायँगे:—

"साध मिट जावे, सोए चाह,
सूख जावे दुख पारावार।

थका जीवन पावे विश्राम,
चरण-रज पा तव प्राणाधार!"

इनके करुण उद्गार भी प्रिय के हृदय में करुणा जागरित करने के उद्देश्य से हैं। ये प्रिय के दर्शन करना चाहते हैं परंतु उससे केवल यही प्रार्थना करते हैं कि 'तू मुझ दुखिया को आकर देख जा'। जब करुणा-निधान देखने आवेंगे तो भक्त को तो स्वयं ही दर्शन हो जायँगे। भक्त अपने दर्शन की अभिलाषा व्यक्त नहीं करता परंतु नीचे की पंक्तियों के 'छविमान' शब्द से उस दर्शन लालसा की कैसी सुंदर व्यंजना हो रही है:—

"इसी से उत्कंठित हो आज,
करुण स्वर मे करता आह्वान
खोल निज छवि मन्दिर का द्वार,
देख जाओ मुझको छविमान।"

कवि को यदि करुण दशा ही दिखाकर कुछ लेने की इच्छा होती तो वह 'करुणानिधान' आदि संबोधन रखता। परंतु 'छविमान' शब्द तो बता रहा है कि उस लावण्य-सिंधु को देखे बिना उसके नेत्र नहीं मानते। आप चोरी-चोरी दर्शन करना चाहते हैं।

प्रिय का पाना कठिन प्रतीत हो रहा है। उपासक अपनी तुच्छता तथा अयोग्यता देखकर कभी-कभी उसे पाने का अपना अधिकार भी नहीं समझता। परंतु 'चाह' को भी वह नहीं छोड़ सकता। उसके प्रति अपने आकर्षण को भी वह बहुत कुछ समझता है:—

"वह अलभ्य है, और दूर है;
क्या उसपर मेरा अधिकार?
कर्षण ही यह क्या कुछ कम है?
और चाहिए कितना प्यार?"

कवि ने जीवन भर अपने प्रिय के लिये अलख जगाया, परंतु सिवा, पीड़न के उसे कुछ न मिला। पर यह पीड़न भी अति प्रिय लगता है क्योंकि यह उसी का उपहार है:—

"निष्ठुर पीड़न ही है मेरी,
मधुर प्रीति का प्रिय उपहार।"

इनका प्रिय अज्ञात नहीं है। यद्यपि प्रत्यक्ष जगत में उसके दर्शन नहीं हुए पर स्वप्न जगत् में उसकी छवि-छाया दिखाई पड़ जाती है। जो लोग यह नहीं जानते कि हम किसको प्यार करते हैं परंतु दिनरात तड़पते रहते हैं उनकी माया तो वे जानें, परंतु 'द्विज' जी उनमें नहीं हैं:—

"बैठ बाट में जोह रहा हूँ
इस आकुलता से किसकी ?
स्वप्न-जगत् में सतत देखता
विहसति छवि-छाया जिसकी।"

'नहीं नहीं' की भावुकता पर सहृदय सदा से मुग्ध होते आए हैं, पर 'द्विज' जी केवल 'नहीं' पर मुग्ध हैं। इनका प्रिय जब उपेक्षा के बदले 'नहीं' कर देता है तो ये इसे भी बहुत गनीमत समझते हैं। उपेक्षा से तिरस्कार अच्छा है। प्रिय के हृदय में अपने प्रति एक भाव तो आया, चाहे तिरस्कार का ही सही। यह क्या कम है ?

"मुझे 'नहीं' के बल खींच
बुला लेते तुम अपने पास"

इन्हें विश्वास है कि यह तिरस्कार दया में परिवर्तित हो जायगा; क्योंकि इनका प्रिय निठुर नहीं हो सकता। यदि वह निठुर होता तो इतना प्रिय क्यों लगता ?:—

"हो न सकते तुम इतने निठुर
अमर मेरा यह है विश्वास
क्योंकि हिय-हीन कभी सकता न
किसी के उर में भर उल्लास।"

इसी भरोसे ये प्रिय को फिर दीनता सुनाते हैं:—

"उपेक्षित हो तुमसे इस भाँति
कहो, मैं जाऊं किसके पास ?"*

तथा—

चरण खींच क्यों रहे ?
उन्हीं पर तो अपने को वार चुका !

---

* जाऊँ कहाँ तजि चरण तुम्हारे—'तुलसी'.

उनकी निठुराई देखकर कभी-कभी यह भाव भी होता है कि क्यों न 'उनसे' प्रेम करना ही छोड़ दें। पर ऐसा कौन प्रेमी कर पाता है? 'द्विज' जी भी अपने प्रिय से—अपने अपने से—मुख मोड़ लेने की प्रार्थना करते हैं। क्षण भर को मान भी लिया जाय कि प्रिय निठुर होकर मुँह मोड़ लेगा, पर क्या कवि स्वयं ऐसा कर सकता है? इसका उत्तर इनका 'अपने' शब्द ही दे रहा है:—

"एक बार भी तो मुख मुझसे
मोड़ो, मेरे अपने !"

'जा भूल मुझे अब तू उदार !' कहने से क्या होता है, कवि से स्वयं भुलाया न जायगा !

ये बहुत ही भावुक हैं। पर इनकी भावुकता अपनी निजी है किराए की नहीं। रागात्मक कल्पना का सुंदर प्रतिभा के साथ अच्छा योग हुआ है।

श्री रामकुमार वर्मा—इनकी कविता वैराग्य तथा अस्पष्ट निराशावाद की प्रेरणा से प्रस्फुटित हुई। सौंदर्य के अंतर्गत आनेवाले आसौंदर्य, खिले पुष्प के भीतर उसकी मुरझाई हुई अवस्था आदि देखकर आप उदास रहते हैं। इन पंक्तियों में कैसा वैराग्य है:—

"धूल हाय ! बनने ही को खिलता है फूल अनूप।
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहिला रूप।"

*

मेरे दुख में प्रकृति न देती
क्षणभर मेरा साथ
उठा शून्य में रह जाता है,
मेरा भिक्षुक हाथ।"

सौंदर्य के प्रति विरक्ति उत्पन्न करनेवाली ये पंक्तियाँ बहुत प्रसिद्धि पा चुकी हैं:—

"क्या शरीर है ! शुष्क धूल का—
थोड़ा सा छविजाल,
उस छवि में ही छिपा हुआ है
वह भीषण कंकाल।"

हम समझते हैं कि एक न एक दिन जीवन का अंत होगा। पर उस

अंत के पास हम अचानक नहीं पहुँच जाते। प्रतिपल बूँद-बूँद करके जीवन-घट टपकता रहता है। हमारे देखते-देखते हमारा नाश हो रहा है। यही भाव इन पंक्तियों में व्यक्त किया गया है:—

"मेरे आगे ही, मेरे
जीवन का नाश विलास"

इनमें अनेक रूप-विधायिनी तथा प्रस्तुतों को अनेक अप्रस्तुतों के रूप में देखनेवाली कल्पना शक्ति बहुत है। इन कल्पना में बालकों के हृदय का-सा भोलापन रहता है। इनकी कल्पना अद्भुत चमत्कार तथा वैचित्र्य की सृष्टि करके रह जाती है; इस चमत्कार का भाव-धारा के साथ सामंजस्य स्थापित करने नहीं बैठती। एक उदाहरण:—

"और काँच के टुकड़े बिखरा—
कर क्यों पथ के बीच,
भूले हुए पथिक-शशि को दुख—
देता है नभ नीच ?"

नीचे की पंक्तियों में नूरजहाँ का कैसा सुंदर वर्णन हुआ है:—

"कान्तिमती थी मानों शशि किरणों पर तू सोती थी।
राजमहल की सरस सीप में तू जीवित मोती थी।"

कुलीन स्त्रियों के वस्त्र पहनने के ढंग में कुछ विशेषता होती है। उनका संकोच उनकी कुलीनता तथा शील की घोषणा कर देता है। यही भाव इस पंक्ति में है:—

"उसके वस्त्रों में ध्वनि थी वह बाला है सकुलीन।"

आपने बड़े आशाजनक ढंग से काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया है और प्रतिभा को देखते पूर्ण विश्वास होता है कि आप अपने लिए महत्त्व का स्थान बनावेंगे। नीचे की पंक्तियों में एक बाला का कैसा 'बोलता' सा चित्र अंकित हुआ है:—

"बैठ गई वह भू पर कुछ तिरछी-सी धनुषाकार;
केश उलट कर गिरे कपोलों पर झोंके में मुक्त,
आँखें भी हो गईं शीघ्र दो-चार अश्रु से युक्त।"

पंडित मोहनलाल महतो 'वियोगी'—ये बिहार के एक श्रेष्ठ

कवि हैं। आधुनिक युग के अनुकूल सुंदर रचनाएँ कर लेते हैं। श्री रवीन्द्रनाथ को अपना साहित्यिक आदर्श मानते हैं। भाषा सरल तथा प्रसादगुणयुक्त होती है। भावों को व्यक्त करने में क्लिष्ट कल्पना या दूर की सूझ से काम नहीं लिया गया है। सरल परिचित कल्पनाएँ सीधी-सादी भाषा में व्यक्त की गई हैं। प्रायः कल्पनाओं में वैसा चमत्कार या नवीनता नहीं रहती। रचनाओं के विषय प्रेम, करुणा तथा भक्ति हैं। इनके अनुसार आदर्श प्रेम में प्रेमी की दृष्टि प्रिय के दोषों पर नहीं जाती:—

"जिन चरणों से तूने मेरा आशा कुसुम कुचल डाला;
जिन चरणों से ठोकर मार हटाया प्रेम भरा प्याला।
इच्छा होती है उन चरणों को मैं प्यार करूँ जी भर,
पूजा करूँ, लगा लूँ उनकी धूलि हृदय पर आँखों पर।"

मनुष्य की दृष्टि का विस्तार बहुत ही संकुचित है। वह अंधकारपूर्ण अतीत तथा अज्ञात भविष्य के बीच में थोड़े से वर्तमान ही को देख पाता है। यही बात 'जीवन-पुस्तक' नामक रचना में कैसी सुन्दरता से कही गई है:—

"हे मेरे जीवन की पुस्तक! भूतकाल के हे इतिहास।
हे भविष्य की विशद पंजिका! हे विचित्रता के आवास!
कौन अलक्ष्य उँगलियों से नित पृष्ठ उलटता है तेरा,
है सीमित उसका दिखलाना है सीमित पढ़ना मेरा।"

आप कभी-कभी ऐसा गान गाने की भी धमकी देते हैं जिससे लोगों को लेने के देने पड़ जायँगे और संपूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रलय के दृश्य उपस्थित हो जायँगे। ईश्वर करे आप अपना यह गान कुछ काल तक स्थगित रखें:—

"बहे हिमालय गलित मधुज-सा मचे विश्व में हाहाकार
करें शेष फुत्कार और दिग्गज व्याकुल होकर चीत्कार!
स्रष्टा की सब सृष्टि स्वप्न-सा पल में होवे अन्तर्धान;
प्रलयंकर विराट गायक! तू मुझे सिखा दे ऐसा गान!"

श्री भगवतीचरण वर्मा—आपकी रचनाओं पर अँगरेजी तथा उर्दू का अच्छा प्रभाव पड़ा है। अँगरेजी का प्रभाव शब्दों तथा मुहावरों पर

भी लक्षित होता है। 'आह, अनजान शेर अफगान' में 'अनजान' शब्द का भाव अँगरेजी के इनोसेंट (Innocent) शब्द की सहायता से ही लग सकता है। 'नये जीवन का पहला पृष्ठ, देवि तुमने उलटा है आज' में अँगरेजी का मुहावरा स्पंदन कर रहा है। 'आत्म-समर्पण' नामक रचना में मैखाना शबनम इत्यादि भी आए हैं। 'मेरी प्यास' नामक रचना बताती है कि आप 'उमर खैय्याम' पर भी मुग्ध हुए हैं।

आपने कुछ भावनाओं की पुनरुक्ति की है। प्रेमी के हृदय में वियोगाग्नि रहती है तथा नेत्रों में आँसू रहते हैं, इस बात को शब्दों के हेर-फेर से अनेक बार दोहराया गया है। देखिए:—

(क) "मेरे उर में मरु प्रदेश था आँखों में था पानी,
(ख) आहों के जलते शोलों में तुम्हें मिलेगा पानी,
(ग) किन्तु यहाँ उठता रहता है प्रतिपल आगी पानी,
(घ) यहाँ मिलेगी आग, यहीं पर तुम्हें मिलेगा पानी,"

इसी प्रकार 'दृष्टि नीची है ऊँचा माथ' की भी पुनरुक्ति हुई है। आपकी रचनाओं में दार्शनिक विचार भी आए हैं। उनमें वेदान्त की प्रचलित बातें मोटे ढंग से कही गई है:

(क) "क्या हूँ ? इस अनन्त में कण हूँ, मेरा कितना मोल।
पर अनन्त पाओगी मुझमें, अपनी आँखें खोल।
यहाँ देखोगी रूप विराट।
(ख) माया के फेरे में पड़ कर नाच रहा था ज्ञानी।"

आपकी दार्शनिकता पर मुसलमानी सिद्धांतों का प्रभाव लक्षित होता है। मुसलमानों के अनुसार पुनर्जन्म नहीं होता। इस क्षणिक जीवन के पश्चात् मनुष्य को कल्प के अंत तक न्याय दिवस की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यही भाव इन पंक्तियों में आया है:

"कल्प का कल्प अपार
अरे जीवन के दिन दो चार।"

अपनी कवि नामक रचना में कवि को जीवन का दान देनेवाला बताया है। "विश्व को देकर जीवन-दान, कर रहा आशा का संचार,"

परंतु आपने 'बादल' नामक रचना में बड़ी निर्दयता से प्रलय का आह्वान किया है:—

"इस विनाश के महागर्त में डूब जाय संसार।
और लोप हो जावे उसमें कलुषित हाहाकार!
जल ही जल हो, उथल पुथल हो, बनो काल साकार,
बरसो! बरसो! अरे सघन घन, महा प्रलय की धार।"

जब आप 'जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग!' कहते हैं तब तो बुरा मानने की कोई ऐसी बात नहीं प्रतीत होती। पर न जाने संसार से उतने अप्रसन्न क्यों हो गए कि प्रलय मचवाए बिना न मानेंगे। इनकी प्रेमोक्तियों का आलंबन लौकिक है। आप मानते हैं कि 'प्रियतम का सहवास' क्षण भर का होता है। परंतु यदि प्रियतम ईश्वर है तब तो क्षणभर के सहवास का प्रश्न ही नहीं है। उसे पाने में युग लग सकते हैं परंतु एक बार पाकर तो संभवतः उसका सहवास पल-भर से कुछ अधिक काल तक रहता होगा—'युग युग का वियोग पलभर का प्रियतम का सहवास'। आपकी 'नूरजहाँ की कब्र पर' नामक रचना अच्छी हुई है। उसमें आपने उसकी भावना एक हिंदू-रमणी के रूप में की है। विवाह में उसके हाथ भी पीले करवाए हैं तथा उसके माथे पर सुंदर सिंदूर का टीका भी अंकित करवाया है। यह तो कवि की अपनी भावना है। नीचे 'एकांत रोदन' से चार पंक्तियाँ दी जाती हैं:—

"सुख मिलता है व्यथित हृदय को अपनी व्यथा सुनाने में।
स्वयं तड़पने में, सुनने वालों को भी तड़पाने में॥
स्वार्थी विश्व; का न करता है किसी दूसरे की परवाह।
हम हैं रोते—वे हँसते है, उनकी हँसी हमारी आह॥"

श्री गुरुभक्त सिंह 'भक्त'—नागरिक जीवन की जटिलताएँ ग्रामों की रमणीय दृश्यावली से हमको जितना दूर करती जाती है उतना ही उसके प्रति हमारा अनुराग बढ़ता जाता है। 'भक्त' जी का प्रकृति के प्रति अत्यंत अनुराग है। ये प्रकृति के ऊपर अलंकारों इत्यादि की कृत्रि-मता नहीं लादते। वह जैसी है उसे वैसी ही हमारे सामने रख देते हैं। इनके हृदय की सहृदयता इनकी 'चपला' नामक रचना में अवतीर्ण हुई

है। यह रचना हमारे साहित्य में अपने ढंग की अनोखी हुई है। गाँव की उस भोली बालिका को हम कुछ-कुछ इन पंक्तियों में देख सकते हैं:—

"पिता कृषी का काम देखता भाई गऊ चराता था,
डंडा लिए सकल चिन्ता खो बिरहा लोरी गाता था;
यह बाला भी कभी कभी निज खेत देखने जाती थी,
कमला-सम श्यामल समुद्र में बैठी शोभा पाती थी;
उधर चना का खेत खड़ा था अभी जो न कलिआया है,
जिसका कोमल कोमल पत्तों का कोंपल मनभाया है;
उसमें घुसकर आँचल ही में साग सलोना लाती थी,
बहुत सराह लुनाई उसकी बड़े चाव से खाती थी,"

जैसा आपका विषय है वैसी ही भाषा है। परिचित सरल पदावली के प्रयोग से भाषा में अद्भुत भोलापन आ गया है। प्रचलित मुहावरे भी आप अच्छे लाते हैं। इन पंक्तियों में कई मुहावरों की एक साथ कैसी संयत तथा सार्थक योजना हुई है:—

"काना-फूँसी इधर-उधर कर हिला दिया दो डालों को,
आपस ही में रगड़ पड़ गई समझ न पाया चालों को,
आग उठी जब फूँक फूँक तब इधर उधर भी बढ़ा दिया,
हवा बताकर हवा बाँध कर कहाँ न पावक लगा दिया,
सारे वन में आग लग गई जलने लगे वनस्पति सब,
वह,वह करके वाह वाह कर पवन देखता था करतब।"

श्री गोपालसिंह नेपाली—नेपाली होकर भी आपका हिंदी पर अनुराग है। आप प्रकृति-प्रेमी हैं। प्रकृति के मनोरम स्वरूपों की बड़ी सुंदर व्यंजना आपकी रचनाओं में होती है। आपकी रचनाओं में स्वाभाविक कवित्त्व लक्षित होता है। आप से हमारे साहित्य को बड़ी आशा है। हरी घास, पीपल, देहरादून के मधुर बेर, नवीन नेपाल, परिचय आदि रचनाएँ बहुत सफल कृतियाँ हैं। उदाहरण:—

"जितने भी हैं उसमें कोटर
सब पंछी गिलहरियों के घर
सन्ध्या को जब दिन जाता ढल, सूरज चलते हैं अस्ताचल।
कर में समेट किरणें उज्वल

हो जाता है सुनसान लोक, चल पड़ते घर को चील कोक ।
अँधियाली संध्या को विलोक
भर जाता है कोटर कोटर, बस जाते हैं पत्तों के घर,
घर घर में आती नींद उतर
निद्रा ही में होता प्रभात, कट जाती है इस तरह रात
फिर वही बात रे वही बात ।" ('पीपल' से)

* * *

"कितने लाते मंजुल मोती सागर से नित करके प्रयास,
कितने चुनते हैं बालू में हीरे सागर के आस पास,
मैं इन रत्नों के लिए व्यर्थ क्यों दौड़ दौड़ करूँ यत्न
जब ओस बूँद पड़ती ही हैं मेरे आँगन में हरी घास
मुरझा जाते हैं तुरत फूल होते ही कलियों का विकास ।
सारा उपवन का उपवन ही हो जाता है छन में उदास ।
पर सदा रहूँगा जीवन में मुस्काता गाता प्रसन्न ।
ऐसी ही थी वैसी ही है मेरे आँगन में हरी घास ।"
('हरी घास' से)

श्री बालकृष्ण राव—आप देश प्रसिद्ध स्व० श्री 'चिंतामणि' जी के सुपुत्र हैं । अन्य भाषा-भाषी होकर भी आपने हिंदी पर जो अधिकार प्राप्त कर लिया है उसे देखकर आश्चर्य तथा प्रसन्नता होती है । आपकी भाषा सरल स्वाभाविक तथा प्रसादगुणयुक्त होती है । हिंदी के प्रयोगों को विशेषताओं से आप भली-भाँति परिचित हैं । व्याकरण तथा छंदों के नियम का ध्यान रखते हैं । ब्रजवाणी तथा खड़ी बोली दोनों में रचनाएँ कर लेते हैं । आपकी रचनाओं के विषय प्रेम तथा देशभक्ति हैं । प्रकृति के प्रति भी आपके हृदय में अनुराग है, परंतु अभी उसकी ओर अधिक झुके नहीं हैं । आपकी भावनाएँ अत्यन्त मधुर होती हैं । विरहाग्नि में प्रेमी का अहंकार पिघल जाता है । इस भाव को आपने इन पंक्तियों में कैसा व्यक्त किया है:—

"आना यदि चाहता है मिलन ! तो आजा किन्तु,
क्षण भर दुःख मुझे और भी उठाने दे ।
करने दे चिर-स्वर्ग-सुख प्राप्ति हेतु तप,
विरहाग्नि मध्य अपनापन जलाने दे ।"

वियोग से प्रेम की सरसता बढ़ जाती है:—

"प्रेम में सरसता का नाम भी न होता यदि,
होता नहीं विरह में प्रेमी को कलपना।"

'अमर की भावना' शीर्षक मधुर रचना की कुछ पंक्तियाँ देखिए:—

मुझे ले चल वायु वेग वहाँ,
जहाँ प्रीति बुरी कही जाती नहीं।
जहाँ प्रेमी की पागल से समता,
कवियों की कला दिखलाती नहीं॥
खिलती हुई प्रेम-कली जहाँ,
स्नेह के मेंह बिना मुरझाती नहीं।
वहीं ले चल प्रेमी की आँखें जहाँ,
कल पातीं सदा कलपाती नहीं॥"

आपकी ब्रजभाषा पुराने कवियों की भाषा के समान सरस हुई है। एक उदाहरण:—

"मन धीरज धारु कछू अब तौ,
जुपै प्रानपियारे को पावनो है।
अँसुवान के सागर बूड़ि कै आजु,
सनेह के मोती को लावनो है।
अब खानो परैगो अँगार अली,
जब चन्द सों नेह लगावनो है।
मन साहस नैकु न छाँड़ु अरे,
तरवार की धार पै धावनो है॥"

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'—आप सच्ची अनुभूति के एक नवयुवक कवि हैं। रचनाओं का मुख्य विषय करुण रस है। इस विशेष प्रकार की प्रवृत्ति का कारण कवि के जीवन के अभाव तथा निराशाएँ हैं। ऐसे कम ही भाग्यवान प्रेमी होते हैं जिन्हें अपने लक्ष्य में सफलता मिलती है। क्षणिक सुखों के स्वप्नों के पश्चात् अनेकों को आजीवन आँसू ही बहाते रहना पड़ता है। यह प्रेम करुणा में परिवर्तित हो जाता है। 'प्रेमी' जी का प्रेम वासना से त्याग की ओर तथा लौकिक आलंबन से परमात्मा की ओर उन्मुख होता जाता है। ऐसी अवस्था में पहुँचकर वियोगजन्य

विकलता का अंत हो जाता है और प्रिय के दर्शन कण-कण में होने लगते हैं:—

"पत्थर के टुकड़ों में भी तो
मिलता प्रियतम का आभास !
उठा हृदय पर रख लेता हूँ
करता रहे जगत उपहास !"

प्रिय निठुर होकर अपने शरीर को प्रेमी की दृष्टि से ओझल रख सकता है पर अपने ध्यान को उससे नहीं छीन सकता:—

"भागे, क्या भागोगे, निष्ठुर,
पुतली के बन्दी मेरे,
आँखों में ताला देकर मैं,
रक्खूँगा तुम को घेरे !"

इनके जीवन की परिस्थितियों ने इनको निराशावादी बना दिया है:—

"जग के कण-कण से बहता है —
कोई करुणा का संगीत !
कुछ ऐसा लगता है मानों—
जग ही है करुणा का गीत।"

इस निराशा का कारण ये परिस्थितियाँ हैं:—

"तिरस्कार ही के काले-
अंचल में पड़ा हुआ प्राणी-
सुख से सहता हूँ अपमानों-
की मैं सारी मनमानी !"

पर अपनी वेदना अपने ही हृदय में छिपाए रहते हैं। संसार को सुना कर उपेक्षा के पात्र नहीं बनना चाहते:—

"मेरा दुख हत्यारे जग का,
बन जाए न खिलौना सा।
इस भय से उर की कुंजों में,
छिपा रखा मृग छौना सा।"

इस छोटी अवस्था में ही आपकी प्रतिभा देखते हुए भविष्य में अपने साहित्य के लिए बहुत कुछ आशा की जा सकती है।

———

उपसंहार

आज से ९० वर्ष पूर्व राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने 'बनारस अखबार' निकाला था। यद्यपि उसकी लिपि नागरी थी पर भाषा साहित्यिक उर्दू रहती थी। उस समय हमारी भाषा की स्थिति ही ऐसी थी। हिन्दी का भी कोई अपना स्वतंत्र रूप हो सकता है इस बात का अनुमान भी उस समय नहीं किया जा सकता था। बाबू हरिश्चन्द्र जी ने अपने उद्योगों से हिन्दी के स्वतंत्र रूप का प्रतिपादन किया। उनके द्वारा भाषा की जो सेवाएँ हुई उनका कुछ संक्षिप्त दिग्दर्शन हो चुका है। भारतेन्दु का प्रकाश तो साहित्य-गगन में थोड़े ही समय तक रहा, पर उनके महान व्यक्तित्व से उत्पन्न स्फूर्ति के द्वारा अनेक वर्षों तक साहित्य-क्षेत्र में ठोस काम होता रहा। कुछ दिनों के पश्चात् शिथिलता सी आने लगी थी। ऐसे समय में दो महान साहित्य-सेवियों के मैदान में आ जाने से साहित्य का मार्ग फिर प्रशस्त हो चला। ये पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास जी थे। आप दोनों की सेवाओं को हमारे साहित्य में कभी भुलाया नहीं जा सकता है। द्विवेदी जी के उद्योगों का सम्बन्ध प्रयाग की सरस्वती पत्रिका से है। बाबू साहब की सेवाओं का सम्बन्ध काशी नागरीप्रचारिणी सभा से है। द्विवेदी जी बीसों वर्ष तक साधारण जनता को शिष्ट साहित्य के सम्पर्क में लाने में लगे रहे। बाबू साहब नागरी का भव्य प्रासाद निर्माण करने में तथा दूसरों को उत्साहित कर आगे बढ़ाने में लगे रहे। यदि हम यह कहें कि नागरीप्रचारिणी सभा वह प्रकाश स्तम्भ है जिसके उजेले में अनेक साहित्यिकों को अपने मार्ग देखने में सुविधा हुई तो अत्युक्ति न होगी। इस सभा ने अनेक प्राचीन अप्राप्य ग्रंथों की खोज की है। विस्मृत के अन्धकारपूर्ण गर्भ में विलीन होते हुए अनेक कवियों को प्रकाश में लाकर खड़ा किया है। सहस्रों के व्यय से तथा वर्षों के प्रयत्न

से 'हिन्दी शब्दसागर' का निर्माण कराया है। इसकी प्रेरणा से लिखी गई अन्य महत्वपूर्ण पुस्तकें भी हमारे साहित्य के गौरव की वस्तु हैं। पंडित कामताप्रसाद गुरु के द्वारा लिखा व्याकरण हमारी भाषा का एक अकेला व्याकरण है। वैज्ञानिक शब्दों का कोष भी यह सभा निकाल चुकी है। कचहरी आदि में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों का कोष भी निकालने का प्रयत्न हो रहा है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों में सभा लगी हुई है जिनसे लोग परिचित ही हैं। इस सभा के अनुकरण पर अनेक नगरों में हिन्दी-प्रचार को दृष्टि में रखकर सभाओं की स्थापना हुई। प्रयाग की हिन्दी साहित्य-सम्मेलन नाम संस्था का भी हिन्दी प्रचार में बहुत योग रहा है। इसके द्वारा संचालित परीक्षाओं से अनेक विद्यार्थी मातृ-भाषा हिन्दी की सेवा करने को प्रस्तुत हो रहे हैं। प्रतिवर्ष एक सम्मेलन भी इसके नियन्त्रण में होता है। पर अभी तक हिन्दी के उच्च ग्रंथों को पढ़ाने के लिए उच्च कोटि के साहित्यिक विद्यालयों की स्थापना करने में यह सम्मेलन समर्थ नहीं हो पाया है। इसके द्वारा एक 'सम्मेलन-पत्रिका' नामक साहित्य-पत्रिका भी निकलती है। सरकार से पोषित 'हिन्दुस्तानी ऐकेडमी' की सेवाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। यह संस्था हिन्दी तथा उर्दू साहित्यों की समृद्धि में प्रयत्नशील है। इसकी मुखपत्रिका 'हिंदुस्तानी' के अनेक लेख अत्यन्त गवेषणापूर्ण होते हैं। यह उच्च विषयों पर विद्वानों के द्वारा व्याख्यानों की व्यवस्था भी करती है। अनेक विषयों पर पुस्तकें भी प्रकाशित की हैं। साहित्यिक पुस्तकों के अतिरिक्त सौर-विज्ञान आदि पुस्तकें भी इसने प्रकाशित की हैं।

अन्य प्रान्तों में भी हिन्दी-प्रचार का कार्य हो रहा है। पंजाब में हिन्दी प्रचार का कार्य तो बहुत दिनों से चल रहा है पर इधर मद्रास ऐसे सुदूर प्रान्त में भी हिन्दी भाषा का संदेश पहुँच चुका है। अन्य प्रान्तों में भी हिन्दी के पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया है। लाहौर ऐसे नगर में 'भारती' ऐसी साहित्य-पत्रिका को देखकर हिन्दी के बहुत ही उज्ज्वल भविष्य की आशा होती है। फ़िजी ऐसे दूर देशों से भी हिन्दी-पत्र निकलने लगे हैं। लीथो में जब पहले पहल 'बनारस

अखबार' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ होगा तो इसके संचालक क्या समझ सके होंगे कि कुछ वर्षों के पश्चात् अफ्रिका से एक पत्र निकलेगा जिसकी भाषा 'सितारे-हिन्दी-भाषा' की अपेक्षा अधिक शुद्ध हिन्दी होगी। अब हिन्दी राष्ट्रभाषा के गौरवपूर्ण आसन पर प्रतिष्ठित है इसके द्वारा सम्पूर्ण देश के एक सूत्र में बँध जाने की सम्भावना बढ़ रही है। ऊँची-से-ऊँची कक्षाओं में इसका अध्ययन अध्यापन हो रहा है।

साहित्य के प्राचीन अर्थ के अन्तर्गत तो काव्य नाटक आदि का ही समावेश हो सकता है, पर आजकल यह शब्द अँगरेजी के Literature शब्द का पर्यायवाची भी हो चला है। प्रस्तुत पुस्तक का नामकरण करते समय साहित्य का इतना विस्तृत अर्थ नहीं लिया गया है, पर फिर भी अपने साहित्य के अन्य क्षेत्रों का संक्षिप्त दिग्दर्शन अप्रासंगिक न होगा।

रसों, अलङ्कारों और छन्दों पर अनेक पुस्तकें निकलीं और निकल रही है। पर इन विषयों का शास्त्रीय सूक्ष्म विवेचन करने की ओर अभी तक लेखक प्रवृत्त नहीं हुए है। विद्यार्थियों को अलंकार-शास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान कराने में स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी की अलङ्कारमंजूषा ने बहुत काम किया। सेठ अर्जुनदास केडिया की भारती-भूषण तथा सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का काव्य कल्पद्रुम भी सुंदर पुस्तकें हैं। रसों पर अनेक पुस्तकें निकली पर छोटी सी रस-वाटिका नामक पुस्तक में भी जैसा संयत विवेचन मिलता है वैसा पीछे से निकलनेवाली पुस्तकों में कहाँ प्राप्त होता है? छंदों का अध्ययन करने वालों के लिए पंडित जगन्नाथप्रसाद 'भानु' की छंद प्रभाकर पुस्तक उपादेय है।

साहित्य के भी कई इतिहास प्रस्तुत किए गए हैं। 'मिश्रबंधुविनोद' पंडित रामचंद्र शुक्ल के साहित्य के इतिहास तथा रायबहादुर बाबू श्याम-सुंदरदास के 'हिंदी-भाषा और साहित्य' की चर्चा हो चुकी है। बाबूसाहब ने अपनी पुस्तक में हिंदी-भाषा का भी विशिष्ट विवेचन किया है। श्री धीरेंद्र वर्मा ने भी अभी हाल ही में हिंदी-भाषा पर एक सुंदर पुस्तक

लिखी है। भाषा-विज्ञान पर सबसे पहले बाबू श्यामसुंदरदास ही ने पुस्तक लिखी। इसके पश्चात श्री नलिनीमोहन सान्याल तथा श्री मंगलदेव जी शास्त्री की इस विषय पर पुस्तकें निकलीं। हिंदी भाषा को दृष्टि में रखकर बाबू साहब ने ही विवेचन किया है। श्री मंगलदेव जी की पुस्तक में तुलनात्मक भाषाविज्ञान पर लिखा गया है।

इतिहास, राजनीति तथा अर्थशास्त्र पर भी पुस्तकें निकल रहीं हैं। इतिहास की पुस्तकों में स्वतंत्र अन्वेषण, अर्थशास्त्र की पुस्तकों में स्वतंत्र मनन तथा राजनीति की पुस्तकों में अपने देश को दृष्टि में रखकर स्वतंत्र विवेचन का कुछ अभाव ही सा रहता है। यदि रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा के 'राजपूताने का इतिहास' ऐसी पुस्तकें निकलें तो हमारी भाषा वास्तव में गौरवान्वित हो। अर्थशास्त्र पर अनेक पुस्तकें श्री प्राणनाथ विद्यालंकार ने लिखी हैं। प्रोफेसर राधाकृष्ण झा की 'भारत की साम्पत्तिक अवस्था' ऐसी पुस्तकें थोड़े ही दिनों में पुरानी हो जाती हैं। ऐसे विषयों के लेखकों के लिए नवीन-से-नवीन पाठ्य-सामग्री से ग्रंथ को सजाना अत्यंत आवश्यक है। राजनीति पर भी अनेक पुस्तकें निकली हैं जिन्हें हम अँगरेजी पुस्तकों के सिद्धांतों का संग्रहमात्र कह सकते हैं। साम्राज्यवाद पर श्री मुकुदीलाल श्रीवास्तव ने अभी कुछ दिन हुए एक सुंदर पुस्तक लिखी है। श्रीभगवानदास केला ने भी अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। केला जी की तथा इनके सहयोगी की लिखी हुई अर्थशास्त्र-पदावली इस विषय के अन्य लेखकों के लिए अत्यंत उपयोगी है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अनुवाद हमारे प्राचीन राजनीति तथा दंडनीति के सिद्धान्तों का परिचय कराने में उपयोगी सिद्ध होगा।

विज्ञान, वैद्यक, ज्योतिष आदि पर भी पुस्तकें निकल रही हैं। रसायन इत्यादि पर अभी उच्चकोटि की पुस्तकें नहीं निकल पाई हैं। ऐसे विषयों की पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का क्रम अब चल चुका है। श्री हरिदास जी वैद्य का चिकित्सा चंद्रोदय तथा स्वास्थ्य-रक्षा और श्री चतुरसेन शास्त्री का आरोग्य शास्त्र बहुत सुंदर पुस्तकें हैं। चित्रों आदि के द्वारा

इन पुस्तकों की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। वृक्षविज्ञान, वनस्पति-विज्ञान आदि भी अच्छी पुस्तकें हैं।

यात्रा की पुस्तकों में श्री शिवप्रसाद गुप्त की पृथ्वी-प्रदक्षिणा, श्री सत्यदेव जी की यात्रा-संबंधी पुस्तकें, पंडित रामनारायण मिश्र तथा बाबू गौरीशंकर प्रसाद वकील की 'योरोप यात्रा में ६ मास' मुंशी महेशप्रसाद की 'मेरी ईरान यात्रा' आदि मुख्य हैं। यात्रा विषय की अनेक पुस्तकों के अनुवाद भी हुए हैं जिनमें 'तिब्बत में तीन वर्ष' नामक पुस्तक मुख्य है।

पौराणिक तथा ऐतिहासिक महापुरुषों और देश के आधुनिक नेताओं की जीवनियाँ भी लिखी गई हैं। कुछ 'कल्याण मार्ग का पथिक' के समान आत्मजीवनचरित्र के रूप में लिखी गई हैं।

धर्म, वेदान्त, योग इत्यादि पर भी अनेक पुस्तकें निकली हैं। बौद्ध धर्म पर भी हिंदी में अच्छा साहित्य प्रस्तुत हो रहा है। श्री राहुल सांकृत्यायन की 'बुद्धचर्या' बुद्ध भगवान के जीवनचरित्र तथा बुद्धधर्म की मुख्य-मुख्य बातों का अच्छा परिचय देती है। सारनाथ की बौद्ध-धर्म-प्रचारक समिति ने धम्मपद आदि अनेक पुस्तकों के सुंदर तथा सुलभ संस्करण हिंदी अनुवाद सहित निकाले हैं। डा० भगवानदास जी ने समन्वय नामक एक गंभीर आध्यात्मिक पुस्तक लिखी है। श्री गंगाप्रसाद एम० ए० ने आस्तिकवाद, अद्वैतवाद आदि अनेक सुंदर आध्यात्मिक पुस्तकें लिखी हैं।

यह हमारे आधुनिक-हिंदी-साहित्य का संक्षिप्त दिग्दर्शन है। अभी तक बहुत कुछ काम किया जा चुका है। भारत ऐसे महान देश की राष्ट्र-भाषा होने के लिए हिंदी को अपनी समृद्धि के लिए बहुत कुछ करना है।
